विज्ञान
जनवरी-अप्रैल
1994 अंक
मूल्य : 5 रु०
विज्ञान परिषद्-इलाहाबाद

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
जनवरी-अप्रैल 1994; वर्ष 79 अंक 9

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 5 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० डी० डी० नौटियाल
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 बेली एवेन्यू, इलाहाबाद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

अप्रतिम विज्ञान मनीषी डॉ० मेघनाद साहा

डॉ० जय प्रकाश चतुर्वेदी

ढाका के निकट, कनसाई नदी के किनारे शेवड़ातली गाँव में, माँ भुवनेश्वरी की 5वीं सन्तान मेघनाद साहा का जन्म वर्षा के थपेड़ों और बादलों की गड़गड़ाहट के बीच हुआ। पिता जगन्नाथ साहा वलियादी बाजार में किराने की दूकान करते थे। बड़े भाई जयनाथ के प्रयास से उन्होंने मेधावी छात्र के रूप में प्राइमरी शिक्षा ग्रहण की। ढाका से इंट्रेंस और फिर सत्येन्द्रनाथ बोस जैसे सहपाठी के साथ प्रेसिडेन्सी कॉलेज कलकत्ता से गणित में आनर्स परीक्षा उत्तीर्ण की। साइन्स कॉलेज में गणित के प्राध्यापक होने पर उन्होंने जर्मन भाषा एवं भौतिकी के प्रति अपनी रुचि बढ़ाई। 16 जून 1916 में राधारानी राय से विवाह के एक वर्ष बाद डाक्टर ऑव साइन्स की उपाधि ग्रहण की। वे 2 वर्ष तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'खेरा प्रोफेसर', 16 वर्ष तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभागाध्यक्ष तथा 14 वर्ष तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में पालित प्रोफेसर पद पर कार्यरत रहे। इस बीच उन्होंने मैक्सवेल के प्रतिबलों, इलेक्ट्रॉन के गुण-धर्म, क्वाटम सिद्धान्त, विकिरण आदि पर शोधपत्र लिखे और अनेक पुस्तकें लिखीं। उनके द्वारा 'ऊष्मा' पर रचित ग्रन्थ आज भी भौतिकी में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता रखता है। तारों के हारवर्ड वर्गीकरण और स्पेक्ट्रम के उद्भव पर उन्हें 'ग्रिफिथ पारितोषिक' प्राप्त हुआ। सन् 1920 ई० में प्रकाशित लेख 'तापीय आयनीकरण के मौलिक सिद्धान्त के प्रतिपादन' के कारण मेघनाद साहा का नाम खगोल विज्ञान के चिरस्मरणीय मानव-नक्षत्रों में जुड़ गया। उन्होंने इस शताब्दी के तीसरे दशक में यूरोपीय देशों तथा चौथे दशक में अमेरिका की वेधशालाओं एवं शिक्षण संस्थानों की लम्बी यात्राएँ कीं। उन्हें सन् 1927 में 'फेलो ऑव रायल सोसायटी' चुना गया। वे 'इण्डियन साइन्स कॉंग्रेस', 'नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्सेज' के अध्यक्ष भी बने और हमारा 'राष्ट्रीय कलैण्डर' जो कि शक् संवत् पर आधारित है, उन्हीं के विज्ञान सम्मत तर्कों का प्रतिफल है।

आइये, अब हम साहा समीकरण के बारे में कुछ विशिष्ट बातें जान लें, सामान्य रूप से परमाणु के नाभिक में जितने धनावेशित प्रोटॉन होते हैं उतने ही ऋण आवेशित इलेक्ट्रॉन नाभिक के चहुँ ओर निश्चित कक्षाओं में भ्रमण करते रहते हैं। आपस में टकराने, या ऊष्मा ऊर्जा पाकर अथवा किसी अन्य प्रकार की ऊर्जा पाकर ये इलेक्ट्रॉन अन्दर से बाहर की कक्षाओं में आ जाते हैं और पुनः अपनी कक्षा में लौटते समय संग्रहित ऊर्जा अंश का एक भाग उत्सर्जित कर देते हैं। ऊर्जा के उत्सर्जन एवं अवशोषण की क्रिया द्वारा परमाणु का एक सुनिश्चित वर्णक्रम प्राप्त होता है। इस वर्णक्रम को वर्णक्रमदर्शी (स्पेक्ट्रोमीटर) की सहायता से देख सकते हैं। आपने 'इन्द्रधनुष' देखा होगा, यह इन्द्रधनुष सूर्य पर पाये जाने वाले असंख्य अणुओं-परमाणुओं में प्रतिपल हो रहे इलेक्ट्रॉन ऊर्जा-स्तर के परिवर्तन के कारण निकले प्रकाश रूपी ऊर्जा का पानी की बूंदों से बने 'प्रिज्म' द्वारा बिखराया हुआ 'वर्णपट' है जिसे हम अपनी आँख से 'लेंस' के माध्यम से देखकर हर्षित एवं विस्मित होते हैं। सूर्य एवं अन्य तारों के तापमान अधिक होते हैं और जहाँ

ा र अनेक परमाणुओं के बाहरी इलेक्ट्रॉन स्वच्छन्द हो जाते हैं। ऐसे परमाणु जिनमें प्रोटॉन व इलेक्ट्रॉन की संख्या असमान हो 'आयन' कहलाते हैं। परमाणु और उसके आयन के वर्णपाट में भिन्नता पायी जाती है। बहुधा यह भिन्नता स्पेक्ट्रम देखकर बताया जा सकता है कि किसी 'गैस' के कितने प्रतिशत परमाणु 'आयनित' हो गये हैं। यह आयनन की प्रक्रिया परमाणु-क्रमांक, गैस के ताप एवं दाब के साथ-साथ कई अन्य कारणों पर निर्भर करती है। मेघनाद साहा ने विज्ञान में पहिले से प्राप्त सूत्रों के समुचित क्रमबद्ध संकलन से एक नया समीकरण खोजा।

इस समीकरण के बायें पक्ष के अन्तर्गत आयनित एवं उदासीन परमाणुओं की संख्याओं की तुलना की गई है, एवं दायें पक्ष में परमाणुओं के समूह के ताप एवं दाब के साथ परमाणु की आयनन ऊर्जा का समावेश है। साहा के अनुसार उदासीन से आयनित होने एवं आयनित से पुनः उदासीन होने की घटनायें निरन्तर होती रहती हैं, लेकिन व्याप्त भौतिक परिस्थितियोंवश उनमें परिवर्तन की दर भिन्न-भिन्न होती है। उन्होंने रसायनशास्त्र में उपलब्ध 'उत्क्रमणी-क्रियाओं', गतिज ऊर्जा के मान्य ताप-दाब सम्बन्धों का समावेश कर खगोलिकी के लिये महत्वपूर्ण समीकरण प्राप्त किया। साहा के कार्य से पहिले ही हजारों तारों का वर्णक्रम-डाटा उपलब्ध था, उसमें हारवर्ड के खगोलविदों ने एक क्रम का आकलन भी किया था, परन्तु हारवर्ड के क्रम को 'तापीय आधार' पर मजबूती से टिकाने का कार्य मेघनाद साहा द्वारा ही किया गया। 'एस्ट्रोफिजिक्स' के क्षेत्र में साहा का मौलिक योगदान (उनके जीते जी ही) अविस्मरणीय बन चुका है।

बाद में हमारे पृथ्वी के आयन मण्डल के अध्ययन, दीप्ति ज्वालाओं के गहन अध्ययन में साहा के योगदान का उपयोग हुआ है। सूर्य की गर्म सतह और अपेक्षाकृत ठण्डे सूर्य कलंक के बीच का तापान्तर साहा समीकरण सुगमता से बताता है।

मेघनाद साहा इलाहाबाद से कलकत्ता विश्वविद्यालय जुलाई 1938 ई० में पालित प्रोफेसर पद पर गये। सन् 1939-41 के बीच राष्ट्रीय योजना समिति के सदस्य के रूप में देश की नाभिकोय ऊर्जा के अध्ययन और उपयोग के लिये वातावरण बनाते रहे। सन् 1942 में रॉयल सोसायटी' के निमन्त्रण पर पुनः यूरोप गये भारतीय वैज्ञानिकों की टोली के वे एक सक्रिय सदस्य थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान वैज्ञानिकों ने परमाणु और उसके अन्तस में छिपे नाभिक के रहस्यों को ढूंढने का प्रबल प्रयास किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यूरोप में पनपे मूल अनुसन्धानों को अमेरिका में साकार किया गया—परिणाम 'हिरोशिमा एवं नागासाकी' के ध्वस्त होने के साथ-साथ द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ। वैज्ञानिकों ने नाभिक की ऊर्जा को विनाश के स्थान पर मानवोपयोगी विद्युतगृहों के निर्माण में लगाना बेहतर समझा। हमारे देश में नाभिकीय अनुसन्धान हेतु एक अलग संस्थान की महती आवश्यकता को सर्वप्रथम मेघनाद साहा ने ही समझा। इस क्रम में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में 'न्यूक्लियर फिजिक्स' का समावेश रहा जिससे एक टीम का सृजन हुआ। उन्होंने राज्य व केन्द्र सरकारों से अनुदान लेने के साथ-साथ देश के जाने माने उद्योगपतियों से भी आर्थिक सहायता एकत्र की। 21 अप्रैल 1948 को कलकत्ता में 'इन्स्टीट्यूट ऑव न्यूक्लियर फिजिक्स, के जन्म के साथ अवैतनिक निदेशक का दानित्व सम्भाला, प्रोफेसर साहा ने। आज यह संस्थान समूचे विश्व में 'साहा इन्स्टीट्यूट ऑव न्यूक्लियर फिजिक्स' के नाम से जाना जाता है। आज 'वेरिअनिल इनर्जी सिकोट्रोन' इस संस्थान को अलंकरण प्रदान करता है। जैव-भौतिकी एवं अणु-जैविकी के क्षेत्रों में यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का शोधकार्य सम्पन्न होता है।

मेघनाद साहा के अनेकता में एकता वाले बहुआयामी व्यक्तित्व को समझने के लिये मात्र एक उदाहरण पर्याप्त होगा। 1952 ई० में हुये प्रथम लोकसभा चुनाव में उत्तर पश्चिम कलकत्ता निर्वाचन क्षेत्र से स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में प्रचण्ड बहुमत से उनका 'सांसद' चुना जाना और फिर उहुउद्देशीय दामोदर-घाटी परियोजना के स्वप्न को साकार करना। वे भारतीय विश्वविद्यालयों हेतु बने प्रथम आयोग से सक्रिय सदस्य थे। 16 फरवरी 1956 ई० के दिन, टैक्सी से उतर कर बगल में फाइलें दबाये योजना आयोग की ओर बढ़ते हुये उनके कदम एकाएक ठहर गये, वे जमीन पर अचेत होकर गिर पड़े, वाद में विलिंग्डन अस्पताल में उन्हें मृत घोषित किया गया।

आइये हम राष्ट्रवासी प्रोफेसर मेघनाद साहा के जन्म के एक शतक बाद, उनके धरती को खुशहाल बनाते हुये तारों के तापमान छूने के सफल प्रयासों को अपना जीवन उद्देश्य बनायें।

OO

['राष्ट्रीय सहारा' 6-10-93 से साभार]

जन्म-शताब्दी

मेघनाद साहा शेवड़ातली से सितारों तक

नवीन कुमार बाजपेयी

बांगलादेश तब केवल बंगाल था। उसके ढाका जिले में कनसाह नदी के किनारे के एक छोटे से गाँव शेवड़ातली में 6 अक्टूबर, 1893 को मेघनाद साहा का जन्म हुआ। मेघनाद के पिता जगन्नाथ साहा का छोटा-मोटा किराने का व्यापार था और वह चाहते थे कि मेघनाद उनके व्यापार में हाथ बटाये और दूकान चलाने में मदद करे ताकि घर का खर्च चल सके। लेकिन मेघनाद पढ़ना चाहता था। उसके बड़े भाई जयनाथ ने उसकी बात सुनी और प्राथमिक पाठशाला में उसका नाम लिखवा दिया। मेघनाद तब 7 वर्ष का था। उसके अध्यापक उसकी पढ़ने की रुचि और प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए और आगे पढ़ाने की राय दी, पर घर की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि पढ़ने के लिये फीस और रहने खाने के खर्च की व्यवस्था की जा सके। तब एक डॉक्टर परिवार ने मेघनाद को अपने घर में रहने की जगह दी। वह उनके घरेलू काम में मदद करता और उनकी गाय की देख भाल भी करता था। माध्यमिक परीक्षा में वह प्रथम आया। आगे पढ़ने के लिये उसे ढाका भेज दिया गया। बड़े भाई द्वारा भेजे हुए थोड़े से पैसों में उसने इंट्रेंस की पढ़ाई शुरू की।

उन्हीं दिनों स्वदेशी आन्दोलन शुरू हुआ। मेघनाद के कॉलेज में ब्रिटिश गवर्नर को आना था। कुछ छात्रों ने देशभक्ति की भावना से गवर्नर का बहिष्कार किया जिसमें साहा भी शामिल थे। इस घटना के बाद उन्हें कॉलेज से निकाल दिया गया। लेकिन, उनकी प्रतिभा के कारण एक निजी कॉलेज ने उन्हें अपने यहाँ प्रवेश दिया और छात्र-वृत्ति भी दी। इंट्रेंस परीक्षा का परिणाम निकला तो मेघनाद ने पूरे पूर्वी बंगाल में प्रथम श्रेणी के साथ प्रथम स्थान

द्वारा श्री हरिशंकर बाजपेयी, एडवोकेट, कोर्ट कम्पाउण्ड, उन्नाव-209801, उ० प्र०

प्राप्त किया। उसके बाद मेघनाद ने 1909 में ढाका कॉलेज में विज्ञान विषयों के साथ इण्टरमीडिएट में प्रवेश लिया और प्रथम श्रेणी प्राप्त की। उच्च शिक्षा के लिये मेघनाद साहा ने 1911 में कलकत्ता के प्रसिद्ध प्रेसिडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया। बी० एस-सी आनर्स (गणित) में उन्हे फिर प्रथम श्रेणी मिली। उन्हें प्रख्यात वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बसु भौतिकी और प्रफुल्ल चन्द्र रे रसायन विज्ञान पढ़ाते थे। प्रेसिडेंसी कॉलेज से ही उन्होंने सम्मिश्र गणित प्रथम श्रेणी में एम० एस-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण की।

छात्र जीवन में मेघनाद को जातीय भेद के कटु अनुभव हुए जिन्होंने उनके विचारों पर गहरा असर डाला। कहते हैं एक बार सरस्वती पूजा के अवसर पर उन्हें मंच से इस कारण उतार दिया गया कि वे उच्च जाति वर्ग के नहीं हैं। प्रेसीडेंसी कॉलेज में भी जब वे छात्रावास में रहते थे तो उच्च जाति वर्ग के छात्र उन्हें अपने साथ खाना नहीं खाने देते थे। उन्होंने वेदों व अन्य धर्म-ग्रन्थों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया और विश्लेषण करके अपने विचारों को परिमार्जित किया। वे जातीय भेद और धार्मिक अंधविश्वासों के खिलाफ थे।

एम० एस-सी० करने के बाद मेघनाद साहा ने घर की आर्थिक स्थिति को देखते हुए वित्तीय सेवा में जाने का निश्चय किया लेकिन गवर्नर का स्कूल में बहिष्कार और सुभाष चन्द्र बोस, पुलिन दास तथा बाधा जातिन दास जैसे क्रान्तिकारियों से उनकी घनिष्ठता के कारण उनका आवेदन-पत्र स्वीकार नहीं किया गया।

अध्यापन और अनुसंधान

तभी मेघनाद साहा को कलकत्ता विश्वविद्यालय के गणित विभाग में प्राध्यापक का पद मिल गया। लेकिन, गणित विभाग में प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण वे भौतिकी विभाग में चले गये। उन्होंने भौतिकी विभाग के सीमित उपकरणों से ही अपना अनुसंधान कार्य शुरू कर दिया। उन्होंने भौतिकी की नवीनतम शाखाओं का गम्भीर अध्ययन करना शुरू कर दिया, और अपने छात्रों को इन विषयों की नवीनतम जानकारी देने लगे। सापेक्षता, परमाणु सिद्धान्त, ऊष्मा गतिकी आदि ऐसे ही विषय थे। अपने सहयोगी सत्येन्द्र नाथ बोस के साथ मिलकर उन्होंने आइंस्टीन के 'सापेक्षता सिद्धान्त' का पहली बार अँग्रेजी में अनुवाद किया, जिसे कलकत्ता विश्वविद्यालय ने 1919 में प्रकाशित किया। उसी दौरान उन्होंने प्रकाश के दबाव, इलेक्ट्रॉनों का यान्त्रिक तथा विद्युत् गतिक स्वभाव, इलेक्ट्रॉन गतिकी, विकिरण दाब और क्वांटम सिद्धांत आदि पर अनेक अनुसंधान निबन्ध लिखे। 1919 में उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय ने "डॉक्टर ऑव साइंस" की उपाधि प्रदान की। उसी वर्ष उन्हें तारों के वर्णक्रम से सम्बन्धित अपने शोध प्रबन्ध पर "प्रेमचन्द्र रायचन्द छात्रवृत्ति" मिली। अगले वर्ष तारों के वर्ण क्रम में रेखाओं का उद्भव शोध निबन्ध पर उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय ने "ग्रिफिथ मेमोरियल पुरस्कार" दिया। सूर्य किरीट के आयनीकरण, सूर्य में विद्यमान तत्वों, तारो के हार्वर्ड वर्गीकरण आदि पर उनके अनुसन्धान आलेख काफी चर्चित हुए।

साहा समीकरण

इसी बीच उन्होंने तापीय आयनीकरण का अपना समीकरण सामने रखा। यह खगोल भौतिकी के क्षेत्र में बिलकुल नया विचार था और इससे उन्हें विश्व भर में ख्याति मिली। तब उनकी उम्र केवल 26 वर्ष थी।

इसमें =सकलदाब, =आयनित परमाणु, =आयनित ऊष्मा=सार्वभौम गैस नियतांक
और =केल्विन मात्रक

साहा ने इस समीकरण से सिद्ध किया कि आयनीकरण पर दाब का भारी प्रभाव पड़ता है। उन्होंने यह भी साबित किया कि सूर्य के वर्णक्रम में अधिकतम ताप वाले स्तर कैल्सियम, बेरियम, स्ट्रांसियम, स्कैंडियम, टाइटेनियम और लोहे के आयनित परमाणुओं के कारण हैं। साहा समीकरण से तारों के वर्णक्रम का विश्लेषण करके उनकी भौतिक दशाओं और उनमें मौजूद तत्वों का पता लगाना सम्भव हो गया। तारों के तापमान और वायुमण्डलीय दाब में अन्तर का पता मेघनाद साहा ने अपने समीकरण से 1920 में लगा लिया था। उसके बाद इस विषय पर जो भी व्याख्यायें प्रस्तुत की गयीं उनका आधार साहा समीकरण ही रहा। साहा की यह खोज खगोल भौमिकी की अब तक की 12वीं सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज मानी जाती है।

खगोल भौतिकी के अलावा साहा समीकरण का प्रयोग आगे चलकर आयन मण्डल, ज्वालाओं की सुचालकता, विद्युत् आर्क तथा विस्फोट के सिद्धान्त में भी हुआ।

विदेश यात्रा

अपने समीकरण की सत्यता सिद्ध करने के लिये साहा ने यूरोप की यात्रा की। वहाँ वे प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर अलबर्ट फाउलर से मिले और उनकी प्रयोगशाला में काम करने की इच्छा व्यक्त की। उन्हें अनुमति मिल गई। प्रोफेसर फाउलर का कहना था कि 1859 में गुस्लावे राबर्ट किरचौफ द्वारा सूर्य के वर्णक्रम में काली और चमकीली रेखाओं की खोज के बाद साहा समीकरण सबसे महत्वपूर्ण खोज थी। उनके सुझाव पर साहा ने जर्मनी जाकर प्रोफेसर नेन्स्टर्ट के साथ मिलकर अपने समीकरण की सत्यता पर खोज की। वहाँ वे विश्वविद्यालय वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन और मैक्स प्लैंक से भी मिले। भारत लौटकर वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर बने। 1921 से 1923 तक वे इस पद पर रहे। उसके बाद उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालब में भौतिकी विभाग को सवांरा और उसकी प्रयोगशाला को उपकरणों से सुसज्जित किया किया। उन्होंने स्वयं वर्णक्रम पर महत्वपूर्ण अध्ययन किया। तापीय आयनीकरण और खगोल भौतिकी पर उनका अनुसंधान कार्य चलता रहा। उन्होंने 1926 में 'भारतीय साइंस कांग्रेस' के भौतिकी तथा गणित के सत्रों की अध्यक्षता की।

1927 में मेघनाद साहा 'रॉयल सोसाइटी' के फैलो चुन लिये गये। उन्हें यह सम्मान 34 वर्ष की आयु में मिला।

इलाहाबाद में रहकर उन्होंने उ० प्र० विज्ञान अकादमी की स्थापना की। 1934 में इसका नाम "राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी" रख दिया गया। जब वे 1934 में बम्बई में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष बने तो उसमें उन्होंने भारतीय विज्ञान अकादमी के गठन का सुझाव दिया। उनके प्रयासों से 1935 में राष्ट्रीय विज्ञान संस्थान की स्थापना हुई। वे 1937-38 में उसके अध्यक्ष रहे। आज वही संस्थान—"भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी" चुका है।

उन्हीं दिनों अपने एक अनुसंधान निबंध में उन्होंने बताया कि अगर वायुमण्डल की ओजोन परत के ऊपर सूर्य प्रकाश के वर्णक्रम का अध्ययन किया जाय तो उसमें हाइड्रोजन की लाइमन रेखायें दिखाई देंगी। वर्षों बाद वी-2 राकेट से अध्ययन करने पर उनकी यह बात सही साबित हो गई।

वापस कलकत्ता

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में राजनीति में उभार आने पर मेघनाद साहा 1938 में वापस कलकत्ता चले गये और वहाँ उन्होंने प्रोफेसर का पद सँभाला। जनवरी 1939 में प्रो० आटोहान ने परमाणु विखण्डन की खोज कर ली थी। साहा ने यूरोप और अमेरिका में परमाणु शक्ति पर गम्भीरतापूर्वक की जा रही खोजों को ध्यान में रखते हुए इस विषय के महत्व को समझा और तुरन्त कलकत्ता विश्वविद्यालय से पाठ्यक्रम में नाभिकीय भौतिकी को शामिल करा लिया। इस तरह देश में पहली बार नाभिकीय भौतिकी का विधिवत अध्ययन शुरू हुआ। उन्होंने क्वांटम यांत्रिकी विषय भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया और भौतिकी विभाग में कॉस्मिक किरणों और रेडियो तरंगों पर भी अनुसंधान कार्य शुरू कराया। परमाणु शक्ति के अध्ययन के लिये वे अमेरिका के बरकले विश्वविद्यालय के समान साइक्लोट्रॉन लगाना चाहते थे लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के वातावरण और ऊँची कीमत को देखते हुए यह केवल सपना लगता था। तब वे नेहरू से मिले। उन्हें परमाणु ऊर्जा की असीम सम्भावनाओं के बारे में बताया। तब नेहरू ने टाटा प्रतिष्ठानों को साइक्लोट्रॉन प्रयोगशाला स्थापित करने के लिए तैयार कर लिया। साइक्लोट्रॉन की इकाइयों का आयात किया गया। लेकिन निर्वात यंत्र की एक महत्वपूर्ण इकाई न आ सकी। तब साहा ने वैज्ञानिक एवं अनुसंधान परिषद् से इसे प्रयोगशाला में बनाने के लिए धन की व्यवस्था करने का अनुरोध किया।

विदेशी प्रयोगशालाओं में

1944 में मेघनाद साहा भारतीय वैज्ञानिकों के एक दल के साथ इंग्लैंड, कनाडा और अमेरिका की प्रयोगशालाओं के भ्रमण पर गये। अगले वर्ष 1945 में जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों में परमाणु बम की विनाशलीला मे सारा विश्व स्तब्ध रह गया। परमाणु शक्ति के शांतिपूर्ण उपयोगों की उससे भी बड़ी सम्भावना पर गहन अनुसंधान के लिये साहा एक अलग और अत्याधुनिक उपकरणों से सुसज्जित संस्थान की स्थापना करना चाहते थे। उनके अथक प्रयासों से कलकत्ता में 21 अप्रैल, 1938 को "नाभिकीय भौतिकी संस्थान" की स्थापना हुई, जिसका विधिवत उद्घाटन 11 जनवरी, 1950 को सुप्रसिद्ध 'नोबेल पुरस्कार' विजेता क्यूरी दम्पति की सुपुत्री और नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक आइरीन जोलिया क्यूरी ने किया। मेघनाद साहा जीवन भर इस संस्थान के अवैतनिक निदेशक रहे। उनके निधन के बाद संस्थान का नाम "साहा नाभिकीय भौतिकी संस्थान" रख दिया गया। साहा ने इस संस्थान में नाभिकीय भौतिकी, न्यूट्रॉन भौतिकी, नाभिकीय रसायन कण, त्वरित्र आदि क्षेत्रों में गहन अनुसंधान प्रारम्भ कराने के साथ-साथ स्नातकोत्तर अध्ययन-अध्यापन भी शुरू किया। वे 1948 में डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित शिक्षा आयोग के सदस्य रहे और 1952 में "भारतीय विज्ञान संवर्धन परिषद्" के पूर्णकालिक निदेशक बने।

मेघनाद साहा देश के औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास के पक्षधर थे। उन्होंने पंडित नेहरू को वैज्ञानिक आधार पर देश की विकास योजना बनाने के लिए अपने सुझाव दिये। वे गाँधी जी के खादी और चरखे पर विकास की बात से बिलकुल सहमत नहीं थे और "पुनः गाँवों की ओर" का उनका आवाहन साहा को विकास की राह पर पीछे की ओर चलना लगता था। वे देश को औद्योगिक क्रांति से विकसित देशों के समान आगे बढ़ाने पर जोर देते थे। संसद में उन्होंने अपनी बात पूरे दम-खम के साथ रखी। वे स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में 1952 से 1956 तक संसद सदस्य रहे। 10 मई, 1954 को उन्हीं के प्रयास से संसद में परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोगों पर बहस शुरू

हुई, जिसमें उन्होंने देश में परमाणु ऊर्जा के विकास के लिए अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये। उन्होंने संसद में देश की प्रयोगशालाओं को आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित करने तथा पुस्तकालयों को समृद्ध करने के बारे में आवाज उठायी।

कलैण्डर सुधार

उन्होंने पंचांगों और प्राचीन सभ्यताओं की कालगणना की पद्धति का गहन अध्ययन किया और पाया कि हमारे पंचांगों में बहुत अन्तर है। 1952 में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के कलैंडर सुधार समिति का गठन किया गया, जिसके वे अध्यक्ष बनाये गये। समिति ने राष्ट्रीय कलैंडर में "शक् सम्वत्" के प्रयोग की संस्तुति की और सुझाव दिया कि वर्ष का प्रारम्भ वसंत अर्थात् 22 मार्च के अगले दिन से होना चाहिये। सामान्य वर्ष 365 दिन और लीप वर्ष 366 दिन और चैत्र को वर्ष का प्रथम माह मानने की संस्तुति की गई। चैत्र से भाद्र तक माह में 31 दिन और शेष महीनों में 30 दिन का सुझाव दिया।

साहा ने बचपन से अपने गाँव की कनसाई नदी के तेवर देखे थे। बाद में उन्होंने दामोदर नदी की बाढ़ की विभीषिका भी देखी। वे अपने प्रोफेसर प्रफुल्ल चन्द्र रे के साथ दामोदर नदी की बाढ़ से हुई विनाशलीला के दौरान राहत कार्य में सहयोग देने गये। नदियों की शक्ति का उन्हें, अहसास हुआ। उन्होंने अमेरिका की टेनेसी नदी घाटी योजना का उदाहरण देते हुए कहा कि हमें भी अपने देश की नदियों की जल-शक्ति का दोहन करना चाहिये। उनके विचारों और प्रयासों से नदी घाटी परियोजनायें शुरू हुयीं और हीराकुंड, भाखड़ा नांगल, रिहन्द आदि बाँधों के रूप में यह सपना साकार हुआ है। साहा सरल, सहृदय और साहसी वैज्ञानिक थे। वह अपने गाँव और बचपन के दिन कभी नहीं भूले। इसीलिये उनका घर सदा छात्रों और अन्य लोगों के लिये खुला रहता था। वे निर्धन छात्रों और आत्म निर्भर बनने के इच्छुक अंजान लोगों की भी आर्थिक सहायता करते रहे। साहा कहते थे कि "मेहनत से काम करते रहें, एक दिन मान्यता जरूर मिलेगी।" वे कहते थे—"मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माण करता है।" स्वयं भी तो अपने भाग्य का निर्माण करके शेवड़ातली के छोटे से गाँव से आकर विश्व भर में ख्याति अर्जित की।

OO

प्रोफेसर मेघनाद साहा

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

प्रोफेसर मेघनाद साहा विश्व के बीसवीं शती के उन महान वैज्ञानिकों में हैं जो भौतिकी में अपने योगदान के लिए सदैव याद किये जायेंगे। तारा, परमाणु और आयन साहा के अध्ययन के मुख्य विषय रहे हैं। इन विषयों पर अध्ययन करने वाला कोई अन्य वैज्ञानिक सम्भवत: राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा से कटा हुआ प्रयोगशालाओं के भीतर ही अनुसंधान करता रहता किन्तु साहा उन गिने-चुने वैज्ञानिकों में हैं, जिन्होंने विज्ञान की प्रयोगशालाओं के बाहर आकर अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की छाप राष्ट्र पर छोड़ी है। यह सच है कि साहा के तारों और परमाणुओं का सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन से बहुत दूर का लगता हैं किन्तु उनके आयनीकरण सिद्धान्त के अनेक उपयोग हमारी रोजाना की जिंदगी से जुड़े हुये हैं। उदाहरण के लिए रेडियो लहरों का प्रेक्षण, ज्वालाओं का संवहन, चापों और विस्फोटक प्रतिक्रियाओं का निर्माण आदि।

कांटों भरा बचपन

मेघनाद साहा का जन्म पूर्वी बंगाल के शेवड़ातली नामक गाँव में ढाका से 45 किलोमीटर दूर एक निर्धन दूकानदार के घर हुआ था। आठ बच्चों में मेघनाद पाँचवें पुत्र थे। पिता जगन्नाथ की किराने की एक छोटी दूकान थी जिस पर इनके बड़े भाई भी बैठते थे। एक और भाई ने बाद में दवा की एक छोटी सी दूकान खोल ली। इनके पिता अर्थाभाव के कारण यही चाहते थे कि मेघनाद किराने की दूकान पर बैठें किन्तु बालक की प्रखर बुद्धि के कारण उनके अध्यापक यह चाहते थे कि उन्हें आगे की पढ़ाई के लिये ढाका भेजा जाय। पिता के पास न तो साधन था और ना ही इच्छा। किन्तु बड़े भाई जयनाथ चाहते थे कि मेघनाद की शिक्षा जारी रहे। यदि मेघनाद को इस समय प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त होने के बाद ढाका न भेजा जाता तो सम्भवत: भारत एक महान वैज्ञानिक की प्रतिभा के लाभ से वंचित रह गया होता।

पहले तो उनका प्रवेश घर से 12 किलोमीटर दूर एक अँग्रेजी स्कूल में हुआ। बाद में 1905 में 12 वर्ष की वय में ढाका कॉलेज में प्रवेश के लिए स्कॉलरशिप मिल गई। किन्तु इसी वर्ष बंगाल के विभाजन के समय गवर्नर के आगमन का बहिष्कार करने पर उन्हें कॉलेज से निष्कासित कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मेघनाद में देश-प्रेम की भावना का अंकुरण बचपन में ही हो गया था। इस कारण शिक्षा के लिए मेघनाद ने एक छोटे गैर-सरकारी स्कूल में प्रवेश लिया और प्रथम आने के बाद ढाका कॉलेज में 16 वर्ष की उम्र में विज्ञान की विधिवत् शिक्षा के लिए उन्हें प्रवेश मिल गया। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बालक मेघनाद न तो आर्थिक कठिनाइयों

सम्पादक, विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

और न ही अन्य मुसीबतों से हतोत्साहित हुए। दो वर्ष बाद बी० एस-सी० के लिए उन्होंने प्रेसिडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता में प्रवेश लिया। यहाँ के हॉस्टल में उन्हें एस० एन० बोस, जे० सी० घोष, एन० आर० सेन, जे० एन० मलिक, एन० आर० धर जैसे मेधावी छात्रों का साथ मिला। एन० आर० धर मेघनाद से दो वर्ष आगे थे और पी० सी० महालनोबिस एक वर्ष आगे थे। ये सभी विद्यार्थी आगे चलकर प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुए। यहाँ साहा ने बी० एस-सी० आनर्स और एम० एस-सी० में गणित ले रखा था। उस समय यहाँ पी० सी० रे और जगदीश चन्द्र बसु जैसे लोग अध्यापक थे। इसी समय मेघनाद का परिचय राजेन्द्र प्रसाद और सुभाष बोस से भी हुआ जो बाद में भारत के राजनीतिक क्षितिज पर छा गये थे। इसलिए मेघनाद साहा के बहुआयामी व्यक्तित्व में यदि एक सफल अध्यापक, वैज्ञानिक और राजनीतिक नेता के गुणों का समावेश था तो इसमें आश्चर्य क्या ?

राजनीतिक क्रान्तिकारियों से सम्पर्क के कारण 1915 में साहा को इण्डियन फाइनेन्स सर्विस परीक्षाओं में बैठने की अनुमति नहीं मिली किन्तु 1915 में ही सर अशुतोष मुकर्जी, जो उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे, ने मेघनाद साहा को साइन्स कॉलेज में थर्मोडाइनेमिक्स पढ़ाने के लिए नियुक्त कर लिया।

साहा ख्याति की ओर

साहा का प्रथम शोधपत्र 1917 में 'फिलॉसोफिकल मैगजीन' में प्रकाशित हुआ। 1918 में एस० एन० बोस के साथ प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाइन की थियरी का अनुवाद पुस्तक के रूप में 'प्रिंसिपिल्स ऑव रिलेटिविटी' नाम से हुआ। साहा ने शिकागो विश्लविद्यालय के 'ऐस्ट्रोफिजिकल जनरल' में शोधनिबन्ध प्रकाशित किये। ऑक्सफोर्ड के ए० ई० मिल्ने ने लिखा है कि उन्हें अपने शोध कार्य में साहा के मूल विचारों से प्रेरणा मिली है। 1920 में 'फिलॉसो-फिकल मैगजीन' में उन्होंने प्रसिद्ध 'साहा समीकरण' की व्याख्या की।

साहा को कलकत्ता विश्वविद्यालय ने डी० एस-सी० डिग्री से सम्मानित किया और 2 वर्ष तक जर्मनी और लन्दन में रिसर्च के लिए दो स्कालरशिपें प्रदान कीं। साहा ने इम्पीरियल कॉलेज, लन्दन में ए० फाउलर के साथ काम किया। इस समय साहा के मित्र जे० सी० घोष और जे० एन० मुकर्जी प्रोफेसर एफ० जी० डोनान के निर्देशन में फिजिकल केमिस्ट्री में शोध कर रहे थे। यहीं साहा की भेंट शान्ति स्वरूप भटनागर से हुई जिन्होंने बाद में 'कौंसिल ऑव साइन्टिफिक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च' का 1942 में संगठन किया। फाउलर के साथ साहा ने 'स्टेलर स्पेक्ट्रॉस्कोपी' पर कार्य किया। इसी समय साहा कैम्ब्रिज के जे० जे० थामसन, बर्लिन के नर्स्ट, आइन्सआइन, प्लैंक और सोमरफील्ड जैसे वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आये। 1921 में साहा को कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के नये प्रोफेसर का पद मिल गया जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। यहाँ साहा को शोध की सुविधा नहीं थी इस कारण वह एन० आर० धर के निमन्त्रण पर 1923 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होकर चले आये। उस समय विश्वविद्यालय में केवल 120 स्नातक छात्र थे। अनुसन्धान कार्य की सुविधा नहीं थी किन्तु साहा ने पढ़ाने के साथ ही साथ पुस्तकालय और प्रयोगशाला को अनुसन्धान कार्य के योग्य बनाया और अपने आयनीकरण सिद्धान्त पर प्रयोग किये। 1927 में साहा 'रॉयल सोसाइटी के फेलो' (FRS) चुन लिये गये। 1927 में ही वह बर्लिन और कोपेनहागेन गये जहाँ उनकी मुलाकात ई० ओ० लारेन्स से हुई जिन्होंने बाद में साहा की मदद एक 'साइक्लोट्रॉन' के कलकत्ता में साहा की प्रयोगशाला में लाने में की। 1928 में इलाहाबाद वापस आने के बाद उन्होंने स्पेक्ट्रॉस्कोपिक रिसर्च के लिए उपकरण जुटाना प्रारम्भ कर दिया (लगभग उसी तरह के काम के लिये जिस पर 1930 में सी० वी० रामन को

'नोबेल पुरस्कार' मिला)। सीमित साधनों के बावजूद साहा कुछ मेधावी छात्रों को विज्ञान की दुनिया में रोके रहने में सफल हो गये जो सम्भवत: प्रशासनिक सेवाओं में चले जाते। 1931 तक विज्ञान के क्षेत्र में साहा की भूमिका तय हो चुकी थी। 1931 में साहा को लन्दन की 'रॉयल सोसाइटी' ने उपकरणों के लिए डेढ़ हजार पौण्ड का ग्रांट दिया किन्तु भारत सरकार से उपयुक्त धनराशि न मिल सकी। वास्तविकता तो यह है कि उस समय के अँग्रेजी शासन ने कभी भी ठीक ढँग से वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए धन नहीं दिया। इसी वर्ष साहा की पुस्तक 'ट्रीटीज ऑन हीट' प्रकाशित हुई जिसके बाद में कई संस्करण छपे।

साहा का राष्ट्रीय प्रभाव

1923-38 तक इलाहाबाद में रहते हुए साहा ने विज्ञान को राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावित किया। यहाँ उन्होंने अनुसन्धान का एक सक्रिय दल तैयार किया। कलकत्ता में एक होमियोपैथिक डॉक्टर महेन्द्र लाल सरकार द्वारा 1876 में गठित 'इण्डियन एसोसियेशन फॉर द कल्टीवेशन ऑव साइन्स' नामक संस्था में भी उन्होंने विशेष रुचि ली। सरकार के अर्थ विभाग में कार्य करते हुए भी रामन 1906 से ही इस संस्था के साधारण सदस्य थे। यहाँ के विज्ञान के उपकरणों का उपयोग वह अपने अनुसन्धान के लिए करते थे। 1917 में 'पालित प्रोफेसर' हो जाने के बाद तो वह संस्था के भवन में ही प्रयोग करने लगे थे। धीरे-धीरे रामन संस्था के संचालन पर हावी हो गये। जिसे रामन चाहते थे वही इस संस्था का सदस्य हो सकता था। वैज्ञानिक इससे क्षुब्ध थे। साहा ने सी० वी० रामन का विरोध किया जिसके कारण रामन कलकत्ता छोड़कर बैंगलोर की विज्ञान की संस्था, इण्डियन इंस्टीट्यूट के भारतीय निदेशक होकर चले गये। यह बात 1933 की है। रामन ने अपने जीवन के 26 वर्ष कलकत्ता में बिताये थे। साहा का प्रभाव बढ़ गया और 1943 के बाद तो साहा 'इण्डियन एसोसियेशन फॉर द कल्टीवेशन ऑव साइंस' संस्था के सर्वेसर्वा हो गये। 1946 में साहा इसके अध्यक्ष हुए और इस संस्था के लिए एक नये भवन का निर्माण कराया।

इण्डियन इंस्टीट्यूट, बैंगलोर के लिए एक जाँच समिति कठित की गई। साहा इसके सदस्य थे। इस जाँच समिति की रिपोर्ट के आधार पर रामन को 1938 में यहाँ से हटना पड़ा जहाँ वे पाँच वर्ष तक थे। साहा ने सदैव रामन के कार्य करने के ढँग का विरोध किया। सी० वी० रामन जैसे ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक के विरोध के बावजूद साहा की ख्याति बढ़ी ही, घटी नहीं।

विज्ञान की अकादमियों की स्थापना

1930 तक 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस एसोसियेशन' बहुत बड़ी संस्था हो गई थी। साहा ने स्थानीय आधार पर 1930 में 'यूनाइटेड प्राविन्सेज अकादमी ऑव साइन्सेज' की स्थापना की, किन्तु इसके सदस्य पूरे भारत से हो सकते थे। बाद में साहा ने इसका नाम बदल कर 'नेशनल एकेडेमी ऑव साइन्सेज' रख दिया। 1935 में साहा ने 'साइन्स एण्ड कल्चर' नामक शोधपत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस शोधपत्रिका के माध्यम से साहा अपने विचारों को व्यक्त करने लगे। इससे राजनीतिज्ञ भी प्रभावित हुए और फलस्वरूप साहा 1938 में 'राष्ट्रीय योजना आयोग' के सदस्य बनाये गये।

1936 में साहा का परिचय जर्मनी में सोमरफील्ड और वोर से हुआ। इसी समय वे सर्वप्रथम भाभा से मिले तथा इसी यात्रा के दौरान अमेरिका भी गये। साहा सम्भवत: अधिक सक्रिय रूप से विज्ञान की सेवा करने के

लिए 1937 में इलाहाबाद वापस आये किन्तु 1937 में सर जगदीश चन्द्र बसु के निधन के बाद जब डी० एम० बोस, 'बोस इंस्टीट्यूट' के निदेशक हो गये तो 1938 में मेघनाद साहा उनके स्थान पर कलकत्ता में प्रोफेसर होकर चले गये। यहां साहा सुभाष चन्द्र बोस जैसे राजनीतिक नेताओं के सम्पर्क में आये और देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये भी विचार.विमर्श किया। नेहरू और साहा के विचारों में मतभेद था फिर भी साहा को रिसर्च के लिये आर्थिक सहायता मिलने में (1941, 1947 और 1948) नेहरू का हाथ था। इस प्रकार साहा अपनी साइक्लोट्रॉन प्रयोगशाला की स्थापना में सफल हो गये।

1947 में साहा 'इंस्टीट्यूट ऑव न्यूक्लियर फिजिक्स' की स्थापना के लिए 6,20,000 रुपये एकत्र करने में सफल हो गये। अप्रैल 1948 में श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने इस भवन का शिलान्यास किया। 1950 में साहा 1,20,000 रुपये प्राप्त करने में सफल हुए और जनवरी 1950 में इंस्टीट्यूट का उद्घाटन प्रोफेसर जोलिअट क्यूरी द्वारा हुआ। जुलाई 1951 से इंस्टीट्यूट में एम० एस-सी० की कक्षायें प्रारम्भ हो गयीं। पालित प्रयोगशाला (बायोफिजिक्स) में 1948 में इलेक्ट्रॉन माइक्रॉस्कोप बनाया गया। इसी प्रयोगशाला में कॉस्मिक किरणों पर 1938 में अनुसन्धान प्रारम्भ हो गया।

प्रयोगशाला से लोकसभा की ओर

1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सुभाष चन्द्र बोस के भ्राता शरत चन्द्र बोस ने साहा को चुनाव लड़ने की सलाह दी। शीघ्र ही साहा के पास एक विशिष्ट कांग्रेसी आये और उन्होंने कहा कि चूंकि साहा ने 'चर्खा' और 'खादी' का विरोध किया है इस कारण कांग्रेस पार्टी उन्हें अपना उम्मीदवार नहीं मनोनीत कर सकती। 1947 से 1951 के सरकारी रेकॉर्ड से ज्ञात होता है कि साहा अनेक मसलों पर सरकार से सहमत नहीं थे। साहा अपने विचारों को और अच्छी तरह अभिव्यक्त करने के लिए जीवन के अन्तिम समय में राजनीति में कूद पड़े। ऐसा उन्होंने 'मिनिस्टर' बनने के लिये नहीं वरन् देश की सेवा को ध्यान में रखकर किया। वह स्वतन्त्र उम्मीदवार थे और 1951 के चुनाव में अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी कांग्रेस के प्रत्याशी को बहुमत से हराकर विजयी हुए और लोकसभा में प्रवेश किया। विरोध पक्ष के नेता होने के बावजूद सरकार भी उनके विचारों का आदर करती थी क्योंकि इससे अधिक यश प्रोफेसर साहा ने विज्ञान के क्षेत्र में अर्जित किया था। उनके देश प्रेम में कोई सन्देह नहीं था।

एक बार एक कांग्रेसी नेता ने मजाक में उनके कहा था कि एक वैज्ञानिक को अपने आपको विज्ञान तक ही सीमित रखना चाहिये। उन्होंने इसका उचित प्रत्युत्तर दिया, "वैज्ञानिकों पर कल्पना-महल (एकान्त) में रहने का दोष लगाया जाता है। मैं भी कल्पना-महल में था। किन्तु समय बदल गया है। आज, विज्ञान राष्ट्रीय योजना और प्रशासन से गहरी तरह जुड़ा हुआ है। इसी कारण मैं धीरे-धीरे विज्ञान से राजनीति की ओर आ गया, अपने विज्ञान के ज्ञान और सूझ-बूझ से देश की सेवा के लिये।"

सरस्वती के अनन्य उपासक

एक बार उनके पड़ोस के कुछ बच्चे उनसे सरस्वती पूजा के लिए चन्दा माँगने आये। प्रोफेसर साहा ने सहज ढँग से पूछा, "सरस्वती की पूजा तुम किस प्रकार करोगे?" बच्चों ने विनम्रता से कहा, "सर, हम लोगों ने देवीकी मूर्ति बनाई है। पुजारी पूजा करेगा। हम लोगों ने संगीत का आयोजन किया है, माइक्रोफोन लगाया है और

शाम को नाटक करेंगे।" इतना सुनने के बाद प्रोफेसर साहा ने बच्चों से कहा, "मेरे साथ ऊपर के कमरे में चलों और देखो विद्या की देवी की पूजा मैं कैसे करता हूँ।" वहाँ जाने के बाद बच्चों ने देखा कि कमरा किताबों की आलमारियों से भरा हुआ है। पुस्तकें, लिखने का कागज, कलम और पेन्सिल। प्रोफेसर साहा ने बच्चों को सम्बोधित करते हुए कहा, "यदि तुम परिश्रम से अध्मयन करोगे तो ज्ञान की देवी का सबसे अधिक आदर करोगे। देवी की पूजा का सर्वश्रेष्ठ तरीका यही है।"

मेघनाद साहा का बहुआयामी व्यक्तित्व इस बात की मिसाल हैं कि कैसे कठोर श्रम और लगन से नियति को बदला जा सकता है। कठिनाइयों के ऊपर जिस प्रकार उन्होंने विजय प्राप्त की वह भावी पीढ़ियों को सदैव अनुप्राणित करता रहेगा। क्रूर मृत्यु ने इस महान व्वक्ति को 16 फरवरी, 1956 को हमसे छीन लिया। प्रोफेसर साहा को उलकी जन्मशती पर हम भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

■ ■

पत्रिका समीक्षा

चाकलेट (पर्यावरण शिक्षा पर केन्द्रित बच्चों की पत्रिका)

सम्पादक : दिनेश जोशी

साहित्य संकलन : कु० उमा पाण्डेय

प्रकाशक : हिमालयन अध्ययन केन्द्र, पिथौरागढ़

अंक : नवम्बर 1990

चाकलेट मासिक पत्रिका के प्रस्तुत अंक में सरल भाषा तथा रोचक शैली में बच्चों के लिए ढेर सारी उपयोगी सामग्री दी गयी है। बच्चे झूठ क्यों बोलते हैं, जब आप भोजन करें तो, बच्चा और पर्यावरण, बीहड़ कैसे बनते हैं, चींटी का जीवन, डार्विन की कहानी, हिन्दू धर्म पर्यावरण की प्रथम पाठशाला है जैसे शीर्षक युक्त लेखों में बच्चों को ज्ञान-विज्ञान की बातें भावपूर्ण ढंग से समझाने का सफल प्रयास किया गया है। 'मीठी बोली', 'आविष्कारों की कहानी' जैसी कवितायें भी काफी रोचक हैं। कुल मिलाकर पत्रिका अपने उद्देश्य में सफल ही कही जायेगी। पत्रिका के सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों को साधुवाद।

—विजय जी

जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद

रामचरित मानस में वैज्ञानिक तत्व

डॉ० विष्णु दत्त शर्मा

ग्रन्थ में 9 अध्याय हैं—विषय प्रवेश, साहित्य और विज्ञान, मानस में भौतिक विज्ञान, मानस में रसायन विज्ञान, मानस में आयुर्विज्ञान. मानस में आनुवंशिकी, मानस में मनोविज्ञान, मानस में अपराध विज्ञान, मानस में भू-विज्ञान। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में परिशिष्ट, पारिभाषिक शब्दावली, संदर्भिका और शोधार्थी का संक्षिप्त परिचय भी है।

शोधार्थी के शब्दों में—

"रामचरित मानस न केवल धर्म-भावना का सार है, बल्कि भारतीय इतिहास, जीवन-दर्शन तथा विज्ञान का ऐसा अनूठा संगम है, जहाँ काव्यमयी यमुना, धर्ममयी गंगा तथा लोकमंगल की सरस्वती-त्रिवेणी-प्रवाहित है। यह भक्त के लिए भक्ति का सरोवर, धर्मात्मा के लिए स्मृतिकोश, नीतिज्ञों के लिए नीतिग्रन्थ, शोधार्थियों के लिए महासागर और जन-जन के मन का मानस है। यह एक महान काव्यग्रन्थ के साथ-साथ महान धर्म-ग्रन्थ एवं अमर वैज्ञानिक निधि भी है। इसको पढ़कर भारतीय जनता एक साथ ही सब कुछ पा जाने के सुख का अनुभव करती है। मानस ने अपनी शक्तिमत्ता, सरलता, श्रेष्ठता और व्यापकता द्वारा पूर्ण बल से भारत की संस्कृति तथा समाज की आत्मा को जीवित रखने में सच्चे संविधान के रूप में महान योगदान किया है।

अनेक साहित्यक अध्ययन किए गए, किन्तु मानस में छिपी वैज्ञानिक निधि को आज तक किसी ने खोजने का प्रयास नहीं किया। हम सभी "रामचरित मानस" का नित्य पाठ करते हैं, परन्तु किसी ने भी आज तक यह मनन नहीं किया कि "मानस" में वर्णित वे कौन से पत्थर थे जो समुद्र में तैर सकते थे, वे कौन सी जड़ी-बूटियाँ थीं जो केवल रात्रि में ही सूर्योदय से पूर्व मूर्छित व्यक्ति को चेतनावस्था में ला सकती हैं, वह कौन सी किरण थी जो शिवजी के तीसरे नेत्र से निकल 'कामदेव' को भस्म कर सकती थी, वह क्या कारण था जो हजारों योद्धाओं के एक साथ प्रयत्न करने के उपरांत भी उनसे धनुष न उठ सका जबकि भगवान राम ने अकेले ही उसे तोड़ दिया, वह कौन सी शक्ति थी जिसे कुबेर के 'पुष्पक विमान' को राम के कहते ही मानव रहित कर लौटा दिया, वह कौन सा अस्त्र था जिसके कारण स्वर्ण-लंका जलकर भस्म हो गई और हनुमान जी का बाल भी बांका न हो सका, इत्यादि।

हजारों वर्ष पूर्व रचित वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण आदि के आधार पर काव्यबद्ध किए गए इस महाकाव्य में अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे वैज्ञानिक तथ्यों का ज्ञान होता है। मानस में छिपे इन वैज्ञानिक तथ्यों एवं तत्कालीन वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मेरे मन में हलचल मचा दी और इन्हीं तथ्यों में "रामचरित मानस। में वैज्ञानिक तत्वों को ढूंढ निकालने के लिए मुझे विवश किया। यद्यपि मैंने मानस में वैज्ञानिक तत्व पर शोधकार्य करने का प्रयास किया है, किन्तु रामचरित मानस। वह महासागर है जिसकी गहराई तक पहुँचने में आत्मिक एवं मानसिक रूप से मैं अपने आप को अक्षम समझ रहा हूँ पूर्णरूपेण इस वैज्ञानिक निधि से वैज्ञानिक तत्वों को निकाल पाने में। मैं असमर्थ हूँ क्योंकि मेरा ज्ञान सीमित है और 'मानस की गहराई असीमित।"

बी-48, विष्णु गार्डेन, नई दिल्ली-110018

■ ■

तत्वों का जन्म

डॉ॰जयप्रकाश चतुर्वेदी

यह अनन्त ब्रह्माण्ड बना है,
मिलकर सारे तत्वों से।
तत्वों से ही जीव बना,
जड़-जन्तु बने हैं तत्वों से।
फिर एक प्रश्न उठता मन में,
ये तत्व हुए पैदा कैसे ?
अब तक के सारे ज्ञात तत्व,
क्या पहिले से ही थे ऐसे ?

इस गुत्थी को सुलझाने को,
वैज्ञानिक करते हैं प्रयास।
मतभेद अभी भी है उनमें,
पर माने जाते दो विकास।
पहिले सिद्धान्त के मतानुसार,
सब तत्व बने कुछ ही पल में।
फिलहाल दूसरा मत कहता,
ये तत्व बने हैं वर्षों में।

पहिला वैज्ञानिक मत कहता
ब्रह्माण्ड बड़ा–सा गोला था।
चहुँ ओर भरा न्यूट्रॉनों से,
इक अंडा था या गोला था।
सब आपस में थे कसे हुए,
इनमें थी कोई जगह नहीं।
इसके जैसा घनत्व वाला,
ब्रह्माण्ड में कोई और नहीं।

उपाचार्य, भौतिकी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर-336932 (उ॰ प्र॰)

अरबों/खरबों वर्षों पहिले
विस्फोट हुआ एक दिन इसमें
टुकड़े-टुकड़े हो गया तभी यह
कण छिटक गये पूरे नभ में।
न्यूट्रॉन विखण्डित हुए बहुत
प्रोटॉनों और इलेक्ट्रॉनों में
दो प्रोटॉन मिले आकर फिर
ड्यूट्रॉन बनाया इस जग में।

हीलियम बना ड्ट्रॉनों से
ट्रीसियम बनाया हीलियम ने
ट्रीसियम विखण्डित होकर के
लीथियम बनाया आपस में
नाभिक से नाभिक टकराते
कण जुटते थे फिर आपस में
नये तत्व बन जाते थे
कुछ कम या ज्यादा संख्या में।

दूसरा वैज्ञानिक मत कहता
हाइड्रोजनमय था महाशून्य
प्रतिक्रिया हुई तो तत्व बने
जग था न कभी भी निराशून्य
ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई
हाइड्रोजन बदला हीलियम में
तीन हीलियम मिलकर के
परिवर्तित हुए कार्बन में।

तारों के अन्तरतल में
होता है अत्यधिक ताप-दाब
नाभिक से नाभिक मिलते हैं
होता है यूँ संलयन प्रभाव
चार हीलियम मिलने से
प्राण-वायु उत्पन्न हुआ
इस तरह लिये सब तत्व जन्म
तत्वों से जग-निर्माण हुआ।

□□

पियरे द फर्मा

डॉ० आर० एस० डी० दुबे

सत्रहवीं सदी में फ्रांस ने विश्व को चार अत्यन्त मेधावी गणितज्ञ दिये। ये थे डेसार्ग (1591-1661), देकार्त (1596-1650), पैस्कल (1623-1662) तथा फर्मा (1601-1665)। इनमें प्रथम तीन पेशे से भी गणितज्ञ थे किन्तु फर्मा एक शौकिया गणितशास्त्री था। इन चारों ने अपने-अपने ढँग से गणित के क्षेत्र में निराले एवं नवीन योगदान दिये हैं। यहाँ हम केवल फर्मा के विषय में ही चर्चा करेंगे।

फर्मा एक वकील था। फ्रांस के राजा ने उसे तोलुस प्रांत में संसद के लिये शाही काउन्सलर नियुक्त किया था। स्वभाव से विनम्र, भीड़-भाड़ से बचकर रहने वाले फर्मा का गणित का अध्ययन एक शौक था। राजकीय कामों में अत्यन्त औपचारिक रहने वाले फर्मा के पास अपने गणित सम्बन्धी शौक को पूरा करने के लिये काफी समय भी बच जाता था। फर्मा के काम करने का ढँग काफी सुस्त था। इसका परिणाम उसकी खोजों पर पड़ा। वह अपनी खोजों को विस्तार पूर्वक न लिखकर संक्षिप्त में सूत्र रूप में लिख लिया करता था। उचित विस्तार तथा भूमिका के अभाव में उसका शोध कार्य प्रायः रसहीन हो जाता था।

औपचारिकता के अतिरिक्त भी फर्मा में एक अच्छा गुण था। वह अपने समय के गणितज्ञों तथा गणित में अभिरुचि रखने वाले मित्रों को पत्र द्वारा अपने गणित सम्बन्धी विचारों को बताता रहता था। इन्हीं पत्रों द्वारा ही उसके अधिकांश शोधों का पता चला है। 1654 में फर्मा ने पैस्कल से काफी पत्र-व्यवहार किया। दोनों के सम्मिलित प्रयत्न की परिणिति 'प्रायिकता सिद्धान्त' के विकास रूप में हुई। 'प्रायिकता सिद्धान्त' की मूलभूत अवधारणाएं इन पत्रों में उपलब्ध हैं।

शोध कार्यों को छपवाने की उत्सुकता (एवं शीघ्रता) न होने का एक परिणाम यह हुआ कि गणित की कई विधाओं के आविष्कार का श्रेय फर्मा को न मिलकर दूसरों को मिला। सन् 1629 में फर्मा ने गणित की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विधा 'वैश्लेषिक ज्यामिति' की परिकल्पना की। यह भी कहा जा सकता है कि उसके कार्य इस विधा में नींव के पत्थर थे। फर्मा के इस खोज में वैश्लेषिक ज्यामिति की मूलभूत अवधारणाओं का स्पष्ट जिक्र हुआ है। कुछ उसी प्रकार के विचारों को देकार्त ने 1637 में शोध-पत्र के रूप में प्रकाशित करवाया। आज देकार्त को वैश्लेषिक गणित का जन्मदाता कहा जाता है। कुछ ऐसा ही 'अवकल गणित' के बारे में है। न्यूटन के जन्म के 13 वर्ष पूर्व, फर्मा ने वक्रों पर स्पर्शी खींचने तथा उच्चिष्ठ एवं निम्निष्ठ को ज्ञात करने की विधि खोजी। वास्तव में इसमें प्रयुक्त मूलभूत तर्क वही हैं, जिससे 'अवकल गणित' का जन्म हुआ। सन् 1934 में न्यूटन के पत्र का पता चला। इस पत्र के अनुसार न्यूटन ने यह स्वीकार किया है कि उसके द्वारा प्रणीत 'अवकल गणित' की प्रारम्भिक अवधारणाएँ उसे सीधे फर्मा के कार्यों से मिली थीं। किन्तु आम तौर से 'अवकल गणित' की खोज का श्रेय न्यूटन को दिया जाता है।

रीडर, गणित विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

सन् 1657 में फर्मा ने 'न्यूनतम समय' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बाद में प्रकारान्तर से यह सिद्धान्त 'अल्पतम पथ' के रूप में ज्यामिति तथा भौतिकी एवं गणित के बल-विज्ञान के रूप में प्रचलित हुआ। फर्मा का अपना योगदान न्यूनतम समय के सिद्धान्त एवं प्रकाश से अपवर्तन के बीच सम्बन्ध ढूंढना था। यही सम्बन्ध बाद में प्रकाश-विज्ञान के सुसंगत सिद्धान्त का आधार बना।

गणित जगत् में फर्मा का योगदान धनात्मक पूर्णांक संख्याओं के आश्चर्यजनक किन्तु रहस्यमय गुणों के बारे में था। इन संख्याओं के गुणों में उसकी अभिरुचि एवं अन्तरदृष्टि अद्वितीय थी। यही कारण है कि फर्मा का नाम इन संख्याओं के गुणों के सम्बन्ध में शोध से ही बहु चर्चित रहा।

फर्मा के संख्या सम्बन्धी प्रमेयों में से हम मात्र तीन प्रमेय उद्धृत कर रहे हैं। इनके आधार पर फर्मा की प्रतिभा का पता सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

फर्मा का दो वर्गों का प्रमेय

प्रत्येक अविभाज्य संख्या जो $4n+1$ (n धनात्मक पूर्णांक) के रूप में हो, उसे दो संख्या के वर्गों के योग के रूप में एक तथा केवल एक प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ हम जानते हैं कि 3, 5, 6, 11, 13, 17, 19, 23, 29, 31... इत्यादि अविभाज्य पूर्णांक हैं। इनमें कुछ को $4n+1$ के रूप में लिखा जा सकता हैं, जैसे $5=4\times1+1$, $13=4\times3+1$, $17=4\times4+1$, $29=4\times7+1$ इत्यादि। स्पष्ट देखा जा सकता है कि $5=1^2+2^2$, $13=2^2+3^2$, $17=4^2+1^2$, $29=2^2+5^2$ आदि। ये उदाहरण मात्र हैं, प्रमेय का गणितीय उपपत्ति नहीं।

फर्मा का प्रमेय

यदि p कोई अविभाज्य (पूर्णांक) हो तथा n कोई धनात्मक पूर्णांक हो तो p सदा ही n^p-n को विभाजित करेगा।

जैसे $p=3$, $n=2$ ले तो $2^3-2=8-2=6$ को 3 विभाजित करेगा। इसी प्रकार $2^{79}-2$ को 79 विभाजित करेगा।

फर्मा का अन्तिम प्रमेय

यदि $n\geqslant3$ (3 या 3 से बड़ा) पूर्णांक हो तो ऐसे धनात्मक पूर्णांक a, b, c नहीं मिलेंगे जो $a^n+b^n=c^n$ को सन्तुष्ट करें।

इस अन्तिम प्रमेय को कुछ इस प्रकार समझाया जा सकता है। धनात्मक पूर्णांक संख्याओं 1, 2, 3, 4,... का एक गुण यह है कि किन्हीं दो संख्याओं का योग एक तीसरी संख्या होगी। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि (1 को छोड़कर) कोई अन्य संख्या दो संख्याओं के योग के रूप में लिखी जा सकती है। जैसे $3=1+2$, $5=2+3=1+4$ इत्यादि। गणित के सूत्र रूप में लिखने पर हम कह सकते हैं कि $a+b=c$ को धनात्मक पूर्णांक संख्याएँ सन्तुष्ट

करती हैं। इसी प्रकार तीन संख्याओं के अनन्त समुच्चयों का अस्तित्व है जो $a^2+b^2=c^2$ को सन्तुष्ट करेंगे। उदाहरण के लिए $5^2=3^2+4^2$, $13^2=5^2+12^2$ इत्यादि। ज्यामिति की भाषा में इसे 'पाइथागोरस-प्रमेय' कहते हैं। फर्मा ने प्रश्न किया कि क्या ऐसी संख्याएँ भी हैं जिनमें एक संख्या के धन को दो संख्याओं के धन के योग के रूप में लिख सकते हैं ? अथवा किसी संख्या के 4 घात को दो अन्य संख्याओं के चार घात के योग के रूप में लिख सकते हैं इत्यादि। अन्तिम प्रमेय इसी प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देता है।

उपरोक्त अन्तिम प्रमेय गत 300 वर्षों से अधिक समय से सिद्ध नहीं हो पाया। एक पुस्तक के हाशिये पर फर्मा ने लिखा था कि मैंने इस प्रमेय का एक अत्यन्त आश्चर्यजनक हल पा लिया है, किन्तु हासिये पर स्थान इसकी उपपत्ति के लिए यथेष्ट नहीं है। इसके कुछ दिन बाद ही फर्मा की मृत्यु हो गई और उसके द्वारा ढूंढी गयी उपपत्ति फिर कभी भी प्रकाश में न आ सकी।

वह अन्तिम प्रमेय गणित जगत् के लिए एक चुनौती बना रहा। इसे सिद्ध करने के दावे प्रतिदावे पिछले 300 वर्षों में होते रहे। शौकिया गणितज्ञ तथा पेशेवर सुप्रसिद्ध विद्वानों ने भी इस अन्तिम प्रमेय का व्यापक हल ढूंढने के प्रयत्न किये। कुछ ने प्रमेय को ही महत्वहीन बता कर इस पर काम करने को ही समय की बरबादी कहा। कुछ लोगों ने समय-समय पर इस भ्रम को पाले रखा कि उन्होंने इसका सही हल प्राप्त कर लिया है। अन्यों को निराशा ही हाथ लगी। किन्तु इस प्रमेय की उपपत्ति ढूंढने के प्रयासों की रोचक गाथा फिर कभी।

फ्रांस के पेरिस अकादमी ने 1816 में तथा जर्मनी की साइंस अकादमी ने 1908 में इस प्रमेय का हल ढूंढने वाले के लिए आकर्षक पुरस्कारों की घोषणा की, किन्तु पुरस्कार किसी के हाथ नहीं लगे।

गत 23 जून 1993 को कैम्ब्रिज शहर में आयोजित एक कन्फरेन्स में प्रिंसटन यूनिवर्सिटी के 40 वर्षीय अँग्रेज गणितज्ञ एण्ड्रूज विलिस ने घोषणा कि उन्होंने प्रकारान्तर से फर्मा के अन्तिम प्रमेय को सिद्ध कर दिया है। इस घोषणा के साथ ही विलिस समाचारों की सुर्खियों में आ गये। विलिस की इस घोषणा की तुलना गणित के क्षेत्र में 'नाभिकीय धमाके' के साथ की गई है। 200 से अधिक पृष्ठों का विलिस का शोध-पत्र गणित की इस विधा के मूर्धन्य विद्वानों द्वारा आज भी जाँचा-परखा जा रहा है। इसलिए परिणाम की पुष्टि होनी अभी शेष है। इसे सिद्ध करने के लिए विलिस महोदय ने गणित की कई नई शाखाओं के जटिल तकनीकों एवं कुछ अनुमानों (conjectures) का सहारा लिया है। पूरी प्रक्रिया इतनी जटिल है कि इसे कुछ विशिष्ट विधाओं के विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं।

परिणाम जो भी निकले, गणित का इतिहास बताता है कि इस निर्दोष से दीखने वाले सरल प्रमेय को सिद्ध करने के प्रयासों ने गणित जगत् को अनेक नयी विधायें दीं, कई नई शाखाओं का जन्म हुआ तथा गणितज्ञों को कई अज्ञात कोष हाथ लगे। ऐसी आशा है कि निकट भविष्य में गणित में शोध के अनेक आयाम सामने आयेंगे।

○○

(1) न होते ये निकृष्ट जन्तु

श्याम सरन अग्रवाल 'विक्रम'

··· तो हम जाने कहाँ होते। चीन-देशवासियों की बात छोड़िये जो साँप, बिच्छुओं का कलेवा कर जाते हैं। बात है आम आदमी की। वह आम बात यह है कि केकड़े, घोंघे, झींगे आदि जिन निकृष्ट जन्तुओं के स्पर्शमात्र से हम कतराते-चकराते हैं, उन्हीं के स्राव हमारे गले उतारने को वैज्ञानिक कटिबद्ध हैं, केवल इस सदुद्देश्य से कि इन कीटों के अन्तर्स्राव भविष्य में बहुरोग निवारक सिद्ध हो सकते हैं।

अनुसन्धानकर्ताओं ने पाया है कि इन जन्तुओं के खोल से गोंद जैसा पदार्थ प्राप्त कर लिया जाता है। 'कायटिन' नामक उस पदार्थ को सुखाकर चूर्ण कर लेने पर उसे 'कायटोसन' नाम देते हैं। उस रूप में वह विलक्षण पदार्थ—(1) शरीर में कोलस्टरॉल तथा अन्य वसा प्रधान तत्वों को न्यूनतम करता है, (2) रक्त की थक्का-प्रकृति को सँवारता है और (3) शल्यक्रिया में टाँके लगाने में भी सहायक हो सकता है।

इन अवलोकनों का श्रेय है अमेरिकी एम० आई० टी० के डॉ० ई० रे० पेरिसर को, जिन्होंने न्यूजर्सी स्थित राबर्ट वुड जानसन मेडीकल स्कूल के डॉ० ग्रेगरी के भी अनुसन्धानों को आगे बढ़ाते हुए इस पदार्थ के कुछ और भी गुण प्रस्तुत किये हैं जिनमें उल्लेखनीय है—हड्डी की चोट ठीक होने में शीघ्रता। इनके अतिरिक्त इस पदार्थ से मिश्रित घाव की पट्टियाँ तथा ड्रेसिंग-वस्तुयें घाव के निकट की सतह को फफूंद आदि रोगवाहक आक्रमणों से बचाती हैं।

और तो और—इस युग के महान आतंक एड्स से भी दो-दो हाथ करने की क्षमता रखता है यह निकृष्ट जन्तुओं का विलक्षणतम स्राव 'कायटिन'।

(2) नाज किस बात पर है वक्त, तुझे

··· हमने तेरा जवाब देखा है। सर्वशक्तिमान समय का महिमा-गान बढ़-चढ़ कर किया जाता रहा है। कवि कल्पना की कोमलता तो कलम को यहाँ तक तोड़ चुकी है कि—खुशी की रात इतनी अल्पजीवी, मानो क्षणभंगुर जीवन ··· और आहों भरी रात इतनी लम्बी, मानो नायिका की जुल्फ जिसका ओर-छोर नहीं; तो—आइये पटरी बदलकर विज्ञान के मंच से बात करें तो पायेंगे कि युगों पहले एक युग वह भी था जब सूर्य घड़ी, बालू घड़ी, जल घड़ी आदि से वक्त के माप को शीशे में उतारा जाता था। बालू घड़ी तो यह लेखक भी प्रयुक्त करते-करते देख चुका है। आज तो मानव के वैज्ञानिक मस्तिष्क का यह कमाल है कि वक्त को यद्यपि हम देख नहीं पाते, सूँघ, सुन और

68, असिस्टेन्ट लाइन, बिरला नगर, ग्वालियर-474004 (मध्य प्रदेश)

छू नहीं पाते, तथापि उसकी नब्ज आज के वैज्ञानिक ने यूँ हाथ में कर रखी है कि सुन-सुनकर सामान्य जन तो चकरा कर रह जाता है।

यह एक गणित-सिद्ध स्थूल तथ्य है कि विद्युत्-तरंग एक सेकिंड में 1,86,000 मील याने लगभग पौने तीन लाख कि० मी० की बजरंग-छलांग लगा लेती है। इसके समानान्तर, दूसरा तथ्य यह भी है कि एक सेकिंड, पूरे दिन का साढ़े छियासी हजारवां भाग होता है। अब नवीनतम गणनानुसार जिसे हम सर्वोपरि रूप में 'नेनो सेकिंड' कहेंगे, वह एक सेकिंड के दस लाखवें भाग का भी एक हजारवां भाग होता है। उस नेनो सेकिंड की गणना से तो विद्युत्-तरंग एक नेनो सेकिंड में केवल अट्ठारह सेन्टीमीटर चल पायेगी। दूसरे शब्दों में—यदि मानव एक नेनो सेकिंड में एक कदम बढ़ाये तो वह एक सेकिंड में दस बार पृथ्वी-प्रदक्षिणा कर लेगा ! चकरा गयी न, अक्ल की अफलातूनी !!

इस गणना को एक नीबू सदृश हमारी हथेली पर रख देने के श्रेयाधिकारी हैं जी० ई० सी० के इलेक्ट्रॉनिक कॉर्पोरेशन के उपाध्यक्ष—डॉ० लुई० टी० रेडर (न्यूयार्क) अमेरिका की ही वेस्टर्न ऐलेक्ट्रिक कम्पनी और केलिफोर्निया की फेयर चाइल्ड कैमेरा एण्ड इन्स्ट्रूमेन्ट कॉर्पोरेशन के सेमी-कंडक्टर विभाग ने ऐसे अद्भुत एलेक्ट्रॉनिक स्विच बनाये हैं जो कहीं दस, तो कहीं एक ही नेनो सेकिंड में पथ-परिवर्तित कर देते हैं। आप जानना चाहें ऐसे स्विच का आकार तो देख लीजिये यहाँ पर लगाया पूर्ण विराम बिन्दु (.)।

कठिनाई इन प्रयोगों में भी तब आती है जब पृथ्वी की सूर्य-प्रदक्षिणा-गति और धुरी पर चक्र-गति को लक्ष्य में रखना पड़ता है। अन्तरिक्षीय अन्य ग्रहों, पिण्डों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि पृथ्वी अपनी इन दोनों गतियों में जब मूड आया तब अतिसूक्ष्म बेवफाई दर्शा जाती है और तब निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी की प्रदक्षिणा गति एक शताब्दी में एक सेकिंड के एक हजारवें भाग तक पिछड़ जाती है। ऐसी ही मनमौजी बेवफाई अपनी धुरी पर घूमती हुई भी कुछ वर्षों तक नामालूम प्रमाण में चला लेती है।

इसके प्रति असावधान और खामोश बैठे रहना आज के वैज्ञानिक को गवारा कहाँ ? वह नूतनतम आविष्कृत परमाणु-प्रकम्पन जैसे अमोघ अस्त्र द्वारा क्या करामात दिखाने में प्रयत्नरत है, वह बात अगली मुलाकात पर !!

(संकलित)

■ ■

परिषद् का पृष्ठ

परिषद् की जोधपुर शखा से

(1) विज्ञान परिषद् प्रयाग की जोधपुर शाखा द्वारा प्रो० शिवगोपाल मिश्र का अभिनन्दन

हिन्दी दिवस पखवाड़ा कार्यक्रमों के अन्तर्गत् जोधपुर शाखा के सभ्यों ने रातानाडा पैलेस, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर के सभागार में 23 दिसम्बर 93 को प्रो० रमेशचन्द्र कपूर, संरक्षक की अध्यक्षता में एक गोष्ठी का आयोजन किया। इस अवसर पर वैज्ञानिक एवं तकनीकी साहित्य और उपकरण विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य के लिए राष्ट्रपति द्वारा 14 सितम्बर 1993 को दिल्ली में 'आत्माराम पुरस्कार' से सम्मानित प्रो० शिवगोपाल मिश्र का अभिनन्दन भी किया गया डॉ० रामगोपाल ने कहा कि प्रो० मिश्र का राष्ट्र द्वारा सम्मान, परिषद् का सम्मान, विज्ञान लेखन का सम्मान और हम सभी सभ्यों का सम्मान है। उन्होंने आशा व्यक्त की कि प्रो० मिश्र ने विज्ञान के लगभग प्रत्येक क्षेत्र-विषय में कितना स्वाभाविक, सहज और नैसर्गिक लेखन किया है इसका गुर बताकर वह हमारा मार्ग-दर्शन करेंगे। तत्पश्चात् मन्त्री डॉ० दुर्गादत्त ओझा ने स्थानीय शाखा के मात्र 6 माह के शैशवकाल में हुई प्रगति से सभ्यों को अवगत कराया एवं भावी कार्यक्रमों की जानकारी दी। प्रो० कपूर ने प्रो० मिश्र के परिचय के साथ उनके निःस्वार्थ विज्ञान लेखन के तीन दशकों से ऊपर के कार्य, उपलब्धियों और हिन्दी विज्ञान जगत् को प्रदत्त सेवाओं का उल्लेख किया और स्थानीय शाखा की ओर से अभिनन्दन करते हुए वीणावादिनी सरस्वती का स्मृति चिन्ह भेंट किया।

प्रो० मिश्र ने अपने विनम्र एवं संकोची स्वभाव से इस प्रकार के सम्मानों को लक्ष्य न मानकर सभ्यों को विज्ञान लेखन, नव लेखन और विशेषकर मरु-विज्ञान के विविध आयामों के लेखन के लिए प्रेरित किया। आपने अत्यन्त सहज सम्भाषण से हिन्दी विज्ञान लेखन की समस्याओं विशेषकर परिषद् द्वारा प्रकाशित 'अनुसन्धान पत्रिका' और 'विज्ञान' की चर्चा की। अनुदान कार्यों और बाल विज्ञान सिरीज लेखन के साथ शाखा द्वारा प्रस्तावित "मरु विशेषांक" के प्रकाशन हेतु मार्गदर्शन किया। इस अवसर पर शाखा के उपसभापति डॉ० ईश्वर चन्द्र गुप्ता ने 'मरु पर्यावरण समस्यायें एवं समाधान' विषय पर एक विचारपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक व्याख्यान दिया। डॉ० गुप्ता द्वारा विकसित दोहरी दीवार वाले गमले के प्रयोग से कम पानी में पौधे उगाने की विधि विशेष चर्चा का विषय रही। कार्यक्रम के अन्त में शाखा की अन्य उपसभापति श्रीमती कुंजन त्रिवेदी ने अतिथियों तथा सभ्यों के प्रति आभार व्यक्त किया।

—प्रस्तुति: डॉ० रामगोपाल
सभापति, जोधपुर शाखा

(2) शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद द्वारा प्रो० शिवगोपाल मिश्र का अभिनन्दन

1 अक्टूबर, 1993 को शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद में वैज्ञानिक साहित्य एवं उपकरण विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा 'डॉ० आत्माराम पुरस्कार' से

सम्मानित प्रो० शिवगोपाल मिश्र का हार्दिक अभिनन्दन किया गया। इस समारोह की अध्यक्षता इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० रामचरण मेहरोत्रा ने की। इसके संयोजक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभागाध्यक्ष प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी ने समारोह में आये हुये अतिथियों का स्वागत किया। कार्यक्रम का शुभारम्भ कुलपति प्रो० मेहरोत्रा द्वारा स्वर्गीय आचार्य नीलरत्न धर की प्रतिमा पर माल्यार्पण करके हुआ। समारोह के सह-संयोजक डॉ० मुरारी मोहन वर्मा, रीडर, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान ने कुलपति का माल्यार्पण किया। कुलपति महोदय ने प्रो० मिश्र का माल्यार्पण कर अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् वक्ताओं ने प्रो० मिश्र के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये। डॉ० मुरारी मोहन वर्मा ने प्रो० मिश्र के उल्लेखनीय कार्यों विशेषकर शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान में उनके महत्वपूर्ण योगदान पर प्रकाश डाला। डॉ० प्रभाकर द्विवेदी ने प्रो० मिश्र के सम्मान में काव्य पाठ किया तथा उन्हें शिव (कल्याण) और गोपाल (भू-पालक) का सम्मिश्रण बताया। डॉ० पदमा सिंह ने बताया कि प्रो० मिश्र ने को विज्ञान तथा साहित्य का अद्भुत समन्वय बताते हुए उनके सम्मान में अभिनन्दन-पत्र पढ़ा जिसमें उन्हें अध्यवसाय के धनी, कर्तव्यनिष्ठ तथा सतत् परिश्रमी कहा गया। डॉ० सुनील दत्त तिवारी ने प्रो० मिश्र की हास्य-रस प्रधान अध्यापन शैली एवं उनके अपूर्व उत्साह की चर्चा की। साथ ही यह भी कहा कि प्रो० मिश्र के गुणों को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। श्री प्रेमनाथ पाण्डे ने प्रो० मिश्र को कृषि रसायन एवं मृदा विज्ञान का विद्वान बताया। एम० एस-सी० उत्तरार्द्ध के छात्र श्री प्रदीप राय ने कहा कि यह हम लोगों का सौभाग्य है कि प्रो० मिश्र के सेवा-निवृत्त हो जाने के पश्चात् भी हम लोग उनके अनुभवों से लाभान्वित हो रहे हैं। इसके पश्चात् कुलपति महोदय ने प्रो० मिश्र के दीर्घायु एवं अच्छे स्वास्थ्य की कामना करते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया। डॉ० मुरारी मोहन वर्मा ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

['अमृत प्रभात' से साभार]

परिषद् की वाराणसी शाखा से

(3) विज्ञान-परिषद् वाराणसी शाखा द्वारा प्रो० रामदास गौड़ स्मृति-व्याख्यान का आयोजन

गत 14 सितम्बर 1993 को विज्ञान परिषद् प्रयाग की स्वीकृति से वाराणसी शाखा द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में, भू-भौतिकी विभाग के व्याख्यान कक्ष में उक्त व्याख्यान, भौमिकी के अवकाश प्राप्त प्रो० डॉ० महाराज नारायण मेहरोत्रा द्वारा प्रस्तुत किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रौद्योगिकी संस्थान के संकाय-प्रमुख प्रो० जी० राजशेखर ने की। प्रौद्योगिकी संस्थान, कृषि-संस्थान, विज्ञान संकाय तथा चिकित्सा विज्ञान संस्थान से अनेक छात्रों एवं अध्यापकों ने व्याख्यान सुना। इस अवसर पर हिन्दी प्रकाशन समिति द्वारा प्रकाशित "व्याख्यान-संकलन प्रौद्योगिकी, शोध, शिक्षण और प्रसार में हिन्दी का प्रयोग" पुस्तक का विमोचन भी अध्यक्ष महोदय ने किया।

प्रो० मेहरोत्रा के व्याख्यान का विषय था, "21वीं शती में विज्ञान से अपेक्षायें।" उन्हीं के शब्दों में इसका सारांश निम्नलिखित दो उद्धरणों से स्पष्ट है : (अ) लगभग आठ वर्ष के अन्तराल पर हम नई शताब्दी में प्रवेश करेंगे। वह शती कैसी होगी, यह तो भविष्य ही बतायेगा, पर हम जिस साज-सामान के साथ इस नये युग में प्रवेश की तैयारी कर रहे हैं, वह हमें सुखद भविष्य की ओर ले जायेगा, इसमें सन्देह है।... और (ब) विश्व की ये

समस्यायें स्थानीय या प्रादेशिक न रहकर विश्वव्यापी हैं। हमें विश्व स्तर पर इनके निवारण का प्रयास करना है। संयुक्त राष्ट्र संघ इस दिशा में कार्यरत है। उसके तत्वाधान में 1987 में प्रकाशित "अवर कामन फ्यूचर" (हमारा सामूहिक भविष्य) तथा जून 1992 में रीयो में आयोजित "पृथ्वी शिखर सम्मेलन" इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। हमें सामूहिक रूप से समन्वित योजना पर कार्य कर पृथ्वी को विनाश से बचाने का प्रयास करना है। ब्रह्माण्ड में केवल इसी ग्रह पर जीवन है। परमेश्वर की इस थाती को सँभाल कर रखना विज्ञानियों का दायित्व है।

अध्यक्ष महोदय ने व्याख्यान को अत्यन्त सामयिक एवं बोधगम्य बताया। हिन्दी के प्रयोग की उपयोगिता पर ध्यान दिलाते हुए उन्होंने प्रतियोगिता परीक्षाओं के आँकड़ों से यह बताने का प्रयास किया कि हिन्दी में उच्चस्तरीय वैज्ञानिक एवं तनेनीकी साहित्य का अभाव है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए; साथ ही भाषा को सरल, सुबोध एवं मौलिक बनाये रखने का प्रयास भी बना रहना चाहिये।

अन्त में शाखा परिषद् के उपाध्यक्ष प्रो० ब्रजरतन दास गुप्त के धन्यवाद ज्ञापन के साथ कार्यक्रम समाप्त हुआ।

—प्रस्तुति : डॉ० श्रवण कुमार तिवारी
सचिव, विज्ञान परिषद्, वाराणसी शाखा

परिषद् की जोधपुर शाखा से

(4) हिन्दी दिवस समारोह

14 सितम्बर 1993 को हिन्दी दिवस समारोह के अवसर पर राजभाषा कार्यान्वियन समिति, रक्षा प्रयोगशाला जोधपुर एवं विज्ञान परिषन् (प्रयाग) की जोधपुर शाखा के संयुक्त तत्वावधान में एक विचार गोष्ठी का आयोजन रक्षा प्रयोगशाला के सभागार में हुआ। गोष्ठी में रक्षा प्रयोगशाला के वैज्ञानिक, विज्ञान परिषद् के सदस्यों एवं कमला नेहरू विद्यालय की गृह विज्ञान की छात्राओं ने भाग लिया। गोष्ठी अध्यक्षता रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर के निदेशक डॉ० अ० आर० रेड्डी ने की।

गोष्ठी का प्रारम्भ विज्ञान परिषद् (जोधपुर शाखा) के प्रधान मन्त्री श्री प्रदीप कुमार भटनागर के स्वागत भाषण से हुआ। श्री रामेश्वर दयाल, वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी—1, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर ने प्रशासन में हिन्दी के प्रयोग पर अपने विचार व्यक्त किये। उनके अनुसार प्रयोगशाला के प्रशासन का 80-90 प्रतिशत कार्य हिन्दी में होता है एवं सभी कर्मचारी हिन्दी के ज्ञाता हैं।

गोष्ठी में विभिन्न व्यक्तियों ने अपने विचार व्यक्त किये। केन्द्रीय रुक्ष-क्षेत्र अनुसन्धानशाला के वरिष्ठ वैज्ञानिक डॉ० जगदीश प्रसाद मित्तल ने "मरुभूमि में पशुपालन" पर अपना पत्र पढ़ा। उनके अनुसार रेगिस्तान में कम पानी एवं उच्च तापक्रम पशुपालन में बाधक हैं। अपने अनुसन्धान के आधार पर उन्होंने बताया कि पशुओं को नियमित पानी न पिलाकर, अन्तर से पानी पिलाने से भी उनके उत्पादन (दूध एवं मांस) पर कोई विपरीत प्रभाव

नहीं पड़ता साथ ही 4500 पी० पी० एम० लवण युक्त पानी को भी गाय इत्यादि पशुओं को आसानी से पिलाया जा सकता है। केन्द्रीय रुक्ष-क्षेत्र अनुसन्धानशाला के एक अन्य वैज्ञानिक डॉ० आई० सी० गुप्ता ने "कम पानी में पौध लगाना" विषय पर अपना मूल शोध-पत्र पढ़ा। इसमें उन्होंने अपने द्वारा विकसित दोहरी दीवार वाले गमले की जानकारी दी जिसमें पौधे की बढ़त के लिए बहुत कम पानी की आवश्यकता होती है। शोधपत्र की काफी सराहना हुई एवं श्रोताओं ने कई पूरक प्रश्न किये।

डॉ० डी० डी० ओझा, भूजल विभाग ने 'हिन्दी में विज्ञान लेखन का इतिहास' पर अपना आलेख प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने हिन्दी में विज्ञान लेखन के 175 वर्ष के लम्बे इतिहास पर विहंगम दृष्टि डाली। 1818 में "दिग्दर्शन" से शुरू होकर विज्ञान लेखन की यात्रा अनेक पड़ावों को पार कर आज एक पूर्ण वृक्ष के रूप में विकसित हो गयी है। आज हिन्दी में विज्ञान की विभिन्न पत्रिकायें है एवं कई शोधपत्र भी प्रकाशित हो रहे हैं।

श्रीमती कुंजन त्रिवेदी, विभागाध्यक्ष गृह विज्ञान विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ने विभाग में होने वाले अनुसन्धान कार्यों पर प्रकाश डाला। उन्होंने मरुस्थल की समस्यायें जैसे कम पानी, गरीबी, कुपोषण, अशिक्षा इत्यादि का वर्णन करते हुए विभाग द्वारा चलाये जा रहे कार्य-पोषण, बालोपयोगी कार्यक्रम, समुदाय कल्याण एवं परिवार कल्याण पर चर्चा की। कमला नेहरू विद्यालय की छात्रा कुमारी निधि ने अपने प्रभावशाली भाषण में इस प्रदेश की समस्याओं के निदान में गृह विज्ञान की छात्राओं के सम्भावित योगदान को रेखांकित किया।

रक्षा प्रयोगशाला के वरिष्ठ वैज्ञानिक डॉ० एम० पी० चचारकर ने "रक्षा प्रयोगशाला में गामा संयन्त्र" पर अपना पत्र पढ़ा। इसमें उन्होंने विकिरण के द्वारा निर्जर्मीकरण की उपयोगिता पर प्रकाश डाला। इसके अतिरिक्त रक्षा प्रयोगशाला के अन्य वैज्ञानिक श्री नरोत्तम सिंह, श्री जे० आर० सिंघवी एवं श्री मूलचन्द सोनगरा ने भी अपने-अपने विचार व्यक्त किये।

राजीव गाँधी राष्ट्रीय पेय जल मिशन के डॉ० राजवत्स सिंह ने "मिशन" की कार्यवाहियों पर प्रकाश डाला। भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र, बम्बई के डॉ० सचान ने "नाभिकीय ऊर्जा ही क्यों?" विषय पर अपना पत्र पढ़ा। इसमें उन्होंने विकिरण के मानव शरीर पर दुष्प्रभावों का विवरण दिया। साथ ही एक सीमा से नीचे विकिरण की मात्रा को हानिरहित बताते हुए नाभिकीय ऊर्जा की उपादेयता पर प्रकाश डाला।

गोष्ठी का समापन डॉ० रामगोपाल, संयुक्त निदेशक, रक्षा प्रयोगशाला जोधपुर एवं अध्यक्ष विज्ञान परिषद् (जोधपुर शाखा) ने दिया। अपने समापन भाषण में डॉ० रामगोपाल ने हिन्दी एवं विज्ञान के आपसी सम्बन्ध को रेखांकित किया। उनके अनुसार भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा प्रकाशित शोधपत्रों की काफी अधिक संख्या के बावजूद उनके स्तर का अभाव है। ऐसा विदेशी भाषा में चिन्तन एवं लेखन के कारण है। अतः हिन्दी में शोधपत्र लेखन के द्वारा भारतीय शोधों का स्तर सुधारा जा सकता है। साथ ही विज्ञान लेखन के द्वारा हिन्दी को एक जीवन्त एवं आधुनिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। डॉ० साहब ने इसके लिए अधिक से अधिक मूल शोधपत्रों के हिन्दी में लेखन एवं तकनीकी प्रपत्रों के कम से कम सारांश का, हिन्दी में लिखे जाने पर जोर दिया।

(5) विज्ञान परिषद् में हिन्दी दिवस

14 सितम्बर 'हिन्दी दिवस' के अवसर पर "हिन्दी की स्थिति एवं वैज्ञानिकों का दायित्व" विषय पर एक संगोष्ठी सम्पन्न हुई। विषय प्रवेश करते हुए "विज्ञान" पत्रिका के सम्पादक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने संक्षेप में विज्ञान परिषद् की हिन्दी सेवाओं का परिचय देते हुए कहा कि राष्ट्रभाषा हिन्दी की स्थिति पहले से कहीं अच्छी है। विज्ञान की पुस्तकें हैं, लोकप्रिय पत्रिकाएं हैं, शोध पत्रिकाएं हैं, फिर भी राष्ट्रभाषा को जो सम्मान किसी देश में मिलना चाहिये, वह हिन्दी को अभी अपने देश में नहीं मिल पाया है और इसी कारण अभी भी हमें हिन्दी दिवस मनाने और संकल्पों को बार-बार दुहराने की आवश्यकता पड़ रही है। यह किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए दुःखद स्थिति है।

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान के डॉ॰ मुरारी मोहन वर्मा ने कहा कि आज अधिकतर वैज्ञानिक और हिन्दी विज्ञान लेखक अँग्रेजी में प्रकाशित साहित्य को आधार बनाकर ही लिखते हैं। अतएव उनका लेखन मौलिक कम, अनुवाद अधिक लगता है। वैज्ञानिकों और लेखकों को चाहिये कि वे चिंतन-मनन-लेखन राष्ट्र भाषा हिन्दी में करें। इससे जहाँ एक ओर हमारी राष्ट्रभाषा समृद्ध होगी, वहीं दूसरी ओर विदेशों में भी इसकी मान्यता बढ़ेगी, गौरव प्राप्त होगा। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हमें राष्ट्र भाषा के साथ ही साथ क्षेत्रीय भाषाओं को भी सीखना चाहिये।

डॉ॰ दिनेश मणि ने एक कृषि विज्ञानी की हैसियत से बोलते हुए बताया कि प्रयोगशालाओं में की गई शोध खेतों तक (कृषकों) तक तभी पहुँच सकेगी जब वह विचार किसान की अपनी भाषा में उस तक पहुँचाई जाये। इस-लिये राष्ट्र भाषा के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों में कृषकों की जो भाषा है, उसमें अनुवादित सामग्री उन तक पहुँचाने का प्रयास होना चाहिये। इस दृष्टि से क्षेत्र विशेष के वैज्ञानिकों का दायित्व अहम हो जाता है।

श्री प्रेमनाथ पाण्डेय ने राष्ट्रभाषा की उपेक्षा और हिन्दी विज्ञान लेखकों को निम्न कोटि के लेखक माने जाने पर दुःख व्यक्त किया। श्री राजेश कुमार सिंह ने सरकार की हिन्दी के प्रति ढुलमुल नीति और शोध-छात्रों द्वारा हिन्दी में शोध-पत्र प्रकाशित न करवाने की परम्परा में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। श्री अजय कुमार बरनवाल ने हिन्दी की पुस्तकों, शोध-पत्रिकाओं के अभाव को हिन्दी के विकास में अवरोध बताया। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि उत्तर पुस्तिकाओं ने हिन्दी में उत्तर लिखने वाले छात्राओं को परीक्षक कम नम्बर देते हैं। हिन्दी इससे भी विकसित नहीं हो पा रही है। सरल हिन्दी में मौलिक लेखन को प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

विचार गोष्ठी के अध्यक्ष डॉ॰ राम सुरंजन धर दुबे ने इस बात पर बल दिया कि हमें निराश नहीं होना चाहिये। परीक्षक हिन्दी में लिखने पर कम नम्बर नहीं देते। स्थितियाँ सुधर रही हैं। हिन्दी में ढेरों पुस्तकें हैं। यूरोप के सभी देशों में जाने पर 6 महीने उस देश की भाषा सीखनी पड़ती है। जापान में तो शोध-पत्र जापानी भाषा के अलावा किसी दूसरी भाषा में नहीं छपता। हमें हिन्दी में लिखकर गौरव का अनुभव करना चाहिये। वैज्ञानिकों को शोध-पत्र और पुस्तकों का प्रणयन राष्ट्रभाषा में ही करना चाहिये। हिन्दी दिवस मनाना अच्छी बात है। इस दिन का संकल्प सुखद परिणाम लायेगा।

अन्त में संचालक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी वक्ताओं और श्रोताओं के प्रति आभार व्यक्त करते हुए आशा व्यक्त की कि राष्ट्र भाषा राष्ट्र को एकजुट करती है और हिन्दी ऐसा ही करेगी।

■ ■

विदेशी निर्भरता के क्षेत्रों की पहचान जरूरी

डॉ० नरेन्द्र सहगल

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग भारत सरकार के संयुक्त सलाहकार एवं प्रमुख डॉ० नरेन्द्र सहगल ने भारतीय विज्ञान का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए कहा कि अब इस बात का गम्भीर अध्ययन करना आवश्यक हो गया है कि भारत किन-किन क्षेत्रों में किन-किन चीजों के लिए अमेरिका या उसके मित्र देशों पर इस कदर निर्भर है कि उनके बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता है, रक्षा को खतरा हो सकता है, अर्थव्यवस्था को धक्का पहुँच सकता है, आवश्यक आयात में बाधा आ सकती है।

डॉ० सहगल विज्ञान परिषद् के तत्वावधान में यहाँ 7 अक्टूबर को "भारतीय विज्ञान : गंतव्य एवं प्रयोजन" विषय पर 'डॉ० आत्माराम स्मृति व्याख्यान' दे रहे थे। डॉ० सहगल ने कहा कि ऐसे अध्ययन से ही भारतीय विज्ञान के कई लक्ष्य प्रयोजन एवं गंतव्य स्वयं निकल कर सामने आयेंगे। उन्होंने अपने विद्वतापूर्ण लोकप्रिय व्याख्यान में भारतीय विज्ञान की वर्तमान दशा एवं दिशा, भारतीय विज्ञान से अपेक्षायें, विज्ञान में व्यय, सरकारी निवेश के विषय में आँकड़ों सहित प्रकाश डाला।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० रामचरण मेहरोत्रा ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि एक सरकारी व्यक्ति होने की हैसियत से डॉ० सहगल का इस प्रकार की आँकड़ों सहित बिवेचना निःसन्देह साहसपूर्ण कदम है। उन्होंने इस बात के लिए डॉ० सहगल की प्रशंसा की। प्रो० मेहरोत्रा ते कहा कि स्वर्गीय डॉ० आत्माराम भी साहसिक वैज्ञानिक थे। प्रो० मेहरोत्रा ने 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' की प्रशंसा की।

समारोह का प्रारम्भ डॉ० सहगल और डॉ० मेहरोत्रा द्वारा डॉ० आत्माराम के चित्र पर माल्यार्पण से प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् डॉ० प्रभाकर द्विवेदी ने स्वागत गीत एवं वंदना गीत प्रस्तुत किया। प्रो० पूर्णचन्द्र गुप्ता ने सभी का स्वागत किया। प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने विज्ञान परिषद् का इतिहास और उपलब्धियों पर प्रकाश डाला। प्रो० शिवगोपाल मिश्र ने व्याख्यानदाता डॉ० सहगल का परिचय दिया, डॉ० मुरारी मोहन वर्मा ने संचालन किया और डॉ० चन्द्रिका प्रसाद ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

(अमृत प्रभात' 10 अक्टूबर '93 से साभार)

(7) विश्व खाद्य दिवस

16 अक्टूबर को 'विश्व खाद्य दिवस' के अवसर पर विज्ञान परिषद् में डॉ० मुरारी मोहन वर्मा की अध्यक्षता में 'बढ़ती जनसंख्या और खाद्यान्न' विषय पर एक विचार गोष्ठी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई। गोष्ठी के आयोजक एवं संचालक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने बताया कि इस वर्ष 'विश्व खाद्य दिवस' का 'डंकेल प्रस्ताव' के परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्व है। 'सुरसा' के मुँह की तरह बढ़ती जनसंख्या के दबाव के कारण कृष्य भूमि कम पड़ रही है। दूसरी ओर जंगलों के कटने से मरुस्थलों का विस्तार हो रहा है और साथ ही उपलब्ध कृष्य भूमि की गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। अनेक जीव जातियाँ विलुप्ति के कगार पर पहुँच गई हैं। अपने अध्यक्षपदीय उद्बोधन में डॉ० वर्मा ने बढ़ती जनसंख्या को अविलम्ब नियन्त्रित करने पर विशेष बल दिया क्योंकि खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि तो हो रही है पर उस मात्रा में नहीं जिसमें कि जनसंख्या बढ़ रही है। उन्होंने आगे बोलते हुए कहा कि उन्नत कृषि तकनीक, अच्छे बीज, निरापद उर्वरक एवं अच्छी सिचाई व्यवस्था से खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। हमें निराश नहीं होना चाहिये।

डॉ० आर० एस० डी० दुबे ने इस बात पर विशेष बल दिया कि जहाँ एक ओर खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता है, वहीं दूसरी ओर इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि भोजन संतुलित हो ताकि कुपोषण के शिकार होने वालों, विशेषकर बच्चों, की मृत्यु दर और अपंगता में कमी लाई जा सके।

डॉ० दिनेशमणि ने मिट्टी की गुणवत्ता को बढ़ाने और अनुर्वर भूमि को उर्वर बनाने पर बल दिया ताकि सीमित भूक्षेत्र में अधिक से अधिक खाद्यान्नों का उत्पादन किया जा सके।

इनके अतिरिक्त इस विचार-गोष्ठी में सर्वश्री उपेन्द्र वर्मा, अजय कुमार बरनवाल, उमाशंकर मिश्र आदि ने भी अपने विचार व्यक्त किए। अन्त में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

○○

विज्ञान परिषद् प्रयाग की बैलाडीला शाखा से

(8) विज्ञान परिषद् द्वारा "वन्य जीवन संरक्षण सप्ताह" का आयोजन

विज्ञान परिषद्, शाखा बैलाडीला द्वारा 5 अक्टूबर से 12 तक "वन्य जीव संरक्षण सप्ताह" के अवसर पर स्थानीय विद्यालयों के छात्रों एवं महाविद्यालयों के मध्य विभिन्न प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं जो निम्नवत् हैं—

1.	7 अक्टूबर 93	वन्य जीव संरक्षण एवं वन	निबन्ध प्रतियोगिता (कक्षा 9 से 12)
2.	8 अक्टूबर 93 एवं 9 अक्टूबर 93	चित्रकला प्रतियोगिता (वन्य जीव संरक्षण)	(कक्षा 1 से 5 तक
3.	11 अक्टूबर 93	क्विज प्रतियोगिता (वन्य जीव संरक्षण)	कक्षा 6 से कक्षा 8 तक
4.	10 अक्टूबर 93	कविता प्रतियोगिता (वन्य जीव संरक्षण)	1. कक्षा 6 से कक्षा 12 तक 2. महाविद्यालयीन विद्यार्थियों हेतु
5.	12 अक्टूबर 93	चित्रकला प्रदर्शनी एवं पुरस्कार वितरण (वन्य जीव संरक्षण)	

उल्लेखनीय है कि उक्त सभी प्रतियोगिताओं, विशेषकर निबन्ध प्रतियोगिता, में 63 विद्यार्थी विभिन्न विद्यालयों के एवं 384 विद्यार्थी चित्रकला प्रतियोगिता (विभिन्न विद्यालयों के) ने बढ़चढ़ कर भाग लिये।

निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लेने वाले विद्यार्थियों में से प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त करने वालों के नाम हैं :

1.	पुनीत कुमार मिश्रा	प्रथम	शा० क० उ० माध्यमिक विद्यालय, विद्यालनगर
2.	मा० रोनाल्ड सी० बी० सिंह	द्वितीय	प्रकाश विद्यालय, किरन्दुल, कक्षा 9
3.	कु० शिला रांगनेकर	तृतीय	केन्द्रीय विद्यालय, किरन्दुल, कक्षा 9

क्विज प्रतियोगिता में विभिन्न विद्यालयों के विद्यार्थियों की टीमों ने भाग लिया जिसमें से बी० आई० ओ० पी० जू० हा० स्कूल, कैलाश नगर, किरन्दुल ने प्रथम स्थान प्राप्त किया।

कविता प्रतियोगिता में विभिन्न विद्यालयों के छात्रों ने भाग लिया जिनमें प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान जिन्हें प्राप्त हुए उनके नाम हैं—

आशीष कुमार	केन्द्रीय विद्यालय, किरन्दुल	प्रथम
कु० अंजली चौधरी	नवीन हाई स्कूल, किरन्दुल	द्वितीय
कु० नन्दा नेताम	केन्द्रीय विद्यालय किरन्दुल	तृतीय

कविता प्रतियोगिता में महाविद्यालयीन छात्रों ने भी भाग लिया। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त करने वाले छात्र हैं—

1.	सुनील कुमार चौधरी	प्रथम
2.	कु० अनुपमा भारद्वाज	द्वितीय
3.	कु० पुष्पलता साहू	तृतीय

विभिन्न स्कूलों के प्राइमरी विद्यार्थियों ने चित्रकला प्रतियोगिता में भाग लिया। निम्न छात्रों को प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त हुए—

कनिष्ठ वर्ग

1.	संजय कुमार गुप्ता	कक्षा 3	प्रथम	डी० ए० व्ही० पब्लिक स्कूल, किरन्दुल
2.	अजय कुमार लाल	कक्षा 1	द्वितीय	केन्द्रिय विद्यालय, किरन्दुल
3.	कु० ममता	कक्षा 1	तृतीय	बी० आई० ओ० पी० इंग्लिश मीडियम स्कूल, किरन्दुल (नेहरू कालोनी)

वरिष्ठ वर्ग

1.	कु० सविता बघेल	कक्षा 5	प्रथम	केन्द्रीय विद्यालय, किरन्दुल
2.	मा० चन्दन	कक्षा 5	द्वितीय	शा० प्राथमिक विद्यालय, विद्यासागर, किरन्दुल
3.	कु० सीता शर्मा	कक्षा 4	तृतीय	डी० ए० व्ही० पब्लिक स्कूल, किरन्दुल

12 अक्टूबर को चित्रकला प्रदर्शनी समापन समारोह के अवसर पर आयोजित की गयी। समापन समारोह के अवसर पर मुख्य अतिथि डॉ० पी० कुमार, प्राचार्य, शासकीय स्नातक महाविद्यालय ने विजयी छात्रों को पुरस्कार वितरित किये। प्रकाश विद्यालय के प्राचार्य डॉ० माणिक्य थामस जी एवं परियोजना के वरिष्ठ शिक्षक श्री आर० पी० भारद्वाज जी ने इस आयोजन में "विद्यार्थियों में विज्ञान के प्रति रुझान होने के कारण उन्हें बधाई दी और हर्ष व्यक्त किया। परियोजना के महाप्रबन्धक माननीय श्री० जी० एस० पुरोहित जी ने इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत पुरस्कार वितरण हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

प्रस्तुति—डॉ० लालचन्द्र राजपूत
कोषाध्यक्ष, विज्ञान परिषद्, प्रयाग,
शाखा-बैलाडीला

परिषद् की जोधपुर शाखा से

(9) बम्बई में वैज्ञानिक महासभा

डॉ० राम गोपाल

प्राचीन परम्परागत भारतीय विज्ञान और टेक्नॉलोजी की महासभा बम्बई में आई० आई० टी०, बम्बई और पी० पी० एस० टी० फाउन्डेशन [पैट्रियाटिक पीपुल ओरियन्टेड साइन्स एण्ड टेक्नॉलोजी], मद्रास के संयुक्त तत्वावधान में 28 नवम्बर से 3 दिसम्बर 1993 के मध्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई। इस महासभा में परिषद् की जोधपुर शाखा के सभापति डॉ० रामगोपाल, संयुक्त निदेशक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर ने 'जल-प्रबन्ध' विषयक अपना शोध-आलेख प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त जल-प्रबन्ध से ही सम्बन्धित एक सत्र की अध्यक्षता भी की। इस महासभा में देश के चोटी के लगभग 1000 वैज्ञानिकों, तकनीशियनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, विचारकों, गाँधीवादी चिन्तकों, सरकारी, अर्द्धसरकारी, विश्वविद्यालयों, राष्ट्रीय प्रतिष्ठानों, गैर-सरकारी ट्रस्टों आदि के विशेषज्ञों ने भाग लिया।

परम्परागत विज्ञान और तकनीकी के अन्तर्गत विशिष्ट वार्तायें और समानान्तर तकनीकी सत्रों का अनेक विषयों पर आयोजन भी किया गया। ये विषय थे—कृषि, वास्तुकला, वन-विज्ञान, स्वास्थ्य-रक्षा, धातु एवं सामग्री, सामाजिक संगठन, वस्त्र, थ्योरिटिकल विज्ञान, कृमि विज्ञान, जल-प्रबन्ध, परम्परागत उद्योग। गणित व पाणिनी पर कार्यशालाओं के अतिरिक्त पोस्टर सत्र, उद्घाटन और समापन सत्र भी सम्पन्न हुए। प्राचीन उद्योग-धातु, हस्तकला लघु उद्योग के साथ उपरोक्त विषयों पर आधारित तकनीकों की प्रदर्शनी, गाँधी जी की 125वीं जयन्ती के अवसर पर आयोजित की गयी। देश में इस प्रकार का आयोजन पहली बार सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

'जल-प्रबन्ध' के एक तकनीकी सत्र का आयोजन डॉ० रामगोपाल की अध्यक्षता में हिन्दी में किया गया, जिसके प्रमुख वक्ता 'चिपको' व 'टेहरी बाँध योजना' से आकंठ जुड़े प्रसिद्ध पर्यावरणविद् श्री सुन्दरलाल बहुगुणा जी थे। श्री बहुगुणा जी ने हिमालय के पर्यावरण पर विकास के आक्रमण का उल्लेख करते हुए जल, मिट्टी, जंगल के ह्रास का विस्तृत वर्णन किया। पेयजल के स्रोत हिमानी पीछे खिसक रहे हैं। और तो और वस्तुओं के निर्यात के नाम पर होने वाली पानी की खपत के आधार पर हम पानी का ही निर्यात कर रहे हैं। श्री बहुगुणा जी ने परम्परागत आवास व जल–संचय, शुद्धि और उपयोग पर विधिवत प्रकाश डाला। इस विषय पर आपने विशिष्ट सत्र में भी वार्ता हिन्दी में ही दी, यह कहकर कि 'हृदय की बात करनी है तो मातृभाषा में ही अधिक स्पष्ट व मुखर होकर वाणी निकलती है'।

फिल्मों, पुस्तकों की प्रदर्शनी व विक्रय से भी प्रतिनिधियों ने पूर्ण लाभ लिया। 'आयुर्वेद-आज की स्थिति, शास्त्रीयत्व, आज का औचित्य एवं लोक स्वास्थ्य परम्परा के विकास में योगदान तथा भावी संवर्धन विचार' पर वैद्य मधुसूदन नानल की हिन्दी वार्ता (उद्घाटन सत्र की प्रमुख वार्ता) अत्यन्त चर्चित रही। इस प्रकार आयोजकों, वक्ताओं और प्रतिभागियों के सक्रिय योगदान से यह संगोष्ठी यादगार बन गई।

सभापति, विज्ञान परिषद्, जोधपुर शाखा, जोधपुर-342011 (राजस्थान)

■ ■

खतरनाक है सिर्फ दूध के लिए जानवरों को इन्जेक्शन लगाना

डॉ० आर० बी० चौधरी

भारतीय जीव-जन्तु कल्याण बोर्ड, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार के लखनऊ परिक्षेत्र के एक दल ने अपने एक अध्ययन के तहत पाया कि लखनऊ महानगर के विभिन्न क्षेत्रों में अधिकांश पशुपालक धड़ल्ले से हारमोन युक्त इन्जेक्शन लगाकर दूध निकाल रहे हैं। इन्जेक्शन लगाकर दूध दुहने की लत इतनी बढ़ गई है कि पशु-पालकों को लाभ के चकाचौंध में हानि का ख्याल ही नहीं रह गया है। उल्लेखनीय है कि हारमोन युक्त इन्जेक्शनों के प्रयोग से दूध निकालने की प्रक्रिया दैनिक उपयोग के लिए नहीं है। इसके प्रयोग की सिफारिश सिर्फ चिकित्सकीय कार्यों हेतु ही की गई है।

लखनऊ से प्रकाशित एक त्रैमासिक 'पशुपोषण अनुसंधान दर्शन' के अनुसार पशुओं को नियमित इन्जेक्शन लगाकर निकाले हुए दूध में पशु के रक्त और अस्थियों का घटक स्त्रावित होता है। गर्भवती महिलाओं के लिए यह दूध बड़ा ही नुकसानदेह है। ऐसे दूध का सेवन गर्भवती महिलाओं के गर्भ में पल रहे बच्चों के लिए हानिकारक है। ऐसे दूध के लगातार प्रयोग से गर्भवती महिलाओं में गर्भपात भी हो सकता है अथवा जन्म लेने वाली सन्तति विकृति का शिकार हो सकती है। नवजात शिशुओं के विकास पर इसका अत्यन्त घातक प्रभाव पड़ता है।

'पशुपोषण अनुसंधान दर्शन' में प्रकाशित इस रिपोर्ट के अनुसार पसु चिकित्सा अनुसंधान, बरेली, उ० प्र० कृषि अनुसंधान परिषद्, के विशेषज्ञों के मतानुसार हारमोनयुक्त दूध निकालने वाले इन्जेक्शनों की खुली बिक्री पर रोक लगाया जाना चाहिए और पशुपालकों को इसके गुण-दोष पर उचित जानकारी दी जानी चाहिए।

पत्रिका के प्रकाशित रिपोर्ट में यह दर्शाया गया है कि महानगर लखनऊ के 40-60 प्रतिशत जानवरों में इन्जेक्शन का प्रयोग किया जा रहा है, अर्थात् हर दूसरे पशु को इन्जेक्शन लगाकर दुहा जाता है। इन्जेक्शन सामान्यतया अधिकांश मेडिकल स्टोर्स पर 30 पैसे से 2 रुपये में उपलब्ध हो जाते हैं और पशुपालक बिना रोक-टोक खरीद कर लाते हैं। अपने इच्छानुसार प्रयोग करते हैं जबकि क्रेता और विक्रेता दोनों के लिए चेतावनी प्रत्येक एम्प्यूल पर छपी होती है।

इस रोचक रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि पशुपालक पशु को जब सुई लगाता है तो 5-7 मिनट में पशु से दूध उतर आता है। मान्सपेशियों में तेजी के साथ खिंचाव होने से दूध उतरने की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। फलस्वरूप शत-प्रतिशत दूध कोशिकाओं से बाहर आ जाता है। चूंकि पशुपालक को बिना बछड़े के सस्ते तरकीब से अधिक दूध मिल जाता है इसलिए वह पारम्परिक दुहने की विधियाँ छोड़ रहा है।

विशेषज्ञों के अनुसार इन्जेक्शन लगाने से 10-12 प्रतिशत दूध अतिरिक्त मिलता है। अर्थात् 10-25 रुपये का 30 पैसे में मुनाफा हो जाता है जबकि बार-बार इन्जेक्शन लगाने से पशु आदती हो जाता है और दूसरे ब्यात तक शारीरिक कमजोरी के कारण जर्जर हो जाता है। बरबस उसे कटने हेतु कसाईखाने जाना पड़ता है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि यह स्थिति कायम रही तो स्थानीय नस्लों का लोप भी हो सकता है। बल्कि पत्रिका का यह भी कहना है कि पहाड़ों पर नियमित इन्जेक्शन लगाने से पशुओं में जेर निकलने (प्रोलेप्स) की समस्या पाई गई है। विशेषज्ञों ने सरकार से यह आग्रह किया है कि इस दिशा में शीघ्र प्रभावी कदम उठाया जाना चाहिए अन्यथा विष्य में न केवल गो धन विकास एवं उत्पादन कुप्रभावित होगा बल्कि जन सामान्य का स्वास्थ भी कुप्रभावित होगा।

■ ■

हिन्दी विज्ञान लेखन प्रकोष्ठ, 4/227 विकासनगर, लखनऊ-226020

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय सुहृद

आप सभी के लिए नव वर्ष मंगलमय हों, कल्याणकारी हो। ढेरों खुशियाँ आपकी झोली में आयें। वर्ष भर आप स्वस्थ रहें, प्रफुल्लित रहें।

नये वर्ष का पहला अंक आपके हाथों में है। चाहते हुए भी हम पत्रिका के कलेवर और स्तर में सुधार नहीं कर पा रहे है। सम्पादक की पीड़ा में आप सभी पाठक भागीदार बने रहें। यह पत्रिका आपकी ही है।

पिछले वर्ष की देश की वैज्ञानिक उपलब्धियों पर एक नजर डालने से ऐसा कुछ नहीं दिखता जिस पर हम गर्व कर सकें। कुल मिलाकर जो बात उभर कर सामने आती है वह यह है कि सारे देश में **प्रो० मेघनाद साहा** और **प्रो० महालवनोस** की जन्म शताब्दी बड़े धूम-धाम से मनाई गई। **1 जनवरी 1994** को **डॉ० एस० एन० बोस** की जन्मशताब्दी होने के नाते बोस जन्मशती के कार्यक्रम भी प्रारम्भ हो गये थे। हम अपने वैज्ञानिकों की भूले नहीं है और उनकी जन्मशती पर श्रद्धांजलि स्वरूप व्याख्यानों, लेखों, संगोष्ठियों आदि के आयोजन करके देश और विज्ञान के लिए की गई उनकी सेवाओं का स्मरण करते हैं। यह युवा पीढ़ी के लिए निश्चय ही प्रेरणा-स्रोत का कार्य करता हैं।

हमें खेद है कि हम अपना वादा पूरा नहीं कर पाये। हमारी योजना थी कि "विज्ञान" का दिसम्बर 93 अंक मेघनाद साहा अंक होगा किन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ, जिन पर मेरा नियन्त्रण नहीं हैं, के कारण बचे लेख जनवरी 1994 अंक में सम्मिलित किए जा रहे हैं। यह मुझे ही अच्छा नहीं लग रहा है तो भला आपको कैसे अच्छा लगेगा।

कुछ और लिखने के पहले यहाँ एक अत्यन्त दु:खद समाचार का उल्लेख करना चाहूँगा। 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के आजीवन सभ्य, अन्तरंगी, एवं एक प्रतिष्ठित नागरिक **श्री लोकमणि लाल जी** का 80 वर्ष की वय में निधन हो गया। सिविल इंजीनियरिंग की डिग्री लेने के बाद आपने स्वतन्त्र रूप से अपना उद्योग खड़ा किया। आप अनेक शिक्षण संस्थाओं से भी जुड़े थे। श्री लोकमणि लाल जी विज्ञान परिषद् के प्राण ही थे। उन्होंने परिषद् को डेढ़ लाख से अधिक रुपयों का दान दिया था। परिषद् का विशाल सभागार उनके ही आर्थिक दान से मूर्त रूप ग्रहण कर सका। आप परिषद् से गहरे जुड़े थे। परिषद् ने आपके सुझावों का सदैव लाभ उठाया है। परिषद् द्वारा आयोजित सभाओं, व्याख्यानों, संगोष्ठिओं आदि में आप सदैव आते रहे हैं। युवा पीढ़ी के तो आप प्रेरणा-स्रोत थे। हमें आपकी कमी सदैव खलती रहेगी। किन्तु आपकी सादगी, विनम्रता, सुहृदयता, करुणा आदि गुणों के कारण हम आपको सदैव याद करेंगे। कृतज्ञ विज्ञान परिषद् परिवार आपको भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

इस माह की नगर की शैक्षणिक गतिविधियों में 'इण्डियन सोसायटी ऑव एनवायर्नमेंट' और कुलभास्कर आश्रम डिग्री कॉलेज के संयुक्त तत्वावधान में पर्यावरण के विभिन्न पक्षों पर एक द्विदिवसीय संगोष्ठी सम्पन्न हुई। 7 जनवरी को इस संगोष्ठी का उद्घाटन कानपुर विश्वविद्यालय के कुलपति **डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय** ने किया। अपने उद्बोधन में उन्होंने वेदों, वेदांगों, ब्राह्मण ग्रंथों से उद्धरण देते हुए बताया कि प्राचीन भारत में लोग पर्यावरण के संरक्षण के प्रति अधिक जागरूक थे।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अवकाश प्राप्त आचार्य **डॉ० उमाशंकर श्रीवास्तव** ने अपने विद्वतापूर्ण व्याख्यान में पर्यावरण के विभिन्न पक्षों पर आँकड़ों सहित प्रकाश डाला। डॉ० श्रीवास्तव ने गाँधी जी का उदाहरण देते हुए इस बात पर विशेष बल दिया कि हर व्यक्ति को अपनी जरूरतों को सीमित करना चाहिए। उन्होंने बढ़ती जनसंख्या पर नियन्त्रण की आवश्यकता को समझाया। उन्होंने युवा पीढ़ी, विशेष रूप स विद्यार्थियों, को पर्यावरण की समस्याओं से निपटने के लिए अपने आपको तैयार करने को कहा। उद्घाटन सत्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि सारा कार्यक्रम हिन्दी में हुआ। इस संगोष्ठी में देश के विभिन्न भागों से आये वैज्ञानिकों ने अपने शोधपत्र भी प्रस्तुत किये। कुलभास्कर आश्रम डिग्री कॉलेज के अतिरिक्त स्थानीय सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्यापकों ने भी अपना सक्रिय योगदान दिया। इस प्रकार वर्ष के प्रारम्भ होने के साथ ही शैक्षणिक गतिविधियों का प्रारम्भ हो जाना शुभ लक्षण है।

नये वर्ष में हम कुछ अच्छा करेंगे इस आशा और विश्वास के साथ।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1993

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1993 से दिसम्बर 1993 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1993 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1994 है।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद या रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे यह अंक : 5 रु०

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

मई
1994 अंक
मूल्य : 3 रु० 50 पैसा

विज्ञान परिषद्–इलाहाबाद

सम्पादकीय
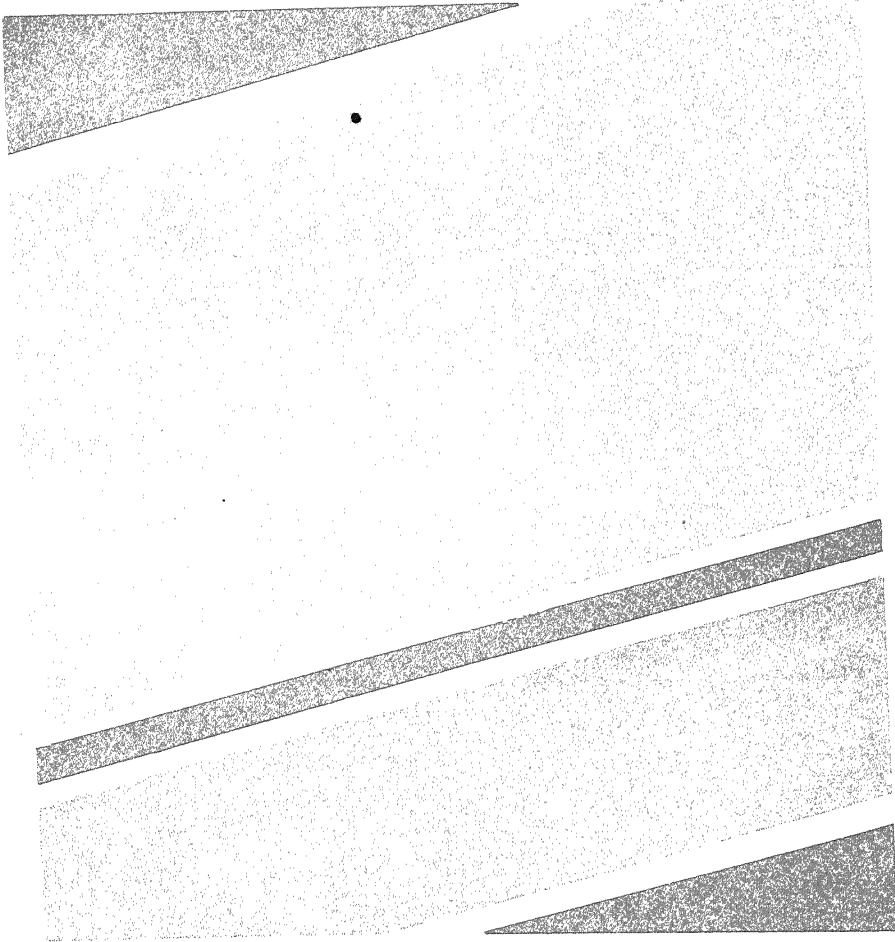
प्रिय पाठकगण !

'विज्ञान' का मई 1994 अंक आपके हाथों में है। यह अंक केसा बन पड़ा है, इसका निर्णय तो आप करेंगे। पत्रिका के कलेवर और स्तर की सुधार की दिशा में यह हमारा छोटा-सा प्रयास है। आपका सुझाव हमारा सम्बल है।

लेखकों से विशेष निवेदन है। प्रकाशित सामग्री के स्तर को ऊँचा करना मेरे साथ ही उनका भी दायित्व है।

मैने पिछले अंक में लिखा था कि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में वर्ष 1993 में अपना देश कोई विशेष उपलब्धि हासिल न कर सका था। किन्तु ऐसा लग रहा है कि वर्ष 1994 उपलब्धियों का वर्ष रहेगा।

अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने 4 मई को उस समय एक बड़ी सफलता प्राप्त की जब संवर्धित उपग्रह प्रक्षेपण यान ए एस एल वी डी-4 से रोहिणी श्रृंखला के दूसरे संवेदी उपग्रह स्रोस सी-2 को श्री हरिकोटा से पृथ्वी की समीप वाली कक्षा में सफलतापूर्वक पहुँचा दिया गया। यह उपग्रह पृथ्वी की कक्षा में निश्चित अण्डाकार परिपथ पर पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है। इसमें ऐसे संवेदी उपकरण फिट किए गए हैं जो विकिरण का पता करके आँकड़े भेजने का कार्य करेंगे और वायुमण्डलीय आँकड़ों को पृथ्वी पर भेजेंगे। उपग्रह का सम्भावित जीवन काल 8-9 महीनों का है। इस उपग्रह की खोज-खबर और निगरानी अनेक केन्द्र कर रहे हैं। भारतीय वैज्ञानिकों को बधाई।

भारतीय वैज्ञानिकों (सी एस आई आर) ने एक और भी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर ली है और वह यह है कि धरती के रक्षा कवच ओज़ोन पर्त को नष्ट करने वाले रसायन क्लोफ्लोरो कार्बन (सी एफ सी) का विकल्प हाइड्रोफ्लोरो कार्बन (एच एफ सी) 134ए, बना लिया है। यह रसायन आज़ोन पर्त को कोई नुकसान नहीं पहुँचाता है। एक अनुमान के अनुसार यदि 5 करोड़ रुपयों की लागत वाला एक पायलट प्लांट लगा दिया गया तो प्रति दिन 100 किलोग्राम से लेकर 125 किलोग्राम एच एफ सी 134ए, का उत्पादन मिल सकेगा। भारतीय वैज्ञानिकों को विश्वास है कि यदि उन्हें आवश्यक सुविधा और उचित प्रोत्साहन मिलता रहे तो 2006 तक भारत एच एफ सी 134-ए का व्यावसायिक उत्पादन करने में सक्षम हो जायेगा।

पिछले दिनों विज्ञान परिषद् की गतिविधियां भी उल्लेखनीय रही हैं। मुख्यालय और शाखाओं की गतितिवधियाँ अखबार की सुर्खियों में रहीं।

28 फरवरी को 'राष्ट्रीय विज्ञान दिवस' के अवसर पर परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 डी0 डी0 नौटियाल की अध्यक्षता में 'वैज्ञानिकों का दायित्व' विषय पर गोष्ठी सम्पन्न हुई। इस गोष्ठी में मुख्य वक्ता डॉ0 शिवगोपाल मिश्र के अतिरिक्त डॉ0 मुरारी मोहन वर्मा, डॉ0 सुनील दत्त तिवारी, श्री सुनील कुमार पाण्डेय, डॉ0 उमाशंकर मिश्र, श्री प्रेमनाथ पाण्डेय, श्री अजय कुमार बरनवाल, श्री अरुण कुमार सिंह, श्री देवी दयाल पाण्डेय, डॉ0 दिनेश मणि और चित्रकूट से आये डॉ0 बी0पी0 सिंह ने अपने विचार व्यक्त किए।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चिकित्सा विज्ञान संकाय के रीडर, डॉ0 केशव कुमार ने विज्ञान परिषद् (इलाहाबाद) में 'कुष्ठ रोग' पर बड़े ही सरल हिन्दी में विद्वतापूर्ण एवं सूचनाप्रद व्याख्यान दिया।

7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' के अवसर पर मुँह के रोगों का स्वास्थ्य से संबंध विषय पर प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव की अध्यक्षता में एक गोष्ठी सम्पन्न हुई जिसमें अध्यक्ष के अतिरिक्त डॉ0 दिनेश मणि, डॉ0 उमाशंकर मिश्र, श्री सुनील कुमार पाण्डेय, डॉ0 सुनील दत्त तिवारी आदि ने भी विचार व्यक्त किए।

परिषद की विभिन्न शाखाओं से प्राप्त सूचनाएँ भी उत्साह-वर्धक हैं। विज्ञान परिषद् की नवगठित शाखा की गतिविधियों को रिपोर्ट डॉ0 राजीव रंजन उपाध्याय जी ने भेजी है। अनेक व्याख्यान और गोष्ठियाँ सम्पन्न हुई हैं। सदस्यों की संख्या भी बढ़ी है।

परिषद् की जोधपुर शाखा के सभापति डॉ0 रामगोपाल, संयुक्त निदेशक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर की शाखा, रक्षा प्रयोगशाला और भारतीय भाषा संस्थान मैसूर के संयुक्त तत्वावधान में 'जनजातियों और आदिवासियों के लिए विज्ञान लेखन, पर के पाँच दिवसीय कार्यशाला (29 मार्च 1994 से 2 अप्रैल 1994) सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई। इस कार्यशाला में देश के अनेक हिन्दी विज्ञान लेखक आमंत्रित थे। इलाहाबाद से डॉ0 शिवगोपाल मिश्र, प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, डॉ0 शुक्रदेव प्रसाद, डॉ0 दिनेश मणि, श्री विजय जी, फैजाबाद के डॉ0 राजीव रँजन

उपाध्याय और डॉ0 गिरीश चन्द्र पाण्डेय, वाराणसी से डॉ0 आर0 सी0 तिवारी, दिल्ली से श्री तुरशत पाल पाठक और श्री सुभाष चन्द्र लखेड़ा, रोहतक (हरियाणा) से पद्मश्री डॉ0 नन्द किशोर वर्मा, शिमला से डॉ0 सी0 एस0 पाण्डेय, जोधपुर के डॉ0 रामगोपाल, श्रीमती डॉ0 सुशीला राय, डॉ0 डी0 डी0 ओझा, डॉ0 आर0 सी0 कपूर सहित महिला कॉलेज (गृह विज्ञान विभाग) की अनेक शिक्षिकाओं और विद्यार्थियों ने भाग लिया और अपने आलेख प्रस्तुत किए। इस अवसर पर अनेक व्याख्यान भी आयोजित किए गए।

वाराणसी शाखा के सचिव डॉ0 श्रवण कुमार तिवारी की सूचना के अनुसार श्री सालिग्राम भार्गव व्याख्यानमाला के अंतर्गत् सन् 1993 का व्याख्यान (वाराणसी शाखा द्वारा आयोजित) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में विज्ञान संकाय के प्रमुख प्रो0 देवेन्द्र कुंमार राय ने 'प्रकाश-गैल्वानिक स्पेक्ट्रोस्कोपी' विषय पर अपना विद्वतापूर्ण व्याख्यान दिया। जोधपुर शाखा ने 'डॉ0 रत्नकुमारी स्मृति व्याख्यानमाला' श्रृंखला के अंतर्गत विदुषी डॉ0 श्रीमती कृष्णा कपूर द्वारा भारतीय महिलाओं की आज के समाज में क्या स्थिति है, इस विषय पर व्याख्यान करवाया।

रोहतक शाखा के चुनाव सम्पन्न हो चुके हैं। नये पदाधिकारियों ने कार्यभार संभाल लिया है।

सी0 एस0 आई0 आर0 ने "विज्ञान" पत्रिका के लिए वार्षिक अनुदान 25 हजार से बढ़ाकर 30 हजार रुपये कर दिया है। मैं अपनी ओर से, परिषद् की ओर से और विज्ञान परिषद् परिवार की ओर से सी0 एस0 आई0 आर0 के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

कहना बहुत कुछ है पर पृष्ठ की सीमा है अतएव अपनी बात यहीं समाप्त करते हुए आप सभी से एक बार पुनः निवेदन करता हूँ कि पत्रिका के स्तर को सुधारने में हमारे प्रयास में सहभागी बनें।

शुभकामनाओं सहित।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान विस्तार

1. आबादी क्षेत्रों के वन्य प्राणी—*कु. ए. एस. चम्पावत एवं डॉ. सतीश कुमार शर्मा*
2. प्राचीन भारत में चिकित्सा विज्ञान—*डॉ. विजय कुमार उपाध्याय*
3. सुख समृद्धि की प्रतीक : मिट्टी—*डॉ. दिनेश मणि*
4. जहाँ भी चाहो वहीं लगाओ, इसके भीतर पौधे पनपाओ—*डॉ. सुधीरेन्द्र शर्मा*
5. बुग्याल पर गहराता संकट—*डॉ. (कु.) पूनम विष्ट*
6. विज्ञान वार्ता—*डॉ. अरूण आर्य*
7. पंजाब में विज्ञान—लोकप्रियकरण—*डॉ. नरेन्द्र सहगल*
8. श्री लोकमणि लाल—व्यक्तित्व एवं कृतित्व—*श्रीमती कृष्णा गुप्ता*

आबादी क्षेत्रों के वन्य प्राणी

□ कु० ए० एस० चम्पावत[1] एवं डॉ० सतीश कुमार शर्मा[2]

वन्य प्राणियों की बात चलते ही दुर्गम वनों का चित्र मन में उभरने लगता है। एक आम व्यक्ति यही अनुमान लगाता है कि वन्य प्राणी केवल वनों में ही मिलते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि वन्य प्राणियों की एक बड़ी संख्या कृषि, बागवानी एवं बंजर क्षेत्रों में निवास करती है। यही नहीं, वन्य प्राणियों की एक बड़ी संख्या वन्य या अर्द्ध-पालतू की तरह मनुष्य के आबादी क्षेत्रों में निवास करती है।

कुछ वन्य प्राणियों को पालतू की तरह मनुष्य सदियों से रखता आया है। प्राचीन समय में राजा-महाराजा एवं धनवान-उमराव लोग सिंह, बाघ, चीता, मृग आदि वन्य प्राणियों को पालते थे। मध्यम वर्ग के लोग मुर्गा, तोता, मैना, नेवला, मुनिया, गोरैया आदि पाल कर अपना शौक पूरा करते थे। कुछ प्राणी जैसे बंदर, नेवला, सांप, बिल्ली रीछ आदि संपेरे, नट व बाजीगर जैसे लोग समाज के मनोरंजन हेतु पालते थे। आज भी हमारे समाज में लोगों द्वारा एक्वेरियम मछलियां, तोता, मैना, बया, मुनिया, खरगोश, बाज, मोर, बजरी तोता, कबूतर, नेवला, बुलबुल, मुर्गा, बिल्ली, तीतर, बटेर आदि को पालते हुए देखा जा सकता है। सदियों से चली आ रही पशु-पक्षी पालन प्रक्रिया में मुर्गा, शूकर, गाय-बैल, भैंस, ऊंट, घोडा, गधा, बकरी, भेड़ , याक, कुत्ता जैसे प्राणी पूर्णतया पालतू हो चुके हैं। जब कि शेष पूर्ण पालतू नहीं हो पाये। अतः उन्हें विशेष पिंजरों व बाड़ों में ही रखना पड़ता है तथा एक सीमा से ज्यादा उन्हें स्वछन्द नहीं छोडा जा सकता।

शौक के लिए पाले गये वन्य प्राणी गैर आबादी क्षेत्रों (वनों आदि) से पकड़े जाते हैं। परन्तु आबादी क्षेत्र में अनेक ऐसे वन्य प्राणी भी हैं जो मनुष्य के द्वारा बसाये गये गांव में पूर्णकालिक या अंशकालिक बसेरा लेने हेतु स्वतः ही आ जाते हैं। ये प्राणी आबादी क्षेत्र में अलग-अलग सूक्ष्म आवासों में निवास करने लगत हैं तथा जैविक रूप से सहभोजी, सहजीवी, परजीवी व परभक्षी बन कर जीने लगते हैं। भाग-दौड़ की आधुनिक जिंदगी में हम हमारे जीवन-तन्त्र के इस घटक पर बहुत थोडा ध्यान दे पाते हैं जबकि इनका जैव-पारिस्थितिकि महत्त्व किसी भी तरह कम नहीं है।

आबादी क्षेत्र में वन्य प्राणियों का वितरण

एक औसत भारतीय शहरी आबादी में मुख्यतया निम्न वन्य प्राणी पाये जाते हैं (सारणी 1):

सारणी 1 : औसत भारतीय शहर में निवास करने वाले वन्य प्राणी।

क्रमांक	वर्ग	वन्य प्राणियों का नाम
1.	उभयचारी	मेढक, टोड
2.	सरीसृप	छिपकली, गिरगिट, स्नेक स्किंक, तरह-तरह के सांप आदि।

1. म० व० से०, उपवन संरक्षक, अरावली वृक्षारोपण परियोजना, उदयपुर (मध्य)—313001
2. क्षेत्रीय वन अधिकारी, अरावली वृक्षारोपण परियोजना, झाडोल (फ०), जिला-उदयपुर—313702

3.	पक्षी	घरेलू गोरैया, कबूतर, पेरिया काइट, सनबर्ड, घरेलू, कौआ, तोता, बुलबुल, टीटोडी, बैंक मैना, कोमन मैना, पीड मैना, इण्डियन रॉबिन, बी-ईटर, विभिन्न तरह के वेग-टेल, तरह तरह की फाख्ता जैसे रिंग डव, से नेगल डव; मोर, हार्नबिल, कोयल आदि।
4.	स्तनधारी	चूहे, मूषक, गिलहरी, घरेलू बिल्ली, छछुन्दर, चमगादड, बंदर, लंगूर, फ्लाईग फॉक्स, सिवेट, आदि।
5.	अपृष्ठवंशी	मक्खी, मच्छर, तिलचट्टा, अन्य कीट-पतंगे, बिच्छू, कनखजूरा, मकड़ी, केंचुये आदि।

आबादी परिवेश में वन्य प्राणियों की जिन्दगी मजे में चल जाती है। घरों की उर्ध्व आंतरिक दीवारों पर छिपकलियां निवास करती हैं तथा रोशनी के स्रोत के आस पास आने वाले व दीवारों पर बैठे कीट-पतंगों का सफाया करती हैं। छिपकलियां घर की बाहरी दीवारों पर जाने से बचती हैं। बाहरी दीवारों पर परभक्षी पक्षियों से खतरा बना रहता है तथा आंखों पर पलकें नहीं होने के कारण बाहरी तेज प्रकाश में आखें चौंधियानें की दिक्कत भी रहती है।

गिरगिट घरों के आहातों के उद्यानों में बसते हैं तथा घरों के अन्दर नहीं जाते। वनस्पतियों पर आने वाले कीट-पतंगों को ये खा कर जीवन यापन करते हैं। पौधों में पुष्प आने पर अनेक कीट मकरन्द की तलाश में आते हैं उन्हें गिरगिट खा जाते हैं।

स्किंक घरों के बाहर पत्थरों व कूडे-कबाड़े के ढेरों के नीचे रहते हैं तथा वहां भूमि तल पर निवास करने वाले कीट-पतंगों को खाते हैं।

आबादी क्षेत्रों में अलग-अलग पक्षी अलग-अलग जगहों पर रहते हैं। धार्मिक स्थान जहां चुग्गा डाला जाता है वहां नीले कबूतर, घरेलू गोरैया फाख्ता आदि चुगती हुई नजर आ जाती हैं। उद्यानों में हार्नबिल, कोयल, सनबर्ड, उल्लू मिल जाते हैं। चिडियाघरों, मांस-मछली की दूकानों, वधगृहों, अस्पतालों के पास पेरिया काइट मिलती हैं तथा मांस के टूकडों एवं चूहों आदि को आश्चर्यजनक ढंग से बिजली व टेलिफोन के तारों व अन्य अवरोधों से बच कर निपुणता से पंजों में दबा कर उड़ जाती है तथा शहर में सफाई का कार्य करती है।

गंदगी व कचरे के ढेरों के पास पीड मैनायें मिल जाती हैं। बस-स्टेण्ड, रेलवे-स्टेशन एवं जूठन पड़े रहने के स्थानों पर मैनायें विशेष कर बैंक मैना निवास करती है। पुरानी ईमारतों में हाउस स्वीफ्ट निवास करती है तो कौवा हर कहीं मिल जाता है।

शहर में गंदे पानी की नालियों व रिसाव से पानी से भरे निचले स्थानों के आस पास टीटोडी, वेगटेल, केटल इग्रेट जैसे पक्षी मिल जाते हैं। शहर के अन्दर या परिधि पर मिलने वाली झीलों व जलाशयों में कई स्थानीय पक्षी तथा सर्दियों में विदेशी पक्षी मिल जाते हैं।

फल उद्यानों में तोता, कापर-स्मिथ, कोयल, हार्नबिल, बुलबुल, जैसे पक्षी मिल जाते हैं।

बिल्ली, चूहे-मूषक, छछुन्दर घरों, गोदामों व दूकानों में मिल जाते हैं। गिलहरी उद्यानों में, चमगादड़ भवनों की दरारों में, बंदर-लंगूर धार्मिक स्थानों के आस पास अधिक निवास करते हैं। फ्लाईग फॉक्स बरगद व अन्य विशालकाय वृक्षों पर उल्टे लटके दिन में दिखाई देते हैं तथा रात्रि को भोजन की तलाश में निकल जाते हैं। सिवेट दिन में सुरक्षित स्थानों पर सोये रहते हैं तथा रात पड़ते ही भोजन की तलाश में निकलते हैं। ये प्राणी जहां कहीं मीठा भोजन मिलने की गुंजाइश हो वहां ज्यादा रहना पसंद करते हैं। हलवाइयों की मिठाइयों व किराना स्टोरों के गुड़-चीनी तक ये छुप कर खा जाते हैं।

मक्खी, मच्छर, तिलचट्टा, मकड़ी घरों में खूब मिलते हैं। शौचालय एवं रसोईघरों में रात्रि में तिलचट्टों एवं उनके निम्फों की फौज प्रकट हो जाती है। घास के लानों एवं उद्यानों की मिट्टी

में केंचूये पाये जाते हैं जो मानसून काल में वर्षा की झड़ी लगने पर बाहर निकलते हैं। अन्य दिनों में मिट्टी की छोटी-छोटी गोलियों के ढेरों की उपस्थिति से ही इनके भूमिगत होने का आभास मिलता है।

मेंढक-टोड जैसी उभयचारी जातियां नम जगहों जैसे उद्यानों-पार्कों, जलाशयों आदि में मिलती हैं। कई बार रात को ये प्राणी बिजली की रोशनियों के नीचे कीटों को खाते नजर आते हैं।

वन्य प्राणी क्यों आते हैं आबादी क्षेत्रों में ?

वस्तुतः हर आबादी क्षेत्र किसी वन क्षेत्र या कृषि क्षेत्र पर बसना प्रारम्भ करता है तथा धीरे धीरे फैलाव लेने लगता है। आबादी पनपने से पहले के स्थानीय निवासी वन्य प्राणी, मनुष्य आबादी बसने पर या तो वहीं नई परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप को ढाल कर बने रह जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। अनेक अपना स्थान बदल कर अन्य क्षेत्रों में पलायन कर जाते हैं। वैसे आबादी क्षत्रों में निवास करने वाले वन्य प्राणियों का आना-जाना निर्बाध गति से चलता रहता है। विशेषकर परिधि छोर के प्राणी ज्यादा आना-जाना करते हैं।

आबादी क्षेत्र में भोजन तथा प्रजनन स्थानों की विपुल उपलब्धता तथा आवासीय विविधता एवं उपलब्धता वन्य प्राणियों को अपनी ओर खींचती है। वनों एवं कृषि क्षेत्रों में पुराने सूखे, विशाल वृक्षों को ईंधन व अन्य उपयोग हेतु काट लिया जाता है जब कि शहरों में वृक्ष सुरक्षा ऐजेंसियों व अनेक विभागों तथा प्रबद्ध जनता के कारण कटने से बच रहते हैं। बूढे वृक्षों के खोखलों तथा कोटरों में अनेक छिद्र प्रजनक (hole nesters) पक्षी जैसे तोते, कॉपर-स्मिथ, हार्नबिल आदि प्रजनन करते हैं। फलों के वृक्षों पर अनेक प्राणी जैसे तोता, बुलबुल, कॉपर-स्मिथ, गिलहरी आदि भोजन प्राप्त करते हैं।

बूचड खाने, वध-गृह, मांस-मछली की दूकानें, गन्दगी के ढेर, अस्पताल की गन्दगी, मन्दिरों व अन्य धार्मिक स्थानों के चढावे, बस-स्टैण्ड, रेलवे स्टेशन, सिनेमा हालों, सब्जी मण्डी व अन्य सार्वजनिक स्थानों पर खाद्य व अन्य अखाद्य गन्दगी, भण्डार गृह एवं अनाज मण्डियों से भोज्य दानों की लीकेज, रात्रि में बिजली के बल्बों व ट्यूब लाइटों के पास कीट पतंगों की सघन उपस्थिति, रसोईघर अपशिष्ट, जूठे दोने-पत्तल आदि अलग-अलग प्रकार के भोजन व भोजन स्तर सहज व हर समय आबादी क्षेत्रों में मिलते हैं जो खाद्य श्रृंखलाओं से इस तरह जुड़ जाते हैं कि वन्य प्राणियों की अनेक किस्में व उन किस्मों की विविध संख्या अपना भोजन जुटाने में सफल हो जाती है फलतः स्थायी भोजन-स्रोत मिलने के कारण विभिन्न जातियां अधिकाधिक शहरी क्षेत्र में बनी रहने लगती हैं।

आबादी क्षेत्र में वन्य प्राणियों का व्यवहार

शहरी परिवेश में भोजन व अन्य आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये वन्य प्राणियों ने अपने स्वभावों में परिवर्तन लाना शुरु कर दिया है। कई दिनचारी प्राणी रात्रिचर प्राणी की तरह व्यवहार करने लगे हैं। उदाहरणार्थ ब्लेक ड्रोंगों (पत्रिंगा) नामक दिनचर पक्षी, जो हवा में उड़ते कीट-पतंगों को पकड कर खाता है, अब शहरों में रात्रि को बिजली की रोशनियों के पास उड़ते कीट-पतंगों को खाते नजर आने लगा है। बिजली की रोशनी के पास समगादडों व मेंढकों का अधिक जमाव देखा जा सकता है।

आबादी परिवेश में पक्षियों को बैठने के (परचिंग स्टेशन) नये स्थान उपलब्ध होने लगे हैं जैसे बिजली व टेलिफोन के खम्भे व तार, टेलिविजन के एंटिना व टावर, रेलवे स्टेशन, बस-स्टेण्ड, फेक्ट्रियों आदि के टिन-शेड।

पक्षियों को प्रजनन के भी नये क्षेत्र मिलने लगे हैं। अनेक पक्षी जो मनुष्य सभ्यताओं के विकास से पूर्व जहां वृक्षों में घोसले बनाते थे, अब बिजली व टेलिफोन के खम्भों, टिन-शेडों के नीचे, रोड लाइटों के ढक्कनों, दिवारों के छेदों, भवनों की छत पर जल निकास के पाइपों में भी घोंसलें बनाने लगे हैं। यहां तक कि अब नीड़-निर्माण सामग्री में भी परिवर्तन आने लगा है। जहां पहले तिनके व टहनियां नीड-निर्माण की सामग्री हुआ करती थीं, अब प्लास्टिक, कपड़े, तार, डोरियां कागज, रेग्जिन आदि चीजें पक्षियों के घोसलों में मिलने लगी हैं। कौवों ने तो कई शहरों में लोहे के तारों व लोहे की वस्तुओं से ही घोंसले बनाने का काम प्रारम्भ कर दिया है।

आबादी क्षेत्र में वन्य प्राणियों की भूमिका

आबादी क्षेत्रों में प्रतिदिन काफी मात्रा में कचरा पैदा होता है। यही कचरा प्रदूषण का कारण भी बनता है। अनेक प्राणी इस कचरे से अपना भोजन प्राप्त करते हैं तथा सफाई का कार्य

निःशुल्क करते हैं। वध-गृहों, बूचडखानों के पास के अपशिष्टों को पेरिया काइट व कौवे, गिद्ध आदि खा जाते हैं। जूठन को भी अनेक पक्षी साफ कर जाते हैं। कीट-पतंगों को पक्षी, चमगादड़, छिपकली, गिरगिट, मेंढक, टोड, मकड़ी, कनखजूरे आदि खा कर नष्ट कर देते हैं। चूहों व मूषकों को बिल्ली, छछुन्दर, उल्लू, सांप आदि नष्ट करते रहते हैं। आबादी क्षेत्र में छछुन्दरों की रक्षा के लिए प्लेग-कमीशन ने भी सिफारिश की है। क्यों कि प्लेग फैलाने वाले पिस्सुओं के वाहक चूहों को ये प्राणी नष्ट करते हैं।

सनबर्ड, फ्लाईंग फॉक्स आदि फूलों में पर-परागण करते हैं। केंचूए आबादी क्षेत्रों के पार्कों व लानों को उपजाऊ रखते है। पक्षी अपनी उपस्थिति से परिवेश को अधिक सजीव व आकर्षक बनाते हैं। बड़ी झीलों व जलाशयों में पक्षी झीलों की सुन्दरता को चार चांद लगा देते हैं। ऐसे क्षेत्र ट्यूरिस्ट महत्व के हो जाते हैं। जो लोग पक्षी व वन्य प्राणी अवलोकन हेतु बाहर नहीं जा सकते वे इनका अध्ययन व अवलोकन अपने आस पास ही कर सकते हैं।

आबादी क्षेत्र में वन्य प्राणी संरक्षण

आबादी क्षेत्र में बसे वन्य प्राणियों की सुरक्षा की जानी चाहिये। बड़े व पुराने वृक्षों को कम से कम हटाया जाना चाहिए ताकि उनके खोखले स्थानों में पक्षी प्रजनन कर सकें। खाली पड़े स्थानों पर अधिकाधिक वृक्षारोपण करना चाहिये ताकि शहरों में "अन्तः आबादी वन" पनप सकें। झीलों में पक्षियों तथा मछलियों के शिकार पर रोक लगाई जानी चाहिऐ एवं नौका विहार विशेष कर मशीन चलित-नौका-विकार का भी उचित नियमन किया जाना चाहिये।

अपशिष्ट जल के गड्ढ़ों के आस पास विविध तरह की वनस्पति का रोपण कर उन्हें लघु-पक्षी आश्रय स्थल के रूप में भी विकसित किया जा सकता है। रोपित पौधों की सिंचाई अपशिष जल से की जा सकती है। विश्व-वानिकी वृक्ष उद्यान, जयपुर में अपशिष्ट पानी के संग्रह स्थल को एक लघु पक्षी आश्रय स्थल के रूप में विकसित किया जा रहा है। जयपुर शहर में तो एक ऐसा विचित्र पक्षी अस्पताल भी है जहां शहर के बीमार, घायल व अनाथ पक्षियों को शरण दी जाती है। तथा उनकी प्रशिक्षित डाक्टरों द्वारा चिकित्सा भी की जाती है। बड़े-बड़े शहरों में ऐसे अस्पताल स्थापित किये जा सकते हैं या पशु-चिकित्सालयों में ही पृथक से एक प्रकोष्ठ कायम किया जा सकता है।

शहरों में बिलजी व टेलिफोन के तारों से टकरा कर कई पक्षी मारे जाते हैं या घायल हो जाते हैं। सड़क दुर्घटनाओं में भी शहरों में पक्षी व छोटे वन्य प्राणी मारे जाते हैं। शहरी वाहन चालकों को छोटे-छोटे वन्य प्राणियों को बचाने में उतनी ही सजगता दिखानी चाहिये जितनी कि किसी व्यक्ति को बचाने हेतु दिखाई जाती है। नियंत्रित गति एवं हार्न के उचित उपयोग द्वारा पक्षियों को सड़कों पर मरने से बचाया जा सकता है।

शहरों में चुग्गा स्थलों को सड़क से काफी दूर स्थापित किया जाना चाहिये तथा सड़कों पर चुग्गा नहीं डालना चाहिये। बूचड़खानों को भी शहर से बाहर स्थानान्तरित किया जाना चाहिये ताकि अनेक मांसाहारी पक्षी शहर के बाहर ही बने रहें।

पतंगों की उलझी हुई डोरियां भी आबादी क्षेत्र में वन्य प्राणियों को घायल करने का एक बड़ा कारण बनती हैं। स्कूली छात्र एवं स्वयं पतंगबाज पतंग की डोरियों से हुई दुर्घटना से छूटकारा दिलाने में मदद कर सकते हैं। जहां कहीं पतंग की उलझी डोरी नजर आये उन्हें हटाया जाना चाहिये। पतंगों के त्योहार के अगले ही दिन सामूहिक टोलियां बना कर सारे शहर की कटी हुई डोहियों को हटाया जा सकता है ताकि हमारे वन्य प्राणी व मनुष्यजन पतंगों की डोरियों से कटने से बचे रहें।

शहरों में कई लोग छोटे-छोटे पशु-पक्षियों को पालने का शौक रखते हैं। इन प्राणियों को बंदी रखने के लिये अक्सर बहुत छोटे पिंजरों का प्रयोग किया जाता है जो अनुचित है। कम से कम इतना बड़ा पिंजरा अवश्य होना चाहिये ताकि बंदी प्राणी आसानी से घूम सके। पिंजरे में बंदी प्राणी के भोजन, पानी व चिकित्सा की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिये तथा मौसम के अनुसार पिंजरे को धूप-छांव में रखा जाना चाहिये।

जो लोग दूर दराज के वन्य प्राणी बहुल क्षेत्रों में वन्य प्राणियों की सुरक्षा हेतु योगदान नहीं दे पाते हैं उन्हें कम से कम अपने शहर के बाशिंदा वन्य प्राणियों को बचाने में अवश्य मदद करनी चाहिये ताकि मनुष्य के आबादी क्षेत्र और सजीव बने रहें।

□□□

प्राचीन भारत में चिकित्सा विज्ञान

□ डॉ. विजय कुमार उपाध्याय
प्राध्यापक, भू-विज्ञान विभाग
इंजीनियरिंग कॉलेज, भागलपुर-813210 (बिहार)

भारत में चिकित्सा विज्ञान के अभिलेख की शुरुआत 'अथर्ववेद' से होती है। इसमें जादू-टोना तथा मंत्रों के साथ-साथ चन्द रोगों तथा उनके लक्षणों का विवरण दिया गया है। औषधों के उपयोग का प्रारंभ जादू के एक अंग के रूप में किया गया। उपचारकर्ताओं ने पार्थिव साधनों का अध्ययन एवं उपयोग अपने आध्यात्मिक सूत्रों के सहायक के रूप में किया। धीरे-धीरे इन पार्थिव साधनों पर ही चिकित्सकों ने अधिक भरोसा करना प्रारम्भ किया।

अथर्ववेद का ही उपवेद था 'आयुर्वेद'। आयुर्वेदिक ग्रंथों के अनुसार कोई भी बीमारी मानव शरीर में उपस्थित तीन दोषों में से किसी एक के भी असंतुलन के कारण होती है। ये तीन दोष हैं– कफ, पित्त तथा वायु। बीमारियों की चिकित्सा हेतु जड़ी-बूटियों एवं जादू-टोना के उपयोग की सलाह दी गयी थी। इन पुस्तकों में वर्णित रोग-निदान की विधि तथा चिकित्सा-पद्धति को आज भी भारत में अपनाया जा रहा है। अथर्ववेद में हज़ारों जड़ी-बूटियों तथा उनके उपयोग के विवरण दिये गये हैं। कहीं-कहीं जल-चिकित्सा का भी वर्णन मिलता है।

चरक तथा **सुश्रुत** प्राचीन भारत के महान चिकित्सकों में गिने जाते हैं। सुश्रुत का जीवनकाल पाँचवीं शती ई०पू० तथा चरक का जीवन काल दूसरी शती ई०पू० में था। उपलब्ध अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि सुश्रुत काशी में आयुर्वेद पढ़ाया करते थे। उनके द्वारा एक पुस्तक लिखी गयी जिसका नाम है–"सुश्रुत संहिता"। इसमें विभिन्न प्रकार के रोगों का निदान तथा चिकित्सा का विवरण दिया गया है। सुश्रुत संहिता में रोगों के निदान एवं चिकित्सा के अतिरिक्त शल्य-क्रिया, आहार, स्नान, औषध-निर्माण, शिशु-आहार एवं स्वास्थ्य तथा चिकित्सा-शिक्षा का विवरण भी मिलता है। सुश्रुत ने अपने ग्रंथ में शल्य-क्रियाओं का विस्तृत विवरण दिया है। मोतियाबिन्द, हर्निया इत्यादि रोगों को हमें शल्य-क्रिया द्वारा ठीक करने की सलाह दी गयी है। उन्होंने 121 ऐसे उपकरणों एवं औजारों का विवरण दिया है जिनका उपयोग शल्य-क्रिया में किया जाता था। ऐसे औज़ारों में शामिल थे शल्य-छुरिका, चिमटा, मूत्राशय की सलाई (कैथेटर) तथा गुदा एवं योनि की जांच के लिये वीक्षण यंत्र इत्यादि। सुश्रुत ने शल्य-चिकित्सकों के प्रशिक्षण हेतु शवों के चीर-फाड़ को आवश्यक बताया था। वह संसार का पहला चिकित्सक था जिसने फटे हुए कान को शरीर के अन्य भाग से लिये गये चमड़े की सहायता से ठीक किया था। इस प्रकार 'स्किन-ग्राफ्टिंग' की विधि हमारे देश में बहुत पहले शुरू कर दी गयी थी। सुश्रुत ने शल्य-क्रिया द्वारा कटी हुई नाक काह पुनर्निर्माण भी किया था।

चरक द्वारा भी एक ग्रंथ लिखा गया जिसका नाम है "चरक संहिता"। इस ग्रंथ में भी रोग-निदान, चिकित्सा, औषध-निर्माण इत्यादि का समावेश किया गया है। प्रसूति-विज्ञान, वाजीकरण तथा यौन रोगों एवं उनके उपचार की चर्चा भी इस ग्रंथ में विस्तारपूर्वक की गयी है।

ईसा बाद दूसरी शती में एक और महान आयुर्वेदज्ञ का जन्म हुआ, जिनका नाम था–**नागार्जुन**। लोगों का विश्वास था कि नागार्जुन के सिर्फ दर्शन मात्र से सारी बीमारियां या विपत्तियां दूर हो जाती थीं। नागार्जुन ने आयुर्वेद के अध्ययन एवं अध्यापन में अपना बहुमूल्य योगदान दिया तथा अनेक प्रकार की ओषिधियों का निर्माण किया। तरह-तरह के चूर्ण, भस्म, आसव, अरिष्ट इत्यादि के निर्माण की विधियां इनके द्वारा विकसित की गयीं।

चरक, सुश्रुत तथा नागार्जुन के पूर्व भारत में दो और ख्यातिप्राप्त चिकित्साविद हो चुके थे, जिनके नाम हैं **धन्वन्तरि**

तथा **आत्रेय**। अनेक विद्वानों की मान्यता है कि सुश्रुत धन्वन्तरि के ही शिष्य थे तथा अपनी संहिता में वर्णित निदान तथा चिकित्सा की विधियां उन्होंने अपने गुरु धन्वन्तरि से ही सीखी थी। धन्वन्तरि अपने समय के पर्याप्त सम्मानित व्यक्ति थे तथा लोग उन्हें देवता के समान मानते थे। आत्रेय का जीवनकाल छठी शती ई०पू० में था। आत्रेय ने विचार व्यक्त किया है कि पैतृक बीज अभिभावक शरीर से स्वतंत्र अस्तित्व रखता है तथा यह बीज अपने आप में माता-पिता के स्वरूप को बहुत ही सूक्ष्म रूप में संजोये हुए रहता है। उन्होंने विवाह के पूर्व पुरुषों में पौरुष की जांच को वांछनीय माना था।

सन् 625 ई० में प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ **वाग्भट** का जन्म हुआ। उन्होंने गद्य एवं पद्य में एक चिकित्सा सार (मेडिकल कंपेडियम) की रचना की। इस ग्रन्थ में लगभग सभी रोगों की चिकित्सा का विवरण संक्षेप में दिया गया है। सन् 1550 ई० में **भावमिश्र** का जन्म हुआ। इन्होंने 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह पुस्तक द्रव्यगुण से संबंधित एक अच्छी पुस्तक मानी जाती है। द्रव्यगुण की अतिरिक्त इस पुस्तक में शरीर रचना तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान का भी विवरण है। भावप्रकाश में शरीर के अन्दर रक्त-संचालन के संबंध में उपयोगी जानकारी दी गयी है। भावमिश्र के द्वारा फिरंग रोग (सिफलिस) के बारे में विस्तृत अध्ययन किया गया तथा इसके उपचार के लिये पारे के उपयोग की सलाह दी गयी।

प्रसिद्ध युरोपीय विद्वान **गैरीसन** के मतानुसार प्राचीन काल में भारतीय चिकित्सक लगभग सभी प्रकार की शल्य-क्रियायें करने में सक्षम थे। अंगों का छेदन, अंगों की चीर-फाड़, टूटी हड्डियों एवं कटे अंगों की पुनर्स्थापना इत्यादि क्रियायें भारतीय शल्य-चिकित्सकों के लिए सामान्य बातें थीं। **गणेश** के सिर कटने पर उनके धड में हाथी का सिर जोड़ा तथा **दक्ष प्रजापति** का सिर हवनकुंड में जलने पर उनके धड़ में बकरे का सिर जोड़ा जाना बहुत ही उच्च्च दर्जे की शल्य-क्रिया के प्रमाण हैं। सुश्रुत ने चीर-फाड़ के लिये तैयार होने संबंधी विस्तृत आचार संहिता तैयार की थी। उन्होंने घावों को धूमन द्वारा जीवाणुरहित करने की सलाह दी थी। वस्तुतः इस विधि को ऐंटीसेप्टिक सर्जरी की दिशा में संसार का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। चरक तथा सुश्रुत दोनों ने ही कुछ औषधीय द्रवों द्वारा रोगी को बेहोश कर चीर-फाड़ करने की सलाह दी थी।

सुश्रुत ने 1120 प्रकार की बीमारियों का विवरण दिया है तथा प्रत्येक के निदान के लिए स्पर्श-परीक्षा तथा अन्य विधियों को अपनाये जाने का विस्तृत विवरण दिया है। सन् 1300 ई० के आस-पास नाड़ी-परीक्षा से संबंधित एक पुस्तक लिखी गयी। इसमें नाड़ी की गति तथा धड़कनों के बर्ताव का अध्ययन कर रोगों का निदान करने का विस्तृत विवरण दिया गया है। रोगी के मूत्र की परीक्षा द्वारा रोग का पता लगाने की विधि भी काफी प्रचलित हो चुकी थी। कई तिब्बती चिकित्सक तो रोगी को बिना देखे सिर्फ उसके मूत्र का अध्ययन कर रोग का पता लगा लेते थे तथा उसकी समुचित चिकित्सा करते थे। चीन में **यूयान च्वांग** के शासन काल में भारतीय चिकित्सा-पद्धति काफी प्रचलित हुई। यहाँ रोगों को ठीक करने के लिए प्रायः एक सप्ताह का उपवास कराया जाता था। अधिकांश रोगी तो इसी से रोगमुक्त हो जाते थे। जो रोगी उपवास द्वारा ठीक नहीं होते थे, उन्हें दवा दी जाती थी। रोगी को ठीक करने के लिये उसके पथ्य में आवश्यक सुधार, कटि-स्नान, वाष्प-स्नान, मालिश तथा डूस (एनिमा) की विधि अपनायी जाती थी। अनेक रोगों की चिकित्सा सिर्फ कुछ ओषधियों को सुंघाकर ही कर दी जाती थी। कई रोगों की चिकित्सा मूत्र मार्ग अथवा योनि मार्ग द्वारा कुछ दवाओं को अंतक्षेपित कर की जाती थी। विष की चिकित्सा में तो भारतीय चिकित्सकों को विशेष महारत हासिल थी। भारतीय चिकित्सकों ने सर्प-दंश की जो दवा विकसित की, उसकी बराबरी यूरोपीय चिकित्सक आत तक नहीं कर पाये हैं।

टीका लगाने की विधि पश्चिमी देशों में 18 वीं सदी में विकसित हुई, जबकि भारतीय चिकित्सक 5 वीं शती में ही इस विधि को उपयोग में लाया करते थे। धन्वन्तरि को समर्पित, एक भारतीय चिकित्साविद् द्वारा लिखित, एक पुस्तक में निम्नलिखित विवरण दिया गया है–"गाय के ऊधस (Udder) पर हुए चेचक के द्रव को निकालो। इस द्रव को किसी व्यक्ति के बाजू पर कंधे तथा कोहनी के बीच लगाकर किसी औजार से चीरा लगा दो जिससे रक्त दिखाई पड़ने लगे। जब रक्त के साथ उपर्युक्त द्रव मिश्रित हो जायेगा तो चेचक का बुखार प्रगट होगा।"

रोगोपचार के लिये सम्मोहन के उपयोग का प्रारम्भ भी भारत में ही किया गया। वे लोग रोगी को मंदिर में ले जाते थे। जहाँ सम्मोहन द्वारा या मन्दिर निद्रा के द्वारा रोगी को चंगा करने का प्रयास किया जाता था। इस विधि का उपयोग कुछ समय के बाद मिस्र तथा युनान में भी प्रारम्भ हुआ। इंग्लैंड में

सम्मोहन द्वारा रोग को ठीक करने की शुरुआत **ब्रेड, ऐसडेल** तथा **इलियोट्सन** द्वारा की गयी। इन्होंने यह विद्य भारत से ही सीखी थी।

भारतीय-चिकित्सा-पद्धति का सर्वाधिक विकास वैदिक एवं बौद्ध काल में हुआ। उसके बाद इसमें सदियों तक क्रमिक एवं मंथर गति से सुधार चलते रहे। फारस तथा अरब के विद्वानों ने भी चिकित्सा-पद्धति का ज्ञान भारत से ही प्राप्त किया था। आठवीं शती में चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता का अनुवाद फारसी तथा अरबी भाषाओं में किया गया। बगदाद के महान **खलीफा हारूँ उल रशीद** ने भारतीय-चिकित्सा-पद्धति को काफी अधिक महत्व दिया तथा कई भारतीय चिकित्सकों से अपने देश में आने का आग्रह किया। प्रसिद्ध युरोपीय विद्वान **लार्ड ऐम्पाकिल** का मत है कि मध्य काल में भारतीय-चिकित्सा-पद्धति को यूरोपीय विद्वानों ने अरब देशों में प्राप्त किया।

इस प्रकार इम देखतें हैं कि प्राचीन भारत में चिकित्सा विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर था। आज यूरोपीय-चिकित्सा-पद्धति की नकल न करके, आवश्यकता है अपने देश की प्राचीन चिकित्सा-पद्धति में वर्तमान की मांग के अनुसार सुधार करके उसे पुनर्प्रतिष्ठापित करने की।

□□□

प्रोटीन युक्त फल

हर व्यक्ति को अपने प्रतिदिन के भोजन में औसत 60 से 70 ग्राम प्रोटीन का सेवन करना चाहिए, लेकिन विकासशील देशों में प्रोटीन की खपत का स्तर बहुत कम है, जिससे विभिन्न रोगों का जन्म होता है अतः प्रोटीन का उचित मात्रा में मिलना भी अति आवश्यक है। प्रोटीन की कमी से पैदा होने वाले विकारों में दिमागी और शारीरिक सुस्ती, चोट आदि घावों के भरने में देरी, शरीर की वृद्धि में रुकावट, गर्भवती महिलाओं को बेचैनी आदि शामिल है। इस समूह के अनेक फल प्रोटीन की प्रचूर मात्रा उपलब्ध कराने के लिए अति उपयुक्त हैं। बटनट में 20.5 प्रतिशत, ब्लैक वालनट में 20.5 प्रतिशत, यूरोपियन फिलबर्ट में 16.4 से 20.0 प्रतिशत, ब्राजील नट में 14.3 से 17.4 प्रतिशत, जंगली बादाम में 19.6 प्रतिशत, चिरौजी में 21.6 प्रतिशत, क्रेब या लोकस्ट बीन में 21 प्रतिशत तथा वुड-एपल में 7.3 प्रतिशत प्रोटीन पाई जाती है। इन फलों का उपयोग भारतीय खाद्य पदार्थों में घटती हुई प्रोटीन की कमी को पूरा करने में काफी हद तक उपयोगी सिद्ध होगा।

[आविष्कार से साभार]

एक चेतावनी

*लगभग तीन चार वर्ष पूर्व वाशिंगटन में विश्व पर्यावरण पर हुई एक गोष्ठी को संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट ने स्पांसर किया था। इस संगोष्ठी को संबोधित करते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक **कार्ल सागन** ने चिन्ता व्यक्त की कि यदि विश्व के बढ़ते तापक्रम पर नियंत्रण नहीं किया गया तो इसके परिणाम बुरे होंगे। यदि हम वातावरण में कार्बन डाइ ऑक्साइड की लगातार बढ़ती मात्रा नहीं घटायेंगे तो अत्यधिक संख्या में 'पर्यावरणीय शरणार्थी' उत्पन्न हो जायेंगे। कार्बन डाइऑक्साइड से उत्पन्न 'हरित पौध गृह प्रभाव' (ग्रीनहाउस इफेक्ट) और क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स से 'ओज़ोन की चादर के झीनी होने' से ताप में वृद्धि होगी। डॉ० सागन ने चेतावनी दी कि ऐसे देखने में तो ताप थोड़ा ही बढ़ा लगता है, किन्तु परिणाम खतरनाक होंगे। अगली शताब्दी, जो निकट ही है, में ध्रुवों की बर्फ पिघलेगी, समुद्रों का जल स्तर ऊपर उठेगा, समुद्रतटीय क्षेत्र डूब जायेंगे, कृष भूमि मरुस्थलों में बदल जायेगी और घातक पराबैंगनी किरणें पेड़-पौधों-वनस्पतियों तथा जीव-जन्तुओं सहित मनुष्यों को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहेगी।*

सुख-समृद्धि की प्रतीक:मिट्टी

□ डॉ० दिनेश मणि
संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद्, प्रयाग,
महर्षि दयानन्द मार्ग,
इलाहाबाद-211002

सम्पत्ति और समृद्धि की प्रतीक मिट्टी अपने आप में शैल, वन, सागर और औषधियों के अतिरिक्त और भी न जाने क्या-क्या छिपाये हुये है। भू-विज्ञानी तथा मृदा-विज्ञानी दानों अलग-अलग प्रकार के दावे करते हैं। पहले वर्ग के वैज्ञानिक विभिन्न शैलों, खनिजों की बात करते हैं तो दूसरे वर्ग के वैज्ञानिक विभिन्न पोषक तत्वों तथा सूक्ष्मजीवों की। बहरहाल यहाँ मिट्टी पर एक सामान्य चर्चा की जा रही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखते पर पता चलता है कि सभ्यता का प्रारम्भ कदाचित उस समय हुआ जब से मानव निश्चित आवास में एक स्थल पर सामूहिक जीवन-निर्वाह करने लगा और अपनी आवश्यक वस्तुयें, विशेषकर खाद्यान्न, आवश्यकतानुसार उत्पन्न करने लगा। ज़ाहिर है कि ऐसी स्थिति साधारतया नदियों के बाढ़ के मैदान में उपलब्ध हो सकती थी जहाँ प्रतिवर्ष उपजाऊ जलोढ़ मिट्टी का जमाव होता रहता था तथा जहाँ पर वर्ष भर पर्याप्त धूप प्राप्त हो सकती थी जिससे फ़सलों की उपज अच्छी हो सके। यही कारण था कि प्राचीन सभ्यता का विकास मिस्र की नील नदी की घाटी मेसोपोटामिया में दज़ला-फ़रात की घाटी, भारत में सिन्धु नदी की घाटी (अब पाकिस्तान), तथा चीन में ह्वांगहो की घाटी में हुआ। प्राचीन नगरों का विकास भी इन्हीं क्षेत्रों में हुआ। यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन नगरों की उत्पत्ति उस समय हुई होगी जब किसी क्षेत्र विशेष में आवश्यकता से अधिक खाद्यान्नों का उत्पादन प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि नगर निवासियों को भी भोज्य सामग्री देने का भार उसी क्षेत्र को था। यातायात के साधनों के अभाव में किसी दूरस्थ क्षेत्र से खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि संभव नहीं हो सकती थी। मानव के लिये पेयजल भी उतना ही आवश्यक है जितना भोजन। अतः मानव आवास तथा नगर नदी तट के उस निकटतम स्थल पर विकसित हुये, जहाँ से निकटवर्ती भूमि से खाद्यान्नों का उत्पादन अधिक सुगम था।

पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार ईसा से 6000 से 4000 वर्ष पूर्व, मानव ने बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हल, बैलगाड़ी, नदियों में चलने वाली छोटी नावें, सिंचाई में प्रयुक्त कुछ वस्तुयें, कुछ नई फसलों का अन्वेषण कर लिया था तथा उसे आवश्यकता से कुछ अधिक खाद्यान्न उगाने में सफलता प्राप्त हो चुकी थी। जैसे-जैसे आबादी में वृद्धि होती गयी, वह खेती के आधुनिक तरीकों द्वारा अधिक से अधिक उत्पादन लेने लगा। फलस्वरूप मिट्टी की उर्वरा-शक्ति में आयी कमी को पूरा करने के लिये उसने खाद (जैविक पदार्थ) का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् धीरे-धीरे रासायनिक खादों (उर्वरकों) का प्रचलन शुरू हुआ। पहले मनुष्य खेतों को प्राकृतिक रूप से पुनः उर्वर होने के उद्देश्य से परती छोड़ता था किन्तु वर्तमान समय में अधिकाधिक उत्पादन प्राप्त करने की होड़ में उसने खेतों को परती छोड़ना बन्द कर दिया।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की भोगवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ। अपनी सुख-सुविधा के लिये उसने जंगलों का सफाया करना शुरू किया। फलस्वरूप भू-क्षरण की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मिट्टी हमारा बुनियादी साधन है, जिसे खींचतान कर बढ़ाया या फैलाया नहीं जा सकता। उपजाऊ मिट्टी की मात्र 1 सेन्टीमीटर मोटी ऊपर की परत बनने में प्रकृति को लगभग 300 वर्ष लगते हैं। जबकि हमारे यहाँ हर साल 600 करोड़ टन मिट्टी कटाव के कारण बह जाती है और उसके साथ ही बहकर चले जाते हैं 84 लाख टन

पोषक तत्व। बंगाल की खाड़ी में इसी मिट्टी के जमा होते जाने से एक नया द्वीप ही समुद्र की कोख में से उभर आया है। इस समय वर्षा और आँधी से कटाव की मार हमारी लगभग 15 करोड़ हेक्टेयर ज़मीन पर पड़ रही है। लगभग ढाई करोड़ हेक्टेयर भूमि हर साल जलमग्नता के कारण पानी में डूबी रहती है। रेह औरि कल्लर मिलाकर कुल 70 लाख हेक्टेयर भूमि बंजर हो गयी है। खादरों ने 40 लाख हेक्टेयर ज़मीन को अपनी चपेट में ले लिया है। झूम खेती ने कोई 30 लाख हेक्टेयर उपजाऊ भूमि को खेती के अयोग्य बना दिया है। लगभग 2 करोड़ हेक्टेयर भूमि में हर साल बाढ़ के कारण जल-भराव की स्थिति आती है। शहरी मल-जल/अवमल को नगरीय भू-भाग में सिंचाई के पानी के रूप में प्रयोग करने पर मृदा में धात्विक प्रदूषण की स्थिति पैदा हो रही है।

ज़रा सोचिये, सुख-समृद्धि की प्रतीक मिट्टी पर क्या बीत रही है ? क्या हम वास्तव में कृषि विकास के साथ ही मिट्टी के संरक्षण हेतु भी पूरी तरह सजग हैं ? शायद नहीं। तभी तो यह स्थिति आ पहुँची है। शुक्र है मिट्टी के ज़ुबान नहीं अन्यथा वह अपने उत्पीड़न के खिलाफ शोर मचाती, चिल्लाती। मगर आप इस बात से खुशफहमी में न रहें कि मिट्टी तो बेज़ुबान है, वह भला क्या कर पायेगी। बेज़ुबान होते हुये यानि मौन रहकर भी वह अपने ऊपर किये जा रहे अत्याचार का प्रतिकार ले सकती है। अब आप पूछें कैसे ? हाँ, तो ऐसे कि वह धीरे-धीरे कम उर्वर या अनुर्वर हो सकती है। परिणाम यह होगा कि हमें जीवन निर्वाह कि लिये आवश्यक खाद्य-सामग्री, कपड़ा इत्यादि पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल सकेगा। हम आपस में लड़ना प्रारम्भ कर देंगे। युद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। अब आप खुद ही समझ सकते हैं कि यह मिट्टी का प्रतिकार नहीं तो और क्या है ?

अतएव अब यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मिट्टी बचाना हमारी विवशता है। अतः आइये मिल बैठकर 'मिट्टी बचाओं रणनीति' की बात करें–

1. जहाँ तक हो सके हम मिट्टी को नंगी न होने दें अर्थात् मिट्टी के लिये आवश्यक आवरण पेड़-पौधे, वनस्पतियाँ आदि को नष्ट न करें। साथ ही चरागाहों की अंधाधुंध चराई पर प्रतिबन्ध लगायें ताकि भू-क्षरण कम से कम हो।
2. जहाँ तक हो सके हम जल-भराव की स्थिति उत्पन्न न होने दें ताकि मिट्टी ऊसर न होने पाये। सिंचाई के पानी में लवण-स्तर पता करके ही उसे प्रयोग करें।
3. रासायनिक उर्वरकों का कम से कम प्रयोग करें तथा अधिक मात्रा में आवश्यकता पड़ने पर इनकी पूर्ति कार्बनिक खादों यथा-गोबर की खाद, कम्पोस्ट, हरी खाद इत्यादि से करें। साथ ही कीटनाशियों, कवकनाशियों, तथा शाकनाशियों का इस्तेमाल भी कम से कम करें।
4. सिंचाई हेतु मल-जल का प्रयोग उपचार के बाद ही करें। इसी प्रकार खाद के रूप में अवमल के प्रयोग में भी सावधानी बरतें अन्यथा मिट्टी प्रदूषित हो सकती है।

ऐसा करके हम पुनः इस बंजर होती धरती को सस्य श्यामला बना सकते हैं।

□□□

ऊर्जा युक्त फल

हमारे देश में सामान्य रूप से अनाज, दाल व शाकीय भोजन ज्यादा खाए जाते हैं। ये सभी ऊर्जा से भरपूर होते हैं। लेकनि फलाहार से ऊर्जा प्राप्त करने के लिए सामान्य फलों के अलावा ताजा शरीफा तथा अवोकेडो से क्रमशः 215 और 150 किलो कैलोरी ऊर्जा प्रति 100 ग्राम प्राप्त की जा सकती है। इनके अलावा अधिक ऊर्जा वाले फल हैं खुबानी और खजूर जिनमें क्रमशः 201 तथा 283 किलोकैलोरी ऊर्जा प्रति 100 ग्राम पाई जाती है, अतः ये फल ऊर्जा के क्षेत्र में भी लोकप्रिय फलों का मुकाबला कर सकते हैं।

[आविष्कार से साभार]

जहां भी चाहो वहीं लगाओ, इसके भीतर पौधे पनपाओ

ऐसा 'फोल्डिंग-ग्रीनहाऊस' जिसे जब चाहें लगा सकते हैं और इस्तेमान के बाद संभाल कर रख सकते हैं

□ डॉ० सुधीरेंद्र शर्मा

ऊर्जा पर्यावरण समूह, 7/4 ओल्ड डबल स्टोरी,
लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-110024

पेड़-पौधे, वनस्पतियां वातावरण के अनुरूप ही फलती-फूलती हैं। विज्ञान लगातार ऐसी कोशिशें करता रहा है कि जहां भी वातावरण समस्या बने, कृत्रिम वातावरण तैयार कर लिया जाए। गर्मियों में कूलर या एयरकंडीशनर और सर्दियों में 'हीट-कन्वेक्टर' इसके साधारण उदाहरण हैं। वातावरण को मनुष्य ने अपने ही अनुकूल बनाने की कृत्रिम काशिशें नहीं की हैं, बल्कि पेड़ पौधों के लिए भी उसके ये प्रयास जारी हैं। "ग्रीनहऊस" उसी प्रयास से एक सफल प्रौद्योगिकी बन चुकी है।

ग्रीनहाऊस दरअसल पौधों को ऐसा वातावरण उपलब्ध कराने की तकनीक है जसमें कि वे भली-भांति फल-फूल सकें। हिमालय के ऊंचाई वाले भागों में जहां सूर्य पर्याप्त ऊष्मा देने में असमर्थ होता है सब्जियां उगाना एक समस्या है। ग्रीनहाऊस की मदद से यह ऊष्मा बढ़ाई जा सकती है जिससे सब्ज़ियों की पैदावाद बढ़ सकती है। ऐसे कई सफल प्रयोग किये भी जा चुके हैं।

प्रयोगों में भी सुधार जारी रहते हैं। ग्रीन हाऊस अब फोल्डिंग भी होंगे। यानि जब चाहा लगाया और जब ज़रूरत न रही तो उखाड़ कर रख दिया। जी०बी० पंत इन्सटीट्यूट ऑफ हिमालय एनवायरमेंट एण्ड डेवलपमेंट की श्रीनगर गढ़वाल स्थित शाखा के **डॉ० सुदेश कुमार सोहनी** ने इस फोल्डिंग ग्रीनहाऊस को विकसित किया है। साधारणतया स्थानीय बाज़ार में उपलब्ध सामग्री की सहायता से बनाये जा सकने वाले इस ग्रीनहाऊस को गांव का बढ़ई भी थोड़े से अभ्यास के बाद आसानी से बना सकता है।

इस फोल्डिंग ग्रीनहाऊस के बारे में अधिक जानकारी के लिए आप डॉ० सोहनी से निम्न पते पर संपर्क कर सकते हैं : सुदेश कुमार सोहनी, जी०बी० पंत इन्सटीट्यूट ऑफ हिमालयन एनवायरन्मेट एन्ड डेवलपमेंट, गढ़वाल शाखा, श्रीनगर (गढ़वाल), पौड़ी गढ़वाल, उत्तर प्रदेश-246174

इस फोल्डिंग ग्रीनहाऊस को लगाना और उखाड़ना भी बेहद आसान है जिसे कोई भी व्यक्ति आसानी से कर सकता है। श्री सोहनी के अनुभवानुसार इस फोल्डिंग ग्रीनहाऊस के भीतर जनवरी माह की रात, जो संभवतः सबसे ठंडा महीना माना जाता है, 15 सेंटीग्रेड तापमान पाया गया जो कि पौधों के लिए आवश्यक है।

अपने प्रयोगों के आधार पर उन्होंने इसे श्रीनगर, जो कि समुद्र तल से 660 मी० की ऊंचाई पर है, 86 प्रतिशत और तुंगनाथ, जो कि समुद्रतल से 3600 मी० ऊंचाई पर है, 40 प्रतिशत ऊष्मा की आवश्यकता को पूरी करने में सक्षम पाया है।

इसे बनाने के लिए 19 मिलीमीटर व्यास के 5 प्लास्टिक कन्ड्यूट पाइप, जो कि तीन-तीन मीटर लम्बे हों (बाज़ार में आसानी से उपलब्ध), धातु के बने 15 सेमी० लम्बे दो सी-चैनल तथा 150 माइक्रोन की पोलीशीट की आवश्यकता होती है। इसे अधिक स्थाई बनाने के लिए अधिक अच्छी सामग्री भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

इस फोल्डिंग हाऊस की कई खूबियां हैं जैसे मौसम के बदलते ही इसे इस्तेमाल करना हो या उठाना हो तो बरतने में आसान है। इस फोल्डिंग ग्रीनहाऊस को न सिर्फ जल्दी लगाया जा सकता है बल्कि समेटा भी उतनी ही जल्दी जा सकता है। प्लास्टिक से कवर होने के कारण नवजात पौधों को ओलों और चिड़िया अथवा जानवरों से बचाया जा सकता है। बाहर से आने वाले कीड़े-मकोड़ों से बचाव हो जाता है।

इसके कारण पौधे हवा के तेज़ झोकों और लू के थपेड़ों से भी बचे रहते हैं।

इन सबके बावज़ूद इसकी कीमत मात्र 200 रु० आती है। यदि अच्छी सामग्री इस्तेमाल की जाये तो भी 600 रु० से अधिक इस ग्रीनहाऊस की कीमत नहीं जाती। यह टिकाऊ भी होता है और उपयोग में आसान भी।

[ईईजी फीचर्स]

□□□

विटामिन सी
युक्त फल

शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए विटामिन सी का महत्व कम नहीं है। विटामिन सी को एल-एस्कोर्बिक अम्ल भी कहते हैं। विटामिन ए की तरह विटामिन सी का भी पोषणता में उतना ही महत्व है। इसकी कमी से स्कर्वी रोग हो जाता है-- जिसके प्रमुख लक्षण हैं--कमजोरी, चिड़चिड़ापन, मुलायम सूजे हुए और रक्तस्रावित करते हुए मसूड़े और रक्ताल्पता (एनीमिया), शरीर में विटामिन सी की औसत आवश्यकता 20 से 70 मिलीग्राम के बीच होती है। विटामिन ए की अपेक्षा विटामिन सी की कमी कम दिखाई देती है। साथ ही इसकी कमी से तत्काल परेशानी नहीं होती, विटामिन सी के लिए अनजाने फलों में वेस्ट-इंडियन चेरी नामक फल सबसे अच्छा उदाहरण है। इसका एक ही फल एक वयस्क व्यक्ति को प्रतिदिन की विटामिन सी की आवश्यकता पूरी करने की क्षमता रखता है। इसके बाद बारबेडोस चेरी का नम्बर आता है जिसमें 1,000 से 4,000 मिलीग्राम प्रति 100 ग्राम विटामिन सी पाया जाता है। आंवला में यही विटामिन 625 से 1,800 मिलीग्राम प्रति 100 ग्राम, रोज-हिप्स में 250 से 2900 मिलीग्राम प्रति 100, ग्राम बेर में 50 से 150 मिलीग्राम प्रति 100 ग्रम, सीबकथोर्न में 600 से 2,500 मिलीग्रम प्रति 100 ग्राम, महुआ में 42 मिलीग्राम 100 ग्रम, लसोरा में 40 मिलीग्राम प्रति 100 ग्राम तथा जामुन में 37 मिलीग्राम प्रति 100 ग्राम पाया जाता है।

[आविष्कार से साभार]

बुग्याल पर गहराता संकट

□ डॉ० (कु०) पूनम विष्ट

विष्ट भवन-17, मेमिला कम्पाउण्ड, तल्लीताल,

नैनीताल (उ०प्र०), पिन-263002

अर्वाचीन काल से ही हिमालय अपने आप में एक अतुलनीय नैसर्गिक सौन्दर्य समेटे हुए है जिसके स्मरण मात्र से ही एक शुद्ध, शान्त, शीतल, मनोरम व प्रदूषण रहित स्थल मुखरित हो उठता है। वर्तमान का मुख्य मुद्दा पर्यावरण संकट अब हमें अपनी गिरफ्त में लेता चला जा रहा है। हम इन श्रृंखलाओं से सहज ही जुड़ते चले जा रहे हैं। परन्तु इस कटु सत्य का जहर हमसे उगले नहीं बनता जब हमें यहां के नैसर्गिक सौन्दर्य की विशुद्धता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिखायी देता है। "हिमालय" में उत्पन्न अनेक प्राकृतिक वनस्पतियों में "बुग्याल" पर दिन ब दिन गहराता संकट इसकी एक ज्वलंत छवि प्रस्तुत करता है।

लगभग 5000 मीटर की ऊँचाई पर वनस्पतियाँ सामान्यतः समाप्त हो जाती हैं तथा लगभग 5400-5600 मी० पर हिम रेखा (स्नो लाइन) समाप्त हो जाती है। वृक्ष रेखा व हिम रेखा के बीच का भाग, जिसमें कई प्रकार की वनस्पतियां पायी जाती हैं, उत्तराखण्ड में "बुग्याल" (एल्पाइन पास्चर) के नाम से जाना जाता है। इन्हें "फूलों की घाटियाँ" भी कहा जाता है। कश्मीर में "मर्ग" कहा जाता है। बुग्याल नवम्बर से अप्रैल तक प्रतिकूल परिस्थितियों में आवश्यक जलवायु व भोजन न मिल पाने के कारण विकसित नहीं हो पाते हैं। मई से अक्टूबर तक बर्फ न होने के कारण यहां वनस्पतियां देखी जा सकती हैं। मई माह में जैसे ही तापमान 0^{0} से०ग्रे० से ऊपर उठना शुरू होता है, पौधों की जीवन प्रक्रिया शुरू हो जाती है। दो-तीन हफ्तों में ही पूर्ण ऊँचाई प्राप्त करने के पश्चात् शेष समय भोजन एकत्रित करने में लगे रहते हैं।

वायुदाब एवं तापमान में परस्पर विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है इसलिये ज्यों-ज्यों हम समुद्रतल से ऊँचाई पर जाते हैं, वायुदाब ज्यादा व तापमान कम होता चला जाता है। 1500 मीटर की ऊंचाई पर यह ताप लगभग 4^{0} से०ग्रे० से भी कम हो जाता है। न्यूनतम तापमान 10.5^{0} व 4.2^{0} सेग्रे० (जून व अक्टूबर) तथा अधिकतम तापक्रम 21.4^{0} व 8.5^{0} से०ग्रे० पाया जाता है। वर्षा 1500-2000 मि०मि० तक होती है। मृदा का तापमान भी ऊँचाई बढ़ने पर 8^{0} से० / 1000 मि०मि० की दर से घटता रहता है। मिट्टी में बालू की मात्रा 43% से 47% तक पायी जाती है। अल्प मात्रा में घुलनशील फॉस्फोरस होने से मिट्टी में पोषक तत्वों की अधिकता होती है।

हिमालयी बुग्यालों का कुछ वानस्पतिक सर्वेक्षणों के अतिरिक्त विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है। परन्तु वर्तमान में कुछ प्रबुद्ध वैज्ञानिकों द्वारा इसि तरफ विवेकशील कदम उठाये गये हैं। क्योंकि अध्ययनों से पता चला है कि यहां पौष्टिक घासों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियां पायी जाती हैं व 600 किस्म से अधिक की वनस्पतियां पायी जाती हैं।

क्षेत्र

मध्य हिमालय के 4% (वर्फ से आच्छादित भाग) भाग बुग्याल वनस्पति से ढका है। इसका सबसे अधिक विस्तार चमोली व उत्तरकाशी में पाया जाता है। पंचकेदार, रुद्रनाथ ब्रह्म बुग्याल, मनाई बुग्याल, कल्पनाथ, मदमहेश्वर, रूपकुण्ड व सप्तकुण्ड मार्ग पर, मांझीवन, पौड़ी जिले की दूधातोली पर्वतश्रेणियों में कौढियाबगढ़ तक फूलों की छोटी-बड़ी घाटियां विद्यमान हैं। उत्तरकाशी के 'हर की दून" घाटी प्रसिद्ध है। पौड़ी, देहरादून व नैनीताल जिलों को छोड़कर शेष पांचों जिलों में बुग्याल पाये जाते हैं।

वनस्पतियाँ

बुग्याल अपनी वानस्पतिक विभिन्नताओं के कारण ही अन्वेषकों के आकर्षक का केन्द्र बना है। मुख्य वनस्पतियों में ब्रह्मकमल, पांपी, ककुरी, जिरेनियम, बुरांस, प्रियूला, एनीमाने, एस्टट, फॉरगेट-मी-नाट, आइरिश एकोनिटम हैं। तुंगनाथ के बुग्याल में अकेले 280 प्रकार के फूल खिलते हैं। औषधियों में मीठा विष, अतीस, बनपसा, बज्रदंती, पाषाणभेद, चौरा, बूटकेशी, जटामांसी, कंडारा, विषकंडारा, चिरायता, लिचकुरा, हाथाजरी, इसफगुल आदि उत्पन्न होती हैं। इसके अलावा बांस, बुरांस, भोजपत्र, खंरसू एवं फर के घने जंगल हैं। जोशीमठ के समीप नन्दादेवी बुग्याल में "नन्दा देवी नेशनल पार्क", जो गढ़वाल व कुमाऊँ में संयुक्त रूप से विद्यमान है, वहां वनस्पति क़िस्मों के अलावा अनेक पशु-पक्षी-हिरन, हिमालयी भेड़, हिमचीता, धुरड़ इत्यादि हैं।

पशुचारण

मई से सितम्बर तक भेड़-बकरियां, घोड़े, खच्चर व गाय बैल, भैंस चराये जाते हैं। जो पशु या तो दूध नहीं देते या खेती के अनुपयुक्त हैं, बुग्याल में "हांक" दिये जाते हैं। ये अधिकांश समय "वृक्ष रेखा" के समीप चरकर बुग्यालों को नुकसान पहुंचाते हैं। ऋतु स्थानान्तरण की प्रवृत्ति यहां प्रचलित है। पशुचारण अवधि में स्थानीय पशुचारक रिंगाल (बांस की एक प्रजाति) इकट्ठा करके धनोपार्जन के लिये टोकरियां बनाते हैं। जहां पर पानी, लकड़ी व कीचड़ की उचित निकासी हो, 2 से 3 सप्ताह रुक कर स्थान परिवर्तित कर दिया जाता है। भेड़ों से ऊन निकालकर कुछ भाग स्वयं के लिये रख शेष स्थानीय ग्राहकों को बेच दिया जाता है। किसी भी प्रकार की सरकारी व्यवस्था न होने के कारण इनको मूल्य के विषय में काफी नुकसान उठाना पड़ता है।

जिन्हें सरकारी पद प्राप्त नहीं है वे पूर्णतः भेड़-बकरियों पर निर्भर हैं व उनके ऊन से कम्बल व कपड़े बनाते हैं। खच्चर व घोड़े क्रमशः सामान ढोने व सवारी के काम आते हैं। साल में केवल एक फसल होने व प्रति परिवार अल्प भूमि होने के कारण बकरियों व भेड़ों पर इनकी निर्भरता अधिक बढ़ जाती है।

वर्तमान समय में बुग्यालों को काफी संकट उठाना पड़ रहा है जिससे इनकी प्राकृतिक उन्मुक्तता में बाधा पहुंच रही है। बुग्याल शुरू से ही अपनी पौष्टिक घास सौन्दर्यता, जड़ी-बूटियों व धार्मिकता के लिये आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। चरवाहों द्वारा अनियमित रूप से चराई करवाये जाने के कारण उपयोगी बुग्याल प्रजातियां समाप्त हो रही हैं। बकरियां प्रायः पौष्टिक लगने वाली घासों को पहले ही खा जाती हैं, जिससे बुग्यालों में पौष्टिकता से भरपूर घासें खतरे के मिशन की तरफ बढ़ रही हैं। भैंस, खच्चर, घोड़े जैसे भारी शरीरवाले जानवरों के खुरों से बुग्यालों की जमीन खुरच जाती है जहां पर बुग्याल शीघ्रता से उग नहीं पाते हैं। पर्यटकों द्वारा रात्रिविश्राम के लिये टेन्ट हेतु जमीन खोदने व अनियंत्रित लकड़ी उपयोग के कारण बुग्याल व उसके आसपास के क्षेत्रों में भारी दबाव पड़ रहा है। जड़ी-बूटियों व औषधियों से युक्त पौधों को प्राप्त करने के लिये स्थानीय लोगों व वन विभाग के ठेकेदारों द्वारा बेरहमी से इन्हें नुकसान पहुंचाया जा रहा है। जिससे भूमि का एक बड़ा भाग क्षतिग्रस्ता की चपेट में आ रहा है। इन सभी अनियमितताओं को देखते हुए आज बुग्यालों की सुरक्षा के लिये हमारे व सरकार के समक्ष एक प्रश्नचिन्ह खड़ा हो गया है क्या समय रहते बुग्यालों की सुरक्षा से सम्बन्धित नीतियों को कार्य रूप में परिणत किया जा सकेगा ? यह प्रश्न हम सबका है। उत्तर भी हम सभी को ढूढ़ना होगा।

□□□

विज्ञान वार्ता

❑ डॉ० अरुण आर्य

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग,

म० सया जी राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा,

बड़ोदरा-390002 (गुजरात)

1. कुकुरमुत्ते की खेती

यों तो कुकुरमुत्ते की खेती कोई नई बात नहीं है, लेकिन गत दिनों ग्रामीणक्षेत्रों के लिए विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी संस्थान, भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलूर के डॉ० गांगुली एवं डॉ० चाण्क्य ने ओयेस्टर मशरूम (Pleurotus flabella) को उगाने में जैव-गैस केन्द्र (Biogas Plant) के बचे हुये अपशिष्ट को धान के पयार (Straw) के साथ प्रयोग में लाकर 150% से अधिक उपज प्राप्त की ('करेन्ट साइन्स', जनवरी 10, 1994, 66 :, 70-74)।

देश में लगभग 150 लाख छोटे एवं मध्यम दर्जे के जैव गैस केन्द्र हैं, लेकिन गांवों में आज भी जहाँ बहुत सस्ते दर पर जलाऊ लकड़ी उपलब्ध है, जैव गैस केन्द्र अपनी उपयोगिता नहीं सिद्ध कर सके हैं। आज गोबर के अतिरिक्त अन्य हरे पेड़ों को भी इनमें प्रयुक्त किया जा रहा है। बचे हुये अपशिष्ट (Spent biomass) में 40 से 60 प्रतिशत सेल्यूलोज एवं लिगनिन होता है, साथ ही अधिक मात्रा में प्रोटीन भी, जिसमें कि यह क्षमता निहित है कि उसमें कुकुरमुत्ते की सफल खेती की जा सके। गांवों में इसकी खेती की तकनीक अब अपने देश में विकसित की जा चुकी है।

धान का पुआल अथवा जिसे हम पयार भी कहते हैं, ओयेस्टर मशरूम के लिए सर्वोत्तम आधार है (बहल;-हैन्ड बुक ऑन मशरूम, आई०बी०एच०पब्लि०कं०, नई दिल्ली) अतः इसको पूरी तरह बिना उत्पादन पर विपरीत प्रभाव डाले, बदलना सम्भव नहीं। कुकुरमुत्ते को दूसरे पेड़ों की पत्तियों इत्यादि पर उगाने में सूक्ष्म जीवाणुओं की वृद्धि होती है और अन्य दूसरे कवक भी वृद्धि करते हैं। जैवगैस अपशिष्ट पर बेसिडियोमाइसिटीस कवक प्लूरोटस की उपज का यह प्रथम प्रयोग है।

बायोगैस प्लान्ट में गोबर के स्थान पर गोबर तथा हरी पत्तियों—प्रमुखतया यूफोर्बिया नोटोप्टेरा (Euphorbia notoptera) तथा सिन्ड्रेला नोडीफ्लोरा (Synedrella nodiflora) के मिश्रण को प्रयोग में लाया गया। जैव गैस अपशिष्ठ को पॉलीथीन थैलों में भरा जाता है। कवक वृद्धि (spawn development) के समय थैले के गिरने की (Collapse) सम्भावना रहती है जिसे हम पेडी स्ट्रा सबस्ट्रेट (धान के पयार) को मिला कर दूर कर सकते हैं।

इस उन्नत विधि से हमें 440 ग्राम शुद्ध बिना सूखे मशरूम के स्थान पर 1 किलो ग्राम कुकुरमुत्ता प्राप्त होता है।

2. पीने के लिए स्वच्छ पानी

चने के समान लगने वाले छोटे बीज हमारे लिए, स्वच्छ पानी का सस्ता एवं उपयोगी माध्यम सिद्ध हो सकते हैं। मनुष्यों में पानी जन्य बीमारियों यथा टाइफाइड, पेचिश, कालरा इत्यादि अनेक संक्रामक बीमारियों के सूक्ष्मजीवों को इस नवीन विधि द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

सहजन अथवा हार्स रेडिस (Moringa oleifera Lank. Syn. M. Pterygosperma Gaertn) जो कि मोरिंगेसी कुल का भारतीय मूल का है, भारत, अफ्रीका एवं इन्डोनेशिया में बहुतायत से पाया जाता है, में अधिक मात्रा में प्रोटीन होता है। बीजों को पानी में डालने पर पानी की गन्दगी अलग (Coagulate)

हो जाती है, जिसे निथारकर अलग किया जा सकता है। (Coagulated particles) गंदगी के कण धीरे-धीर नीचे बैठ जाते हैं और साथ ही अनेक प्रकार के जीवाणु एवं विषाणु भी पानी से अलग हो जाते हैं।

ब्रिटेन के लेसिस्टर विश्वविद्यालय (Leicester University) में इस प्रकार के प्रयोग सर्वप्रथम किये गये और अब एक बड़ा प्रोजेक्ट बनाकर 2500 लोगों के पीने लायक पानी उपलब्ध कराया गया है। इस महत्वपूर्ण कार्य में सहायता हेतु ब्रिटेन के वन विभाग को भी लगाया गया है। और वह पानी साफ़ बनाने के लिए बीजों के उत्पादन हेतु 45 हज़ार सहजन के वृक्ष लगा रहे हैं। छाने हुये पदार्थ को धूप में सुखा कर जलाने के कार्य में लाया जा सकेगा।

3. शूलपानेश्वर वन्यजीव अभ्यारण्य

गुजरात में बरुच जिले के डाडियापाड़ा नामक स्थान में 150.-87 वर्ग किमी० क्षेत्रफल को वन्यजीवों हेतु सुरक्षित स्थल घोषित किया गया है।

इस क्षेत्र में पक्षी तथा अनेक चौपाया यथा स्लोथ बियर, चौसिंघा, बार्किंग हिरन, जंगली सुअर, लकड़बग्घा, लोमड़ी, सियार आदि बहुतायत से पाये जाते हैं। अनेक पक्षी भी जैसे–चील, बॉज, सरपेन्ट ईगल, शिकारा, गौरय्या, हनी बजर्ड (Honey Buzzards) यहाँ पाये जाते हैं।

दमखल स्लोथ बियर संक्चुअरी के नाम से विख्यात 448.18 वर्ग किमी० क्षेत्रफल को 1987 में 607.70 वर्ग किमी० किया गया और 52 गाँवों के क्षेत्र को मिलाकर शूलपानेश्वर वन्यजीव अभ्यारण (Wild life Sanctuary) घोषित किया गया।

गत दिनों नर्मदा नदी पर बन रहे सरदार सरोवर नामक बाँध के कारण शूलपानेश्वर वन्यजीव अभ्यारणय पर प्रतिकूल असर होने की सम्भावना व्यक्त की गई है। जल-भराव के कारण अभ्यारण्य का काफी हिस्सा पानी में डूब जाने की आशंका है। लेकिन साथ ही कुछ फ़ायदे भी होंगे, जैसे इस क्षेत्र का प्रमुख जीव स्लोथ बियर, जो मछली खाता है, पानी के होने से अधिक वृद्धि करेगा। साथ ही अधिक शहद की मक्खियों के होने से भालू को उसकी रुचि का भोजन शहद भी प्राप्त हो सकेगा। सम्पूर्ण क्षेत्र में पानी के प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने से वनस्पतियों की भरपूर वृद्धि होगी और इससे पक्षियों की संख्या में वृद्धि की आशा की जा रही है। इस क्षेत्र में मगरमच्छ प्रजनन केन्द्र खोले जाने की बहुत सम्भावनायें हैं, क्योंकि सरदार सरोवर एवं करजन जल संग्रह केन्द्रों का पानी सुलभता से उपलब्ध हो सकेगा।

4. पी० एन० आर० 519 चावल की नई प्रजाति

नई दिल्ली स्थित भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान समय-समय पर देश के किसानों को उन्नत किस्म के बीज उपलब्ध कराता रहा है। कुछ दिनों पूर्व तक टीम जिसका नेतृत्व **डॉ० एस० एन० चक्रवर्ती** कर रहे थे, पी० एन० आर० 519 नामक मध्यम ऊँचाई की धान की नई प्रजाति कृषि के लिए जारी की। आशा है यह प्रजाति पंजाब, हरियाणा एवं राजस्थान में अच्छी उपज देने में सहायक होगी।

इस प्रजाति की महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें डी० जी० डब्लू० जी० जीन (D.G.W.G. gene) नहीं है, जो कि धान में छोटी प्रजाति के लिए जिम्मेदार है। इस जीन को सर्वप्रथम एक चीनी प्रजाति से प्राप्त किया गया था और देश देश में विकसित कि गई 300 से अधिक प्रजातियों में इस जीन को सम्मिलित किया गया है।

5. औषधीय पौधों की पत्तियाँ फलों की बीमारियों को रोकने में सक्षम

फलों की उपयोगिता जग ज़ाहिर है। फलों एवं खास कर संग्रहीत फलों की बीमारियों को रोकने के प्रयास काफी समय से किये जा रह हैं। गत दिनों इस दिशा में शोध ने तब एक नया मोड़ लिया जब बिहार से **डॉ० सेखावत एवं प्रसाद**, इलाहाबाद के **डॉ० खन्ना एवं प्रो० सुधीर चन्द्रा**, गोरखपुर से **डॉ० त्रिपाठी एवं डॉ० चन्द्रा**, बड़ौदा से **डॉ० अरुण आर्य** (लेखक) एवं भागलपुर, बिहार से **डॉ० सिन्हा** एवं उनके सहयोगियों ने औषधीय पत्तियों के प्रयोग द्वारा फलों की बीमारियों को रोकने में मदद प्राप्त की (भारतीय वनस्पति विज्ञान सोसायटी 1993 पत्रिका)।

लेखक ने **फोमाप्सिस** की दो प्रजातियों (Phomopsis viticola, P. psidii) जो क्रमश: अंगूर एवं अमरूद में व्याधियों

के लिये जिम्मेवार पाये गये हैं, की प्रजनन इकाई (spores) के अंकुरण को बेल (Aegle marminelos), नीम (Azadirachta indica), वरुण (Cretaeva religiosa), एफिड्रा (Ephedra folliata), नीलगिरी (Eucalyptus occidentalis), मेंहदी (Lawsonia inermis), तुलसी (Ocimum sanctum), तथा कुचिला (Strichnos nux-vomica) की पत्तियों के तीन विभिन्न अनुपातों (Concentrations) में प्रयुक्त किया।

इस प्रयोग द्वारा ज्ञात हुआ कि कुचिला, नीम, तुलसी, युकेलिप्टस (नीलगिरी) तथा एफिड्रा की पत्तियों में कवकनाशी तत्व विद्यमान हैं। कवकरोधी गुण को तुलसी तथा नीम में इसके पूर्व भी मेलन्कोनिएलीस कवक (Melanconiales-Fungi Imperfecti) **पेस्टालोसिया साइडाई** (Pestalotia psidii) के संदर्भ में व्यक्त किया गया है (डॉ० पाण्डे, डॉ० भार्गव एवं उनके सहयोगी 1983)।

चार पत्तियों के रसों को जब फलों की बीमारी रोकने में प्रयुक्त किया गया तो कुचिला, नीम, यकेलिप्टस की पत्तियों से 50% या अधिक बीमारी रोकने में मदद मिली, तुलसी की पत्तियाँ 20-30% बीमारी रोक पाईं। चूँकि कुचिला में केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र को नुकसान पहुँचाने वाले रसायन विद्यमान होते हैं, इसे आगे के प्रयोग हेतु संस्तुति नहीं दी गयी है।

डॉ० सिन्हा ने हाल ही में (जर्नल ऑव इण्डियन बोटेनिकल सोसायटी, 1993, पृष्ठ 163-164) केले पर व्याधि उत्पन्न करने वाले कवकों के प्रयोग के दौरान यह पाया कि॥ पत्तियों के रसों का प्रभाव जब इन पर देखा गया तो नीम, तुलसी तथा अरण्डी की पत्तिहयों ने बीमारी रोकने में मदद की। भरभण्डा या आर्जीमोन (Argemone mexicana), अकौड़ा या मदार (Calotropis procera) तथा धतूरा (Datura stramonium) भी बीमारियों के लक्षणों को प्रकट करने में विरोधी साबित हुए।

उल्लेखनीय है कि इन सभी पत्तियों का प्रयोग हम उचित अनुपात को ध्यान में रखते हुये अन्य फलों की बीमारियों को रोकने में भी कर सकते हैं। इस दिशा में व्यापक शोध की आवश्यकता है। इससे न हम केवल अनेकानेक फफूँदनाशकों के अनावश्यक व्यय से बचेंगे, बल्कि वातावरण में बढ़ता रसायनिक प्रदूषण भी कम होगा।

□□□
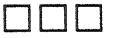
विज्ञान कविता

देश के वैज्ञानिकों तुम हो नए भगवान

□ *रामगोपाल परिहार, पी० जी० टी० (हिन्दी)*
जवाहर नवोदय विद्यालय, हदगढ़
(क्योंझर), उड़ीसा–758023

विज्ञान है वरदान संस्कृति का नया आलोक।
चेतना नव युक्तिनव, चिन्तन मनन का लोक॥
विज्ञान की तकनीक से आया नया विश्वास।
अब नहीं होगा हमारा, रूढ़िगत उपहास॥
ओषधि-चिकित्सा, भौतकी ने है दिया नवज्ञान।
गगन प्रक्षेपित उपग्रह, है नया वरदान॥

संचार में नवक्रान्ति, कृषि में चेतना के बीज।
उद्योग में विज्ञान ने है दी नई तरकीब॥
रक्षा, परिवहन, ऊर्जा में बढ़ रहा विश्वास।
कम्प्यूटरीकृत बोध का, सबको हुआ अहसास॥
बीता बहुत-सा काल, अब कुछ दो नया सम्मान।
सुयश जागे देश का ऐसा करो सन्धान॥
देश के वैज्ञानिकों......... ।

पंजाब में विज्ञान-लोकप्रियकरण

□ डॉ० नरेन्द्र सहगल

संपादक, एन सी एस टी सी-कम्यूनिकेशन (रा० वि० प्रौ० सं० प० संदेश)
राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग,
टेकनॉलोजी भवन, नई दिल्ली–110016

[यह आलेख प्रो० रुचिराम साहनी द्वारा स्वयं लिखी गई अपनी अप्रकाशित आत्मकथा के सातवें भाग में दी गई जानकारी पर आधारित है। प्रो० रुचिराम साहनी जीव शास्त्री थे तथा गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर के प्रो० जे० सी० ओमन के साथ 'पंजाब साइंस इंस्टीट्यूट' के सह-संस्थापक थे। टाइप किए हुए पात्रों के रूप में जिनमें प्रो० रुचिराम साहनी द्वारा स्वयं पैन से कुछ गलतियाँ ठीक की गई हैं, उनकी आत्मकथा के कुछ भाग हमें रा० वि० प्रौ० सं० प० की 'पुरावनस्पति तथा प्रो० बीरबल साहनी' पर बनाई जा रही फिल्म के लिए किए जा रहे निर्माणपूर्ण शोध-कार्य के दौरान हाथ लगे। प्रो० रुचिराम साहनी, प्रो० बीरबल साहनी के पिता थे। रा० वि० प्रौ० सं० प० यथाशीघ्र उनकी आत्मकथा प्रकाशित करने का प्रयत्न करेगी]

–डॉ० नरेन्द्र सहगल

[विज्ञान परिषद् प्रयाग, 'विज्ञान' पत्रिका और 'विज्ञान' के सम्पादक डॉ० नरेन्द्र सहगल के प्रति, इस लेख को 'विज्ञान' पत्रिका में प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए आभार व्यक्त करते हैं। यह लेख 'एन सी एस टी सी संदेश में 2 खण्डों में प्रकाशित हुआ था।]

–संपादक 'विज्ञान'

मेरी अभी हाल तक की जानकारी के अनुसार भारतीय-भाषाओं में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के प्रयासों की शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में हुई और इस काल से एक मात्र उदाहरण, जिसके बारे में बहुत कुछ लिखा और कहा जाता रहा है, था बंगाल और बंगाली भाषा में लोकप्रिय विज्ञान लेखन और व्याख्यानों के द्वारा किये गये प्रयास।

अब यह विधिवत घोषित किया जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में एक अन्य ऐसे ही समकालीन उदाहरण के प्रमाण विद्यमान हैं–स्वतन्त्रता-पूर्व के पंजाब प्रदेश में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के विधिवत और सुनियोजित प्रयासों के। यह एक अत्यन्त रोचक उदाहरण है और अपने आप में (विज्ञान-लोकप्रियकरण क्षेत्र में) वर्तमान स्थिति पर एक टिप्पणी भी।

पंजाब साइंस इंस्टीट्यूट (पी एस आई) की एक पंजीकृत सोसाइटी के रूप में स्थापना वर्ष 1885 में हुई। इंस्टीट्यूट का मुख्य उद्देश्य था हर प्रकार के वैज्ञानिक-ज्ञान का अंग्रेज़ी और पंजाबी (तथा अन्य भारतीय भाषाओं) में प्रचार-प्रसार–ऐसे व्याख्यानों द्वारा जिनके साथ उपयुक्त स्लाइडों, चार्टों तथा वैज्ञानिक प्रयोगों का भी उपयोग हो– तथा विभिन्न विषयों पर प्रकाशन तैयार करना। (याद रहे कि उस समय के 'पंजाब' प्रदेश में वर्तमान भारत के पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश तथा वर्तमान पाकिस्तान के पंजाब राज्य सम्मिलित थे।) कुछ वर्षों

बाद इंस्टीट्यूट के उद्देश्यों में विस्तार किया गया और तकनीकी शिक्षा को प्रोत्साहन देना भी इनमें सम्मिलित किया गया, विशेषकर रासायनिक उद्योगों को प्रोत्साहन। इंस्टीट्यूट के एक प्रसिद्ध संरक्षक सदस्य, मलिक ज्वाला सहाय, ने साबुन तथा नील इत्यादि को व्यावसायिक स्तर पर बनाने हेतु लघु आलेखों के लिये नकद पुरस्कारों का भी प्रबन्ध किया।

पी एस आई सोसाइटी के सदस्य अधिकतर वे व्यक्ति जो इसकी गतिविधियों से जुडे थे, भिन्न-भिन्न कॉलेजों के अध्यापक थे (उन्हें 'प्रोफेसर' भी कहा जाता था)। जो व्यक्ति लोकप्रिय व्याख्यान देते थे, वे इन्हें तैयार करने में काफी समय लगाते थे, क्योंकि इन व्याख्यानों के साथ सदा अच्छी बनी स्लाइडों और वैज्ञानिक प्रयोगों का प्रदर्शन भी सम्मिलित रहता था ताकि इन्हें आम लोगों के लिये रुचिकर, लोकप्रिय और आकृष्ट करने वाला बनाया जा सके। इन व्यकतियों द्वारा यह सारा काम स्वयंसेवी भावना से किया जाता था, सरकार से बिना किसी प्रकार का धन या अनुदान मांगे या इसकी अपेक्षा किये। कई व्यक्ति– अधिकतर युरोपियन– अपना व्याख्यान तैयार करने में मेहनत और समय तो काफी लगाते थे, लेकिन इनके ये व्याख्यान शब्द-दर-शब्द ऐसे प्रकाशित व्याख्यानों को विश्वसनीय प्रति होते थे जो इंग्लैंड में स्थित कई जगहों/संस्थाओं में पहले दिये जा चुके होते थे– और वे ऐसा मूल-व्याख्याता के प्रति बिना किसी प्रकार का आभार प्रकट किये ही करते थे। ऐसे प्रकाशित व्याख्यानों के कई प्रसिद्ध उदाहरण थे: (सी० बी० बौयेस का) 'सोप बबल्ज'– यानि साबुन के बुलबुले; (कैराडे का) कैमिकल हिस्टिरी ऑव ए कैण्डल'– यानि एक मोमबत्ती का रासायनिक इतिहास, (बैरी के) 'स्पिनिंग टॉप्स'– यानि घूमते लट्टू और 'द स्टोरी ऑव द टैण्डर-बाक्स'।

अन्य व्याख्याता स्वयं अपने विषय चुन कर अपने व्याख्यान स्वयं तैयार करते थे, तथा अपनी स्लाइडों और वैज्ञानिक प्रयोगों के प्रदर्शन भी स्वयं सोचकर अपनी मेहनत से तैयार करते थे। इनमें से एक थे भौतिकशास्त्री, प्रो० रुचिराम साहनी, जो पी एस आई के संयुक्त संस्थापक तथा संयुक्त सचिव भी थे। शिमला में मौसम विभाग के साथ वे जब 'दूसरे सहायक मौसम रिपोर्टर' थे, तो वे विशेष कर भारत के संदर्भ में 'मौसम' तथा मानसून विषम पर लोकप्रिय व्याख्यान दिया करते थे।

इन व्याख्यानों के दौरान वे (मौसम विभाग में स्वयं अपने ही द्वारा बनाये गये चार्ट्स तथा विशेषरूप से अपने व्याख्यान के संदर्भ में तैयार किये गये) कुछ चार्ट्स का तथा अपने ही द्वारा बनाई गई चित्रदर्शी लालटेन स्लाइड का इस्तेमाल करते थे। ये व्याख्यान काफी लोकप्रिय हुए तथा भारतीय और युरोपियन व्यक्ति तथा भारत सरकार के दफतरों में काम करने वाले क्लर्क इन्हें सुनते थे। इन्हीं व्याख्यानों में आधुनिकीकरण तथा कुछ फेर-बदल के पश्चात् इन्हें लाहौर में फिर से प्रयोग में लाया गया– जब शिमला में दो वर्ष बिताने के बाद श्री साहनी ने गवर्नमेन्ट कॉलेज, लाहौर, में नौकरी कर ली– साथ ही सम्बन्द्ध स्लाइड्स में भी उपयुक्त सुधार और फेरबदल किये गये।

पंजाब साइंस इंस्टीट्यूट द्वारा आयोजित किये जाने वाले लोकप्रिय व्याख्यानों ने पूरे पंजाब प्रान्त में बहुत उत्साह और रुचि का सृजन किया। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पी एस आई को प्रान्त भर से लोकप्रिय व्याख्यान आयोजित करने की मांगे प्राप्त होती थीं और व्याख्याता भेजने की प्रार्थनायें: दूसरे, इस तथ्य से भी कि यह भी निर्णय लिया गया कि छोटे स्थानों में व्याख्याता भेजने पर आने वाले कुछ व्यय की पूर्ति के लिये सुनने वालों से कुछ शुल्क भी लिया जायेगा, क्योंकि व्याख्याता के साथ हर बार एक लैब-सहायक तथा वैज्ञानिक प्रयोग दिखाने के लिये आवश्यक सामान भी भेजना पड़ता था, 'व्याख्यान के दृश्य गामी पहलू के लिये'। वर्ष 1886 के पश्चात् छोटी जगहों पर दिये जाने वाले लोकिप्रिय व्याख्यानों के लिये एक से दो आने तक शुल्क लेना एक सामान्य बात बन चुकी थी, चाहे व्याख्यान देने वाला व्यक्ति स्थानीय निवासी ही क्यों न हो।

नियमानुसार, इन सभी अवसरों पर वैज्ञानिक प्रयोगों के लिये कुछ सामान तथा बहुत बार एक लैब-सहायक को पी० एस० आई० के मुख्यालय से भेजना पड़ता था। लगभग नब्बे प्रतिशत अवसरों पर प्रो० रुचिराम साहनी को ये लोकप्रिय व्याख्यान देने के आमन्त्रण स्वीकार करने पड़ते थे– इसका एक कारण तो यह था कि विशेषकर 1890 से 1898 के बीच उन्होंने लाहौर तथा पंजाब प्रांत में अन्य जगहों पर इतने व्याख्यान दिये थे कि उन्हें कभी भी अपने व्याख्यान के लिये विषय के चयन में समस्या नहीं होती थी। वास्तव में तेज़ी से बढ़ता हुआ उनके मित्रों और अनुयायियों का एक दायरा था, जिनमें से कुछ तो उन्हें व्यक्तिगत अनुरोध और आमन्त्रण भेजते थे, उनके शहर/जगह में जाकर लोकप्रिय विज्ञान व्याख्यान देने हेतु।

एक अनुमान के अनुसार उन्होंने लगभग 500 व्याख्यान दिये होंगे। इनमें सम्मिलित उनको एक वार्षिक व्याख्यान-माला भी थी जिसके अन्तर्गत वे पंजाबी भाषा में बाजोली साहिब (लाहौर) के प्रांगण में हर वर्ष 20 व्याख्यान दिया करते थे; ये सब सरल प्रयोगों के प्रदर्शन के साथ दिये जाते थे, जिनमें आम तौर पर इतना सरल सामान उपयोग में लाया जाता था कि कोई भी उसे स्वयं बना सकता था। उनके व्याख्यानों को बड़ी संख्या में सुनने वालों में अधिकतर लोग आस-पास के बाज़ारों से आये दुकानदार होते थे और शेष होते थे दफ्तरों में काम करने वाले अंग्रेज़ी जानने वाले कलर्क लोग।

प्रो० साहनी इन व्याख्यानों को अपने दिये गये सभी व्याख्यानों में से सफलतम मानते थे क्योंकि, सप्ताह दर सप्ताह इन में बड़ी संख्या में दुकानदार सम्मिलित होते थे, टि के उस समय में जब कि आम लोग अपनी दिन-प्रति-दिन की आवश्यकताओं के पूरा करने के लिये खरीद-दारी के लिये घरों से बाज़ार में निकलते थे। यही नहीं, जब कभी कुछ विवरण या स्पष्टीकरण देते समय प्रो० साहनी को पंजाबी भाषा का उपयुक्त शब्द या वाक्य नहीं सूझता तो व्याख्यान को सुनने आये लोगा-ें में से कोई न कोई तुरन्त सुझाव प्रस्तुत कर उनकी सहायता कर देता था। हर वर्ष, इन बीस में से करीब दस व्याख्यान साधारण और दिन प्रतिदिन के जीवन से सम्बद्ध विषयों पर आधारित होते थे : जैसे 'साबुन बनाना', 'पानी जो लाहौर के लोग वर्ष 1880 से पहले पीते थे', 'साफ और दूषित हवा', 'खिलौने और उनसे उपलब्ध सबक', 'विद्युत-लेपन' 'मनुष्य की सेवा में बिजली' (4 भाग में), 'शीशा बनाना', 'पंजाब और इसकी नदियां' (जिसके साथ प्रो० साहनी के निर्देशन में लाहौर में हुई एक प्रदर्शनी के लिये मिट्टी से बनाया गया एक भू-आकृति नक्शा भी दिखाया जाता था।) 'साधारण लपट', 'टेलिग्राफ की तार बोलती कैसे है ?' इत्यादि कई और व्याख्यान (जो तनिक ऊँचे स्तर के थे) कई छोटे-छोटे शहरों और लाहौर में कई अन्य स्थानों पर दोबारा फिर से दिये गये। इस प्रकार विज्ञान के अध्ययन में बहुत उत्साह और रुचि का सृजन हुआ; यहां तक कि 'पंजाब प्रांत में भारत भर के किसी भी और प्रांत के मुकाबले अधिक स्कूलों में विज्ञान को एक नियमित विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा था और प्राथमिक भौतिक तथा रसायन विज्ञान विषयों का अध्ययन अधिक छात्रों द्वारा किया जा रहा था।

यदा कदा प्रो० साहनी आधुनिकतम वैज्ञानिक खोजों पर भी लोकप्रिय व्याख्यान दिया करते थे; ये उनकी तीव्रतम आशा से भी कहीं अधिक सफल सिद्ध हुए। वास्तव में नई खोजों- 'एक्स-रे', 'एडिसन्ज मोनोग्राफ' तथा 'बेतार का तार' पर उनके व्याख्यानों ने इतनी रूचि और हंगामा पैदा किया कि इन्हीं व्याख्यानों को एक ही स्थान पर एक, दो और इससे भी अधिक बार दोहराने के लिये मांगे आने लगीं। और हां, बेतार के तार पर उन द्वारा अपने व्याख्यानों के दौरान करके दिखाये जाने वाले प्रयोग संभवतः भारत में ऐसे दोहराये जाने वाले सबसे पहले प्रयोगों में से थे। प्रो० साहनी ने अपने स्वयं के कई अनुभवों का हवाला देकर इस दावे का जोरदार खण्डन प्रस्तुत किया जो उनके काल में अक्सर किया जाता था (नया क्या है ? आज, हमारे काल में भी ऐसे ही दावे किये जा रहे हैं कि पंजाबी या अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से विज्ञान पढ़ाना सम्भव ही नहीं था।

इन व्याख्यानों के दौरान सुनने वालों से नियमपूर्वक लिये गये शुल्क के आधार पर इतना धन एकत्रित हो जाता था कि इनसे सम्बद्ध सभी खर्वों की पूर्ति हो जाती थी। और तो और, पी एस आई द्वारा आयोजित इन व्याख्यानों की लोकप्रियता के कारण इतना धन एकत्रित किया गया था कि वैज्ञानिक परीक्षणों के लिये साज सामान तथा वैज्ञानिक पुस्तकालय के लिये किताबें खरीदने के पश्चात् भी सोसाइटी के पास उस समय 3000 रुपये नकद बचे थे, जब उस समय उत्पन्न हुई स्थिति के कारण पी एस आई को बन्द करने का निर्णय लिया गया। बचा हुआ धन वास्तव में लाहौर शहर में एक लैक्चर-हाल बनवाने के लिये था जिससे पी एस आई को अपनी गतिविधिओं के लिये एक स्थाई जगह मिल जाती, जो सम्भव नहीं हो पाया। 'सोसाइटी फॉर द प्रोमोशन ऑव साइंटिफिक नॉलेज' (एसवी एसके) नाम की एक नई सोसाइटी स्थापित हो चुकी थी जिसके लक्ष्य एवं उद्देश्य पी एस आई के अनुरूप ही थे और लाहौर मेडिकल कॉलेज के कई छात्रों ने मिलकर **डॉ० सी० सी० कालेब** की अध्यक्षता में इसकी स्थापना की थी। इस समय तक **प्रो० ओमन,** जो प्रो० साहनी के साथ पी एस आई के सह-संस्थापक थे, इंग्लैण्ड लौट चुके थे। प्रो० साहनी 'एक पेचीदा और गम्भीर मुकदमें (जो दयाल सिंह की वसीयत से सम्बन्धित था) में उलझ चुके थे जो दस वर्ष तक चला'।

पी एस आई के कई सदस्य एस पी एस के में सम्मिलित हो गये थे और प्रांत में इस बात की गुंजाइश नहीं थी कि मिलते-जुलते उद्देश्यों वाली दो संस्थायें समानान्तर रूप से काम

करती रहें। इसके अलावा, गवर्नमेन्ट कॉलेज के विज्ञान विभाग में (जिसमें प्रो० साहनी भी प्राध्यापक थे) **प्रो० ए० एस० हैम्म** के अध्यक्ष पद पर होने से उत्पन्न होने वाली कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण पी एस आई को बन्द करने तथा इसकी सारी चल, अचल सम्पत्ति और साधन नई संस्था 'एस पी एस के' नाम स्थानांतरित करने का निर्णय लेना पड़ा। इस नई संस्था के अध्यक्ष डॉद सी सी कालेब पहले 'पी एस आई' के एक सक्रिय सदस्य थे।

[शेष अगले अंक में]

□□□

विटामिन "ए" युक्त फल

अनजाने अथवा कम लोकप्रिय फलों में से कुछ फल विटामिन ए की कमी पूरा करने के लिए उपयोग किए जा सकते हैं। शरीर की उचित वृद्धि, अच्छी दृष्टि, हड्डियों और दांतों के विकास तथा स्वस्थ त्वचा के लिए विटामिन ए जरूरी है। हमारे आहार में इसकी 3,000 से 4,000 आई० यू० (अंतराष्ट्रीय इकाई) की आवश्यकता होती है। गर्भवती तथा स्तनपान कराने वाली स्त्रियों और बच्चों के विकास के समय इसकी आवश्यकता बढ़ जाती है। विटामिन ए की कमी से वृद्धि में रुकावट और आंखों तथा त्वचा में संक्रमण का खतरा बढ़ जाना, रात्रि में न देख सकना (रतौंधी) तथा आंखों में खुश्की बढ़ जाना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कम प्रचलित फलों में से कंप गूजबेरी में, 1,000 से 5,000, आई० यू० परसिमोन में 1,710 आई० यू० मैलिन्जो में 10,889, आई० यू०,-कटहल में 175 से 540 आई० यू०, ट्री-टमाटर में 150 से 500 आई० यू०, पीच-पान में 7300 आई० यू०, कैनिस्टल में 2,000 आई० यू०, लुकूना में 15,00 आई० यू०, जंगली आम में 1,000 से 4,800 आई० यू० तथा जंगली खुबानी में 2,500 से 3,600 आई० यू० तक विटामिन ए लिया जा सकता है। **[आविष्कार से साभार]**

श्रद्धांजलि

श्री लोकमणि लाल-व्यक्तित्व एवं कृतित्व

□ *श्रीमती कृष्णा गुप्ता*
केसर भवन, 18 पार्क रोड
इलाहाबाद

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी, "सादा जीवन उच्च विचार" की उक्ति को अपने जीवन में पूर्णतः चरितार्थ करने वाले **श्री लोकमणि लाल जी** का जन्म 20 दिसम्बर सन् 1912 ई० में मेरठ में वैधवाड़ा नामक स्थान पर हुआ था। **पिता श्री शंकर लाल मुख्तार** थे। जिस समय भारत में कहीं-कहीं ही बर्फखाने हुआ करते थे उस समय अर्थात् सन् 1908 में आपके पिता ने मेरठ में बर्फखाना लगाया। 24 जनवरी सन् 1918 में आपके पिता जी का स्वर्गवास हो गया।

श्री लोकमणि लाल जी की प्रारम्भिक शिक्षा घर से लगभग 100 गज की दूरी पर स्थित एक मन्दिर के प्रांगण में, पिता की मृत्यु के पश्चात्, प्रारम्भ हुयी। कुछ दिन वहां अध्ययन करने के पश्चात् तहसील के पास एक प्राइमरी स्कूल में आपने प्रवेश लिया। 1922 ई० में आपने देवनागरी हाईस्कूल में पाँचवी कक्षा में प्रवेश लिया। वहाँ के प्रधानाध्यापक **श्री गंगादत्त पाण्डेय** अक्सर राष्ट्रीय स्तर के नेताओं को अपने विद्यालय में आमंत्रित करते रहते थे। आपके अध्ययन काल में भी वहाँ पर **श्री मती सरोजनी नायडू** और **श्री मदनमोहन मालवीय जी** पधारे थे। यहीं से आपके बालमन पर इन महापुरुषों के सामान्य किन्तु अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न जीवन, नैतिक आदर्श एवं कर्मठता की अमिट छाप पड़ी जो जीवन पर्यन्त उनकी सहचरी रही। सन् 1928 में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने मेरठ कॉलेज में प्रवेश लिया।

मार्च 1932 में इन्जीनियरिंग में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में प्रवेश मिल गया। देश के प्रति समर्पण भावना से ओतप्रोत होने के कारण आरम्भ से ही आपकी तीव्र अभिलाषा थी कि इंजीनियरिंग पास करने के पश्चात् ऐसा कार्य करें जिससे देश को लाभ हो। बहुत सी योजनाओं पर अध्ययन किया किन्तु आर्थिक असमर्थता के कारण उनका विचार त्यागना पड़ा। वहीं पर जियोलॉजी के प्रोफेसर **श्री विद्यासागर दूबे** की अपना अत्यन्त समृद्ध पुस्तकालय था जहाँ पर आप अध्ययन हेतु जाने लगे। वहाँ सरकार का एक प्रकाशन "सी बोर्न ट्रेड ऑव इण्डिया" (See Borne Trade of India) मिला, जिससे ज्ञात हुआ कि भारत में लगभग 50 लाख रूपयों का आलू प्रतिवर्ष विदेशों से आयात किया जाता है।

यहीं से आपके मन में आलू संरक्षण का विचार उत्पन्न हुआ। इसके बाद एग्रीकल्चर कॉलेज जाकर आलू के ऊपर साहित्य पढ़ा। दूबे जी के पुस्तकालय से ही यू०पी० सरकार के प्रकाशन का कैटलाग मिला उसमें एक पुस्तिका "कोल्ड स्टोरेज ऑव पोटैटोज़" (Cold Storage of Potatoes) का नाम मिला। इसके लेखक थे **श्री पी० के० दूबे** अतः आप कानपुर एग्रीकल्चरल कॉलेज में जाकर उनसे मिले तथा 'पोटैटोकोल्ड स्टोरेज' (Potato Cold Storage) के विषय में विचार-विमर्श किया उन्होंने कहा- "यह इक्नॉमिकल नहीं होगा," किन्तु आप अपने ध्येय के प्रति आस्थावान ही रहे। 1936 में फाइनल परीक्षा देकर मेरठ आने पर बड़े भाई से कोल्ड स्टोरेज लगाने का प्रस्ताव किया। उन्होंने दिल्ली, कलकत्ता में जो व्यक्ति रेफ्रीजरेशन मशीनरी बेचते थे उनसे पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया। कलकत्ता से एक उत्तर आया कि उन्होंने अमेरिका में "पोटैटो कोल्ड स्टोरेज" (Potato Cold Storage) देखा है और विचार-विमर्श के लिये वे मेरठ आयें। अमेरिकन 'पोटैटो स्टोरेज प्लांट' (Potato Storage Plant) में एक बंकर क्वायल लगाकर कप्लाई करने के लिये आर्डर भेजा

गया ताकि आलू सुरक्षित रह सकें। अगले दिन से ही कोल्ड स्टोरेज का भवन निर्माण कार्य शुरू हो गया।

इस प्रकार अथक प्रयास व परिश्रम के उपरान्त सन् 1937 के अन्त तक कोल्ड स्टोरेज बनकर तैयार हुआ किन्तु अभी संघर्ष कहां समाप्त हुआ था ? 1938 के आरम्भ में आलू-उत्पादकों तथा व्यापारियों से आलू "शीतगृह" में जब रखने को कहा गया तो कोई भी तैयार नहीं हुआ क्योंकि उनका हृदय आलू के संरक्षण के प्रति सशंकित था। अत: उन्हें आलू खरीद कर रखना पड़ा। लगभग 2500 मन आलू स्टोर किया गया था जिसमें से 1500 मन खाने के लिये बेच दिया तथा लगभग 1000 मन बीज के लिये बचा था, जिसे पहले तो कोई कृषक लेने को तैयार नहीं था किन्तु यह विश्वास दिलाने पर कि यदि इस आलू का उत्पादन न हुआ तो उन्हें बीज का दाम, मज़दूरी, लगान आदि सब के पैसे दिये जायेंगे। उन्होंने बाज़ार भाव से लगभग तीन चौथाई मूल्य पर आलू खरीदा। डरते-डरते किसानों ने आलू बोया, किन्तु जब आलू से अंकुर निकलने लगे तब किसान और आलू ख़रिदने लगे। इस प्रकार हमारे देश में सर्वप्रथम शीतगृह की सफलता की पताका फहरी। अत: पराधीनता के परिवेश में जहाँ कुछ भी करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव सा प्रतीत होता था, उस समय शीतगृह की स्थापना द्वारा उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि यदि हमारे अन्दर विश्वास हो, दृढ़ संकल्प हो तथा प्रबल इच्छा शक्ति हो तो मार्ग में आने वाली दुस्तर बाधाओं को भी सहज ही वरण करते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। शीतगृह की इस सफलता के पश्चात् उन्होंने अन्य कई स्थानों पर भी शीतगृह की स्थापना की।

श्री लोकमणि लाल जी ने महामना मालवीय जी के सम्पर्क में रहने के कारण यह निश्चय कर लिया था कि देश व समाज से उऋण होने के लिये मूल्य-परक शिक्षा प्रदान करना आवश्यक है—इसी उद्देश्य से उन्होंने कई विद्यालयों को धन तथा भवन दान किया। अनेक संस्थाएं उनकी आभारी हैं।

अपने इसी उद्देश्य को क्रियान्वित करने हेतु उन्होंने सन् 1986 में प्रयाग नगरी की पावन धरती पर भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में अंग्रेज़ी माध्यम का यह विद्यालय 'महर्षि पतंजलि विद्या मंदिर' स्थापित किया। यह विद्यालय जहाँ अपने नाम को शिक्षा द्वारा चरितार्थ करता है वहीं उस महान संस्थापक के अमूल्य नैतिक आदर्शों से भी हमें परिचित कराता है। वे छात्रों को केवल पुस्तकीय ज्ञान देने के पक्षधर नहीं थे बल्कि वे चाहते थे कि छात्रों को बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न कराया जाय जिससे वे जीवन के हर क्षेत्र में सफल रहते हुये दूसरों के लिए 'प्रकाश-स्तम्भ' बन सकें।

वे हर कार्य को वैज्ञानिक ढंग से पूर्ण करते थे—महर्षि पतंजलि विद्या मन्दिर के भवन-निर्माण से पूर्व उन्होंने मज़बूत बुनियाद सुनिश्चित करने हेतु दो भिन्न संस्थाओं से मृदा परीक्षण (Soil testing) करवाया तथा प्रयाग के विख्यात इंजीनियरों (Structural Engineers) से सलाह लेकर निर्माण कार्य के दौरान निरीक्षण करवाया और बच्चों के लिये हर सुविधा प्रदान की।

वे अपने संकल्प में हिमालय की तरह दृढ़, गंगा के पावन प्रवाह की भांति सरल तथा पृथ्वी की तरह उदार थे। अपने सानिध्य में आने वाले हर व्यक्ति के लिये प्रेरणा-स्रोत रहे। जीवनपर्यन्त समाज और शिक्षा को समर्पित रहने वाले इस महान पुरुष की आत्मा अन्तत: 28 दिसम्बर 1993 को रात्रि 8 बजे परमात्मा में लीन हो गयी, किन्तु अपने कृतित्व में वे अमर हो गए हैं।

□□□

विज्ञान

परिषद की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

मई 1994; वर्ष 80 अंक 2

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु०

एक प्रति : 3 रुपया 50 पैसा

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन की प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्नस्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पात्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं:

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु0, आधा पृष्ठ 100.00, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु0।

मूल्य

आजीवन : 200 रु0 व्यक्तिगत : 500 रु0 संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु0 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ0 डी0 डी0 नौटियाल प्रधानमंत्री विज्ञान परिषद्, प्रयाग	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	शाकुन्तल मुद्रणालय 34, बलरामपुर हाउस इलाहाबाद–211002	विज्ञान परिषद् महर्षि दयानन्द मार्ग इलाहाबाद- 211002

ISSN 0373-1200

(कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च,
नई दिल्ली के आंशिक आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित)

विज्ञान परिषद–इलाहाबाद

विज्ञान विस्तार

[गतांक से आगे]

पंजाब में विज्ञान-लोकप्रियकरण

□ *डॉ० नरेन्द्र सहगल*
टेक्नॉलोजी भवन, नई दिल्ली–110016

......उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों के दौरान साइंस इंस्टीट्यूट (पी एस आई) द्वारा पंजाब प्रदेश के न भागों में काफी नियमित रूप से लोकप्रिय विज्ञान–ख्यानों का आयोजन किया जाता था। इन व्याख्यानों के स्लाइड्ज का भी प्रयोग किया जाता था, तथा करीब-करीब याख्यान के साथ एक या अधिक वैज्ञानिक प्रयोग भी दिखाये थे। इन व्याख्यानों का आयोजन पी एस आई द्वारा कई ओं एवं व्यक्तियों के अनुरोध पर किया जाता था।

उपरोक्त गतिविधि के साथ-साथ एक और प्रकार का न भी जारी था– एक ऐसी कार्यशाला की स्थापना हेतु जिसमें सरल स्कूली उपकरणों की मरम्मत से शुरू कर, बाद में के 'आरम्भ से अन्त तक' निर्माण की व्यवस्था हो। इन नों की यह कहानी मात्र एक व्यक्ति (प्रो० रुचिराम) की अपनी धारणा को कार्यरूप देने के दृढ़-निश्चय की रोमांचक गाथा जसके लिये उन्होंने नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना हुए भी अपने प्रयत्न जारी रखना ठीक समझा।

एस आई कार्यशाला

लोकप्रिय व्याख्यान देने तथा पी एस आई की इस गतिवि के पूर्ण प्रबन्धन में अपनी सहभागिता के दौरान, प्रो० राम साहनी को बहुत पहले ही यह एहसास हो गया था प्रदेश में, सरल स्कूली उपकरणों की मरम्मत हेतु साधारण व्यवस्था के बिना, विज्ञान-शिक्षण बिल्कुल सम्भव नहीं था। आवश्यकता से पी एस आई के सदस्य सहमत तो थे, कुन एक भी अन्य सदस्य को इस बात पर विश्वास नहीं पा रहा था कि उनके द्वारा स्थापित कार्यशाला के लिये नहीं वैज्ञानिक उपकरणों की मरम्मत का उत्तरदायित्व लेना भव हो सकेगा; वैज्ञानिक उपकरणों के निर्माण की बात तो रही, उनकी मरम्मत में आने वाली सम्भावित कठिनाइयों से हर कोई इस कदर आशंकित था कि किसी सदस्य ने भी कार्यशाला स्थापित करने के विचार-प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया। (वास्तव में, उस समय किसी कॉलेज के विज्ञान-विभाग के साथ कार्यशाला का जोड़ा जाना एक और भी अधिक अविचारणीय प्रस्ताव होता।) इस सब की परवाह न करते हुए, तथा इस आवश्यकता के प्रति आश्वस्त हो, प्रो० साहनी ने वर्ष 1888 में पी एस आई कार्यशाला की स्थापना की। ऐसा करते समय उनके पास कोई धन भी नहीं था; कुछ था तो मात्र यह विश्वास कि यदि किसी प्रकार इस प्रयत्न में वे धैर्य से जुटे रहेंगे, सफलता तो मिलेगी ही।

रेलवे कार्यशाला के एक मिस्त्री, श्री *अल्लाह बख्श*, के साथ प्रो० साहनी ने ऐसी व्यवस्था सुनिश्चित कर ली कि वह उनके लिये कुछ सरल उपकरण बना सके। श्री अल्लाह बख्श के घर उनके कुछ साधारण औज़ार तथा बकरी के चमड़े से बनी नश्क वाली कोयले की एक साधारण भट्ठी भी उपलब्ध थी। यह व्यक्ति, जिसका वेतन उस समय 25 रुपये मासिक था तथा हर मास वह पड़ोस में तालों की मरम्मत कर, चाबियां बना, तथा दूसरे छोटे-छोटे काम करके औसतन 10 रूपये और बना लेता था, आगे चलकर पी एस आई कार्यशाला का मुख्य मिस्त्री बना। उस समय प्रो० साहनी श्री अल्लाह बख्श के घर प्रतिदिन चार घण्टे बिताया करते थे– शाम आठ बजे से लेकर 12 बजे मध्यरात्रि तक; यह घर एक तंग और लम्बी गली के दूसरे छोर पर स्थित था। इस सब का मतलब था कि कठोर परिश्रम– प्रातः अपने व्याख्यानों तथा कक्षा-कार्य की तैयारी करना, लोकप्रिय व्याख्यान देना और पी एस आई की इस गतिविधि का पूरा प्रबन्ध देखना, कॉलेज से सम्बद्ध अपने कर्तव्यों की पूर्ति, तथा मिस्त्री के घर अपनी 'शिशुवत कार्यशाला' की देखरेख में घंटों बिताना। कार्यशाला में बनाई जाने वाली चीज़ों को स्कूलों में बेच दिया जाता था, लागत-मोल या उससे भी कम कीमत पर– मोल या

व्यस्त रखा जा सकता। फिर भी, यही उचित समझा गया कि कार्यशाला के काम की गति धीमी कर दी जाये। अनुभव का क्षेत्र फैलता गया और कार्यशाला में अधिक जटिल उपकरणों की मरम्मत का काम भी किया जाने लगा। प्रो० साहनी के लोकप्रिय व्याख्यान पी एस आई कार्यशाला की प्रतिष्ठा प्रांत भर में फैलाने में बहुत सहायक सिद्ध हुए; कुछेक पी० डब्लू० डी० दफ्तर भी अपने कई उपकरणों, जैसे थियोडोलाइट, प्रिज़्मैटिक कम्पसिज इत्यादि को मरम्मत के लिये पी एस आई कार्यशाला में भेजने लगे। ऐसे अवसरों से, जिनमें नाना प्रकार के नाज़ुक यन्त्रों और उपकरणों को पूर्णतयः खोलककर ठीक करना सम्मिलित था, कार्यशाला के मिस्त्रियों का आत्मविश्वास बढ़ा और उनमें स्कूली और कॉलेज सम्बन्धी अधिक उन्नत प्रकार के वैज्ञानिक सामान बनाने हेतु उत्साह पनपा। वर्ष 1890 से शुरू होने वाले दशक के पहले ही वर्षों में, सभी स्व-नियन्त्रणों के बावजूद, पी एस आई कार्यशाला अपने यन्त्रों एवं कार्मिकों की कुशलता तथा वैज्ञानिक उपकरणों की एक अच्छी-खासी संख्या के निर्माण के लिये एक प्रतिष्ठावान संस्था बन चुकी थी।

कुछ आवयक सामग्री (जैसे, पीतल, जस्ता और अन्य धातुओं की प्लेटें तथा तांबे और पीतल की भिन्न-भिन्न मोटाई की तारें आदि) खरीदने के लिये बम्बई में अपने प्रवास के दौरान प्रो० साहनी एक ऐसी स्थानीय अंग्रेजी कम्पनी में जा पहुंचे जिसका काम वैज्ञानिक उपकरण बेचना था। अपनी कार्यशाला द्वारा उस कम्पनी से आर्डर किये गये कुछ सामान को स्वयं लेने वे वहां पहुंचे थे। अपने आर्डर के बारे में पूछताछ करते समय उन्हें **श्री हीरालाल** नानक एक ऐसे व्यक्ति का पता चला जो होशंगाबाद (सी.पी) में विज्ञान-शिक्षक था और जिसने उस कम्पनी को एक 'टेस्ट्ल एयर पम्प' का आर्डर दिया हुआ था। बम्बई में अपने निवास पर पहुंचते ही प्रो० साहनी ने श्री हीरालाल को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने उसे पी एस आई, तथा पी एस आई की कार्यशाला के बारे में बताया और साथ में ऐसे उपकरणों/यन्त्रों की अपनी एक छोटी से सूची भी संलग्न कर दी जो उनकी कार्यशाला से बर्तानबी कम्पनी की यन्त्र सूची में दी गई कीमतों से, आधे मूल्य में उपलब्ध थे– साथ में यह भी लिख दिया कि ग्राहक द्वारा इच्छित सामान उसे उसकी स्वीकृति के लिये भेजा जा सकता था और, पसन्द न आने की स्थिति में, जिसे आवश्यकता पड़ने पर कार्यशाला के खर्च पर लौटाया जा सकता था। इस पत्र के फलस्वरूप एक लम्बी मित्रता और दीर्घकाल तक चल[ने] वाले सम्बन्धों की शुरुआत हुई तथा बहुत वर्षों तक कार्यशाल[ा] को श्री हीरालाल का समर्थन एवं संरक्षण मिलता रहा।

बम्बई में अपने प्रवास के दौरान प्रो० साहनी घूमते-फिर[ते] एक दिन एक ऐसी सार्वजनिक नीलामी में जा पहुंचे, जो ए[क] ऐसी कम्पनी के सामान को बेचने के लिये की जा रही थी, ज[ो] वैज्ञानिक उपकरणों से सम्बद्ध व्यवसाय में थी और दिवालि[या] हो चुकी थी। इस नीलामी में, प्रो० साहनी ने सबसे अधि[क] 'बोली' देकर बहुत सारा सामान खरीद लिया जिसमें निम्न स[ब] कुछ सम्मिलित था : प्लैटिनिम के तीन बड़े कप, ग्रोव्ज बैट[री] सैल के लिये उपयुक्त 20 प्लैटिनम प्लेट्स, चार अन्य मशी[नें] कार्बन प्लेट्स का बढ़ा ढेर, ढेर सारी रूई और रेशम से ढं[के] तार, बैटरी सहित विजली की कुछ घन्टियां तथा अन्य कई चीज़े और सारा का सारा सामान मात्र 124 रूपये में। सारे साम[ान] को प्रो० साहनी ने अच्छे से पैक करवा कर रेलगाड़ी द्वारा ला[हौर] भिजवा दिया। वापिस लौटने पर बम्बई की नीलामी से ख[रीदे] सामान की अधिकतर चीजें उन्होंने कम से कम 3000 रू[पये] लाभ पर बेच दीं और यह सब धन कार्यशाला के खाते में ज[मा] करवा दिया।

पी एस आई कार्यशाला की आर्थिक स्थिति काफी [सं]तोषजनक हो जाने से उन्होंने कई स्कूलों को अपने द्वारा निर्[मित] 4 से 7 रूपये तक की कीमत के उपकरण निःशुल्क दे दि[ये]। फिर प्रांत भर के पांच इन्स्पैक्टर्स ऑव स्कूल्ज को एक [पत्र] लिख कर, उन्होंने पी एस आई कार्यशाला के इतिहास [और] विकास के सम्बन्ध में जानकारी दी तथा उन्हें अपने यहां [के] यन्त्रों/उपकरणों का एक एक सेट भेंट करने की पेशकश [की]। जिसके साथ यह भी लिखा कि वे अपना एक मिस्त्री अ[पने] यहां बने उपकरणों/यन्त्रों का प्रदर्शन करने तथा उन सब[की] कार्यविधि के बारे में बताने के लिये भी उनके पास [भेज] सकेंगे। इनमें से जिस एकमात्र इन्स्पेक्टर ने इस पत्र का [उत्तर] दिया वह पांचों में अकेला भारतीय था तथा उनका नाम **मास्टर प्यारेलाल**, जो जालन्धर क्षेत्र में कार्यरत थे। बा[की] ने प्रो० साहनी के पत्र का उत्तर देना भर भी उचित नहीं सम[झा]। मास्टर प्यारे लाल ने अपने उत्तर में लिखा कि वे अपनी [सुवि]धानुसार शीघ्र ही पी एस आई कार्यशाला में आकर उपक[रणों] का निर्माण स्वयं देखेंगे। कुछ समय पश्चात् ही वे कार्यश[ाला] देखने आये और पूरे तीन घंटे का समय बिताकर उपक[रणों]

निर्माण-प्रक्रिया के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त की। मास्टर प्यारेलाल, होशंगाबाद के श्री हीरालाल ही की , इस कार्य हेतु प्रोत्साहन के महान स्रोत बने। एक यूरोपियन नुभाव, जो एक बड़े पद पर आसीन थे, ने तो अपने मन बात यूं व्यक्त किया : "इस प्रकार की औद्योगिक संस्था र्यशाला) को प्रोत्साहन देकर वे अपने ही लोगों का पेट ने में भागी नहीं बन सकते।" बाद में कुछ सोचकर वे नी इस टिप्पणी को गलतफहमी बताने का प्रयत्न करने थे। लेकिन प्रशिक्षण प्रभाग के अध्यक्ष ने अधिकृत रूप अपना सन्तोष प्रकट करते हुए यह कहा, "कार्यशाला प्रांत स्कूलों को विज्ञान विषय पढ़ाने के लिए अच्छी सुविधायें न कर रही है।"

ा में औद्योगिक सम्मेलन

वर्ष 1895 के ग्रीष्मकाल में प्रो० साहनी को पूना के **नाम जोशी** से (जो देश की औद्योगिक उन्नति के प्रति र्पित जाने माने सार्वजनिक कार्यकर्ता थे) कुछ मास बाद में होने वाले एक औद्योगिक सम्मेलन में भाग लेने के ो निमन्त्रण मिला। यह एक ऐसा अवसर था जिसके द्वारा एस आई कार्यशाला के काम को ऐसे लोगों के ध्यान में ा जा सकता था जो विशेषरूप से नई औद्योगिक संस्थाओं रुचि रखते थे।

लाहौर में निर्मित यन्त्रों/उपकरणों के कई एक बड़े-बड़े स लेकर, अपने मुख्य मिस्त्री अल्लाह बख्श के साथ, प्रो० नी पूना जा पहुंचे। पूना में जानी मानी वयोवृद्ध हस्ती **श्री न्द रानाडे** के अनुरोध पर प्रो० साहनी उनके घर रुके। उन गर अपने 6 दिन के आवास तथा उनके साथ प्रात: काल की ी सैरों के पश्चात् श्री रानाडे की सादगी और अपारम्परिक कों और आदतों से प्रो० साहनी बहुत प्रभावित हुए।

सम्मेलन ने, श्री नाम जोशी के अनुरोध पर, एक तीन-स्यीय समिति का गठन किया, जिसे लाहौर से लाये गये सम्मेलन के दौरान प्रदर्शित वैज्ञानिक उपकरणों की जांच े के पश्चात् एक रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए कहा गया । हैरानी की बात यह थी कि समिति की रिपोर्ट को गुप्त ा गया। क्यों ? कोई भी इसका कारण प्रो० साहनी को नहीं रहा था या बताना नहीं चाह रहा था। अन्तत: श्री नाम जोशी ने प्रो० साहनी को बताया कि समिति ने जो रिपोर्ट दी है उसका भावार्थ है : 'समिति को यह विश्वास नहीं होता कि प्रदर्शित उपकरणों को लाहौर या भारत में कहीं और बनाया गया है'। वास्तव में, उन्हें यह पूरा विश्वास है कि प्रदर्शित उपकरण इंगलैड में बने हैं और पी एस आई कार्यशाला ने मात्र यह किया है कि मूल वार्निश को हटा कर उपकरणों पर अपनी नई वार्निश जमा कर इन्हें भारतीय मूल का दिखाने का प्रयत्न किया है, और इस बात का एक और प्रमाण यह तथ्य है कि वे स्वयं बम्बई या अन्य जगहों पर उपलब्ध सामान, कौशल एवं मशीनों/ औज़ारों का प्रयोग/ उपयोग कर के भी ऐसी चीज़ें बनाने की क्षमता नहीं रखते।

अध्यक्ष की अनुमति लेकर, प्रो० साहनी अपनी कार्यशाला और विशेषकर सम्मेलन में प्रदर्शित अपने यहां बने सामान के संदर्भ में, 10 मिनट बोले। प्रो० साहनी ने कहा कि, उनके अपने विचार में, समिति की रिपोर्ट पी एस आई कार्यशाला को इससे बड़ा प्रशस्ति-पत्र दे ही नहीं सकती थी। उन्होंने कहा कि रिपोर्ट से दो बातें तो एक दम स्पष्ट थीं : (क) वार्निश को छोड़कर लाहौर में बने उपकरण, काम करने में, आयातित बर्तानवी उपकरणों के स्तर के हैं; और (ख) रिपोर्ट के अनुसार लाहौर की कार्यशाला में हम वह सफलता प्राप्त कर पाये हैं जिसे बम्बई जैसा उन्नत प्रांत अपने सारे संसाधनों के बावजूद प्राप्त करने में अपने को असमर्थ पाता है। समिति की रिपोर्ट के जवाब में प्रो० साहनी ने सम्मेलन के सामने तीन प्रस्ताव रखे जिनमें से किसी एक को चुना जा सकता था :

1. सम्मेलन अपनी ओर से, जितने व्यक्ति चाहे, लाहौर-स्थित कार्यशाला में भेज सकता है ताकि वे कार्यशाला में सामान बनाने की प्रक्रिया को स्वयं देख कर यह जांच सकें कि सम्मेलन में प्रदर्शित सामान का लाहौर में बनाये जाने वाला दावा सच है या नहीं। और यदि वे इस दावे के प्रति पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हो पाते तो उन सबका लाहौर से आने-जाने का दूसरी श्रेणी का रेल किराया पी एस आई कार्यशाला देगी।

2. सम्मेलन कार्यशाला को इन उपकरणों के लिए एक बहुत बड़ा आर्डर दे सकता है। चूँकि कार्यशाला द्वारा बेचे जाने वाला सामान आयातित बर्तानिवी सामान की अपेक्षा आधी ही कीमत पर उपलब्ध है, सम्मेलन को कार्यशाला के खर्चे पर बहुत बड़ा अर्थिक लाभ हो सकता है।

3. वे अपने मुख्य मिस्त्री को पूना, बम्बई या अन्य कहीं भी छोड़ने के लिये तैयार हैं, जहां पर यदि उसे इन उपकरणों के निर्माण हेतु सभी आवश्यक साज-सामान और उपयुक्त सुविधायें उपलब्ध हों, तो वह उनकी आंखों के सामने प्रदर्शित उपकरणों में से किसी को भी बना कर दिखा सकता है। सम्मेलन को मात्र यह शर्त माननी होगी कि वह उनके मिस्त्री को उतने समय का, या अधिकतम एक मास का वेतन देगा।

प्रो० साहनी के उपरोक्त कह कर बैठ जाने के पश्चात उनके सम्मान में देर तक और बहुत तालियां गूंजीं और बड़ौदा के **प्रो० मोदक** (जो शायद सम्मेलन द्वारा नियुक्त उस समिति के अध्यक्ष थे) ने आकर प्रो० साहनी को गले से लगा लिया। यहां से प्रो० मोदक तथा प्रो० साहनी और पी एस आई कार्यशाला के बीच दीर्घकालीन मित्रता और सम्बन्धों का आरम्भ हुआ।

आगे से आगे

कार्यशाला का बाद का इतिहास सफलताओं और उपलब्धियों का एक क्रम सा बन गया। इसमें वर्ष प्रति वर्ष उपकरणों के निर्माण और बिक्री का काम क्रमबद्ध तरीके से होता गया। हां, उत्पादन में वृद्धि हुई, बिक्री बढ़ी और कार्यशाला की प्रतिष्ठा दूसरे प्रांतों में भी फैल गई जिससे देश के दूर-दराज़ के स्थानों से भी उपकरणों के आर्डर प्राप्त होने लगे। कुछ वर्ष बाद जब औद्योगिक प्रदर्शनी इंडियन नेशनल कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन का एक नियमित अंग बन गई, तो पी एस आई कार्यशाला द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली चीजों को चांदी या सोने के पदकों के लिये चुना जाने लगा। वर्ष 1906 में कलकत्ता में हुई प्रदर्शनी में, **प्रो० जगदीश चन्द्र बोस** उस चयन समिति के सदस्य थे जो प्रदर्शनी के वैज्ञानिक-अनुभाग के लिय बनाई गई थी; उन्होंने प्रदर्शनी में कार्यशाला के योगदान की बहुत प्रशंसा की, तथा कार्यशाला को सोने का पदक प्रदान किया गया।

समय के साथ-साथ उपकरणों की गुणवत्ता में सु[illegible] हुआ और अधिक उन्नत प्रकार के तथा नाजुक उपकरण, [illegible] रहिस्टेन्स बॉक्स तथा रसायनिक तौल-यन्त्र इत्यादि भी बन जाने लगे। ये सब उपकरण आयात किये जाने वाले अधिक सामान के स्तर के थे। हां, पी एस आई कार्यशाला कभी [illegible] अनुसंधान कार्य में प्रयोग किये जाने वाले उत्तम उपकरणों [illegible] स्तर तक तो नहीं पहुंच पाई, लेकिन नाज़ुक किस्म के जो उपकरण कार्यशाला में बन पाते थे, उनकी बाज़ार में म[illegible] इतनी सीमित थी कि इन उपकरणों का विश्वसनीय परीक्ष[illegible] तथा उनकी मापनक्षमता का मानकीकरण करने के लिए उपयु[illegible] व्यवस्था जुटाने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़[illegible] था। बिक्री के प्रोत्साहन हेतु अधिक प्रयत्न करने पर सम्भव[illegible] थोड़े बहुत और आर्डर जुटाये जा सकते थे।

प्रो० साहनी कार्यशाला में कोई नई गतिविधि जो[illegible] के बहुत इच्छुक थे। वे बाइनाक्यूलर तथा विद्यार्थियों [illegible] सूक्ष्मदर्शी के निर्माण के लिए कार्यशाला में एक नया अनुभ[illegible] जोड़ने का विचार रखते थे। इस काम के लिये वे वर्ष 19[illegible] में एक बड़ी पूंजी के साथ जर्मनी भी गये, ताकि वहां [illegible] लेन्ज घिसने के लिये सभी आवश्यक यन्त्र और उपक[illegible] इत्यादि ला सकें। लेकिन, दुर्भाग्यवश लड़ाई छिड़ गई अ[illegible] इंगलैंड में एक वर्ष बिताने के पश्चात् खाली हाथ उन्हें स्वदे[illegible] लौटना पड़ा।

उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति के आस-पास प्रो० साह[illegible] ने लाहौर में एक बड़ी रसायन फैक्टरी स्थापित करने पर गम्भीर[illegible] से विचार किया। इस ओर उन्होंने कुछ ठोस कदम भी उठा[illegible] मामले के अलग-अलग पहलुओं पर एक व्यावहारिक अध्यय[illegible] भी किया तथा, अन्य के अलावा कलकत्ता जाकर **डॉ. पी.स[illegible] राय** से भी इस बारे में विचार-विमर्श किया। गन्धक का तेज़[illegible] बनाने की फैक्टरी लगाना चाहते थे, प्रो० साहनी। डॉ० र[illegible] की सहायता से वे कलकत्ता की कुछ फैक्टरियां भी देखने [illegible] सफल रहे। लेकिन यह सब करने के पश्चात् भी वे अप[illegible] इस विचार को व्यावहारिक रूप नहीं दे पाये। (समाप्त)

[एन. सी. एस. टी. सी. संदेश से साभार

□□[

रामन और रामन प्रभाव

□ *कीर्ति मौर्या*
स्नातकोत्तर (उत्तरार्द्ध) रसायनशास्त्र
(वैश्लेशिक रसायन) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–5

प्रोफेसर सी. वी. रामन का जन्म 7 नवम्बर 1888 को एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। यह परिवार तमिलनाडु के अय्यनपेट्टई गांव में रहता था।

बाल्यकाल से रामन अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे तथा आरंभ से ही हर कक्षा में अव्वल आते थे। रामन ने केवल ग्यारह वर्ष की उम्र में मैट्रिक परीक्षा तथा चौदह वर्ष की उम्र में एफ. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् उन्होंने मद्रास के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में दाखिला लिया और वहां बी. एस-सी. की परीक्षा कॉलेज में सर्वप्रथम रहकर उत्तीर्ण की। उनके अध्यापक उनकी कुशाग्र बुद्धि से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने ऐसा तीव्र बुद्धि का विद्यार्थी पिछले पच्चीस-तीस सालों से न देखा था अत: उनके अध्यापकों ने उन्हें पच्चीस साल में सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी बताया। बी. एस-सी. करने के पश्चात् रामन ने एम. एस-सी. भी सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण किया। इसमें उनके अध्ययन का विषय भौतिकी था।

रामन मेधावी छात्र होने के कारण अपने शिक्षकों में अत्यन्त लोकप्रिय थे तथा अध्यापकों से उन्हें विशेष अधिकार प्राप्त था। वह कॉलेज की प्रयोगशाला में कभी भी जाकर कार्य कर सकते थे तथा लाइब्रेरी में जब चाहे जा सकते थे व कोई भी पुस्तक घर ले जा सकते थे। रामन बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि का होने के कारण किसी भी समस्या पर गहराई से सोचते थे तथा प्रत्येक समस्या का समाधान अपने प्रयोगों द्वारा खोज निकालते। उनकी कुशाग्र बुद्धि के लक्षण तथा उनका खोजी व्यक्तित्व उनके प्रथम शोध-लेख के द्वारा सत्यापित होता है। यह शोध-पत्र उन्होंने अत्यन्त अल्प आयु में ही तैयार कर लिया था।

रामन का प्रथम शोध-पत्र

इण्डियन एसोसिएशन ऑव कल्टीवेशन ऑव साइंस (कलकत्ता) की प्रयोगशाला में रामन ने अनेक वर्षो तक कार्य किया और अनेक शोध-पत्र प्रकाशित किये। इस प्रयोगशाला में रामन के सहयोगी थे आशुतोश डे। रामन ने अपनी एक छोटी सी शंका का निवारण करने के लिए जो खोज की वही उनका प्रथम शोध-निबंध बना। उन्होंने स्पैक्ट्रोमीटर से प्रिज्म के कोण मापते हुये पाया कि आयतन (Incedence) के पृष्ठ सर्फी कोण के निकट (near the grazing angle) कुछ विवर्तन (defraction) बैण्ड बनते हैं। ये बैण्ड क्यों बनते हैं, उस समय इसका कारण अज्ञात था तथा रामन ने इसे स्वयं अपने प्रयोगों व गणनाओं के द्वारा ज्ञात किया।

उनका यह शोध-पत्र "अनसिमेट्रिकल डिफैक्शन बैण्ड्स ड्यू टू ए रेक्टैंगुलर एपरचर" (Unsymmetrical defration bands due to a rectangular aperture) नामक शीर्षक से लन्दन के 'फिलोसफिकल' मैगजीन में प्रकाशित हुआ। इत्तफाक से यह रचना नवम्बर महीने में ही प्रकाशित हुयी तथा नवम्बर में उनका जन्म दिवस भी है। 83 वर्ष की आयु में 21 नवम्बर 1970 की रात वह दुखद घड़ी भी आ पहुँची जब रामन इस दुनिया से विदा हो गये।

रामन ने अनेक क्षेत्रों में शोध कार्य किये हैं। लगभग सभी शोधों व अनुसंधानों में उनके सहायोगी **प्रो. जी. एस. कृष्णन** थे जो कि उनके शिष्य थे। प्रो. रामन के शोध का प्रिय विषय था 'ध्वनिकी और प्रकाशिकी'। ध्वनि के क्षेत्र में विभिन्न

प्रकार के वाद्यों पर उन्होंने शोध किया। वीणा, मृदंगम, वायलिन, सन्तूर इत्यादि पर शोध-कार्य किया। उन्होंने देखा कि त्रषला या ताल वाद्यों में खाल का प्रयोग होता है परन्तु इनसे भी स्वर व अधिस्वर इस प्रकार निकलते हैं कि ये गिटार या वीणा तार के समान ही कार्य करते हैं।

रामन ने विभिन्न वाद्यों से संबंधित एक लेख जर्मन फिजिकल सोसाइटी की पत्रिका–'हैण्डबुक ऑव फिजिक्स' में भी लिखा था।

रामन 1924 में लन्दन की 'रायल सोसाइटी' के फैलो बने। 1926 में उन्होंने एक वैज्ञानिक पत्रिका 'इण्डियन जर्नल फॉर फिजिक्स' का प्रकाशन आरंभ किया।

रामन प्रभाव की खोज

सन् 1921 में रामन ने ऑक्सफोर्ड में होने वाली विश्वविद्यालय कान्फ्रेंस में भारत का प्रतिनिधित्व किया। इस यात्रा के दौरान प्रो. रामन को भूमध्यसागर का नीला रंग देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उसी समय उनके मस्तिष्क में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सागर का रंग नीला क्यों है। उन्होंने **लॉर्ड रैले** के समुद्र के नीले रंग के होने की व्याख्या को पढ़ा था जो इस प्रकार था–समुद्र के पानी के नीले होने का कारण है आकाश की नीलिमा का अक्स। परन्तु रामन को यह व्याख्या तर्कसंगत न लगी अतः उन्होंने कान्फ्रेंस से वापस लौटते ही इस पर खोज आरंभ कर दी। उन्होंने एक पोलराइजर प्रिज्म से प्रयोग किया और सोचा कि अभिविन्यसित प्रिज्म में आकाश की नीलिमा घट जायेगी तो समुद्र के पानी की सफेदी दिखाई देगी। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि नीलिमा स्वयं पानी के अन्दर से ही आ रही है।

प्रयोगों द्वारा प्रो. रामन ने यह निष्कर्ष निकाला कि सागर के पानी के नीला होने का कारण जलकणों द्वारा सूर्य के प्रकाश का प्रकीर्णन है। अतः उन्होंने 'तरल पदार्थों में प्रकाश का प्रकीर्णन' तथा 'तरल पदार्थों में एक्स किरणों का प्रकीर्णन' व 'तरल पदार्थों की श्यानता' पर अनेक प्रयोग किये।

प्रयोगों में उन्होंने देखा कि जब किसी ठोस, द्रव अथवा गैस, जो कि पारदर्शी हो, पर मरकरी आर्क लैम्प का प्रकाश डालते हैं और उससे प्रकीर्णित प्रकाश को एक स्पेक्ट्रोग्राफ से देखते हैं तो उसके वर्णक्रम (Spectrum) में कुछ नई रेखाएं दिख़ाई देती हैं, जो मूल रेखाओं से भिन्न हैं।

रामन ने इस संबंध में बंगलौर में 16 मार्च 1928 को साउथ इण्डियन ऐसोसियेशन में अपने विचार प्रस्तुत किये। एक जर्मन वैज्ञानिक **प्रिंगशइम** ने इस खोज को **'रामन प्रभाव'** का नाम दिया और वर्णक्रम में जो नई रेखाएं रामन ने देखी थीं उन्हें रामन रेखाएं कहीं।

सन् 1930 में रामन प्रभाव की खोज के लिए प्रो. सी. वी. रामन को स्वीडिश अकादमी ने 'नोबेल पुरस्कार' प्रदान किया। यह सम्मान उन्हें स्टाकहोम में दिया गया। वह एशिया के सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने यह सम्मान प्राप्त किया। रामन की खोज ब्रिटिश विज्ञान पत्रिका में 1928 में, 'ए न्यू टाइप ऑव सेकण्डरी रेडियेशन' (A new type of secondary radiation) नामक शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

रामन प्रभाव क्या है ?

रामन के अनुसार यदि कोई पदार्थ गैस, द्रव अथवा ठोस हो तथा उसे किसी निश्चित आवृत्ति (Frequency) के प्रकाश में रखा जाय तो जो प्रकाश 90^0 के कोण से प्रकीर्णित होता है, उसकी आवृत्ति बदल जाती है। यह आवृत्ति परिवर्तन पदार्थ के गुणधर्म पर निर्भर करती है। अतः 'रामन प्रभाव' की सीधे शब्दों में व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है–"वह घटना जिसके कारण प्रकीर्णित प्रकाश किरण की आवृत्ति (Frequency) आपतित किरण की अपेक्षा परिवर्तित हो जाती है। और यह परिवर्तन परमाणुओं के दोलन में परिवर्तन होने के कारण होता है। इसी घटना को रामन प्रभाव कहते हैं।"

यदि इस प्रकीर्णित प्रकाश को स्पेक्ट्रोमीटर से परखा जाये तो हमें एक वर्णक्रम (Spectrum) प्राप्त होता है, जिसे 'रामन स्पेक्ट्रा' कहते हैं। इस वर्णक्रम आपतिति किरण के दोनों ओर भिन्न रेखाएं दिखाई देती हैं। इसमें कम आवृत्ति की ओर जो रेखाएं होती हैं उन्हें स्टोक्स रेखाएं (Stokes Lines) और उच्च आवृत्ति की ओर जो रेखाएं होती हैं, प्रतिस्टोक (Antistokes) रेखाएं कहते हैं। स्टोक्स रेखाएं, प्रतिस्टोक की अपेक्षा अधिक तीव्र (highly intensed) होती हैं। रामन प्रभाव में प्रकीर्णित प्रकाश की आवृत्ति के परिवर्तन की घटना को 'प्रकाश और अणुओं की अप्रत्यास्थ टक्कर सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है।

विभिन्न क्षेत्रों में रामन प्रभाव का प्रयोग

रामन वर्णक्रम का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि रामन आवृत्ति की सीमा (Frequency order) 500-5000 सेमी. होती है। इससे अवशोषित अणुओं की रोटेशनल और बाइब्रेशनल ऊर्जाएं बदल जाती हैं। रामन वर्णक्रम का अध्ययन समध्रुवीय तथा विषमध्रुवीय दोनों ही पदार्थो में किया गया है।

अब तक ठोस, द्रव तथा गैस तीनों ही अवस्थाओं में रामन प्रभाव का विस्तृत प्रयोग किया जा चुका है। ठोसों में सर्वप्रथम रामन प्रभाव का अध्ययन **बीयर** (Beer), **मांजिस** (Manzies) तथा **लॉसवर्ग** (Lausberg) नामक वैज्ञानिकों ने किया। ठोसों में रामन प्रभाव का अध्ययन छोटे क्रिस्टलों या पाउडर के रूप में किया जाता है। इसमें आपतित प्रकाश किरण क्रिस्टल की सतह से प्रकीर्णित होता है। **भगवन्तम, मोटोसी** (Motossi) आदि वैज्ञानिकों ने विभिन्न ठोसों में रामन प्रभाव की व्याख्या की है जिनमें से प्रमुख है कैल्साइट ($C_a\ CO_3$), जिप्सम ($Ca\ SO_4.2H_2O$), अमोनियम क्लोराइड ($NH_4\ Cl$) और सोडियम नाइट्रेट ($N_a\ NO_3$) क्वार्टज इत्यादि।

रामन प्रभाव के प्रयोग से द्रवों में अब तक 800 से भी ज्यादा द्रवों के निकायों में खोज की जा चुकी है। कार्बन टेट्राक्लोराइड के वर्णक्रम में स्टोक्स और प्रतिस्टोक्स रेखाएं आपतित प्रकाश के दोनों ओर बराबर दूरी पर होती हैं।

अब तक अनेक गैसीय पदार्थों में भी रामन प्रभाव का अध्ययन किया जा चुका है जिनमें से प्रमुख हैं (HCl, CO) और (CO_2) बाद में कुछ और प्रमुख गैसों का अध्ययन किया गया। ये हैं–(N_2, H_2, NH_3, H_2O और CO_2) इत्यादि।

'रामन प्रभाव' रसायनशास्त्र के लिए एक वरदान साबित हुआ तथा इसकी खोज के बाद अनेक क्षेत्रों में इसका उपयोग बहुत लम्बे समय तक किया गया। प्रयोगों के पश्चात् जो रामन वर्णक्रम प्राप्त होता है उसकी सहायता से पदार्थ की मूलभूत प्रकृति तथा संरचना को आसानी से ज्ञात किया जा सकता है।

क्रिस्टलीय तथा अक्रिस्टलीय पदार्थो की संरचना जानने में रामन प्रभाव एक प्रमुख खोज साबित हुआ। इस प्रभव के अन्तर्गत् ही धातुओं व अधातुओं के गुण धर्म व परमाणविक संरचना ज्ञात की गई। परन्तु कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो रामन वर्णक्रम नहीं देते हैं। ये हैं–$Na\ Cl_2$, $BaCl_2$, $Ca\ Cl_2$, $Sn\ Cl_2$, $AgCl$ और KCl. इनमें से कुछ अत्यन्त धुंधले स्पेक्ट्रम देते हैं। ये हैं–$BiCl_2$, $Cd\ Cl_2$, $AlCl_2$ आदि। कुछ क्लोराइड ऐसे भी हैं जो अत्यन्त शुद्ध वर्णक्रम प्रदान करते हैं। ये हैं–हाइड्रोजन क्लोराइड, कार्बन टेट्राक्लोराइड, फासफोरस ट्राइ क्लोराइड, मरक्यूरस क्लोराइड इत्यादि।

अतः रामन प्रभाव की उपयोगिता की व्याख्या सरल शब्दों में इस प्रकार की जा सकती है कि रामन प्रभाव के खोज से आज अणुओं की संरचना तथा परमाणुओं के बीच बनने वाले बन्ध, पदार्थो की शुद्धता तथा उनमें उपस्थित अभिलक्षकीय समूह (functional group) को ज्ञात किया जा सकता है। प्रो. रामन के शिष्य **प्रो. जी. एस. कृष्णन** ने रामन प्रभाव के द्वारा क्रिस्टलों में कंपनों का अध्ययन किया और एक नई शाखा 'लैटिसगतिकी" विकसित की।

रामन प्रभाव तथा रामन स्पेक्ट्रॉस्कोपी

अब अधिकाधिक पदार्थो पर रामन प्रभाव का अध्ययन किया जा चुका है तो वैज्ञानिकों की रुचि रामन प्रभाव में कम होने लगी। 1930 से लेकर 1960 तक के समय अन्तराल में 250 से भी अधिक पदार्थो में रामन प्रभाव का अध्ययन किया जा चुका था। परन्तु 1960 में लेसर किरणों का आविष्कार हुआ, जिससे पुनः रामन प्रभाव के क्षेत्रों में एक नई क्रांति का उदय हुआ। वैज्ञानिकों ने लेसर किरणों के प्रयोग से एक ऐसी युक्ति विकसित की जिससे जो रामन रेखाएं अत्यन्त क्षीण थीं और क्षीण होने के कारण जिन्हें देखना संभव नहीं था, उन्हें अब और प्रदीप्त रूप में देखा जा सकता था। वैज्ञानिकों ने लेसर और रामन प्रभाव से लेसर 'रामन-स्पेक्ट्रॉस्कोपी' विकसित की। लेसर शब्द अंग्रेजी के पाँच अक्षरों से मिलकर बना है। इसका विस्तृत रूप है–लाइट एम्पलीफिकेशन बाई स्टीमुलेटेड एमीशन ऑव रेडिएशन (Light amplification by stimutated emission of radiation)। लेसर किरणें साधारण किरणों से भिन्न होती हैं। लेसर एक एसी युक्ति है, जिसमें विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा को विद्युत्-चुम्बकीय किरणों में बदला जाता है। लेसर किरणों के अद्‌भुत् गुण निम्न प्रकार हैं–

(1) यह लाखों किलोगिटर की दूरी तय करने पर भी बहुत कम फैलती है। इस गुण को दिशात्मकता का गुण कहते हैं।

(2) लेसर किरणें एक ही तरंगदैर्ध्य की होती हैं।

(3) लेसर किरणों की तीव्रता अत्यधिक होती है। एक लेसर किरण की तीव्रता लाखों सूर्यो के बराबर होती है।

(4) लेसर किरणें समान्तर या Collinated होती हैं।

(5) लेसर किरणें सम्बद्ध या Coherrent होती हैं।

लेसर किरणों के इन्हीं अद्‌भुत् गुणों के कारण ही इनका उपयोग करके रामन रेखाएं आँख द्वारा स्पष्ट देखी जा सकती हैं। लेसर किरणों के उपयोग से रामन स्पेक्ट्रॉस्कोपी के क्षेत्र में एक नई खोज हुयी जिसे 'स्टिमुलेटेड रामन प्रभाव' का नाम दिया गया। इस प्रभाव का प्रयोग करके अनके आवृत्तियों का एक सम्बद्ध स्रोत बनाया जा सकता है। स्टिमुलेटेड रामन प्रभाव या'रामन लेसर'बनाने के लिए हाइड्रोजन, ड्यूटीरियम और मीथेन आदि उपयोग में लाये जाते हैं।

□□□

नये शोध अध्ययन

एक काग़ज़ जिसे लपेटें भी, खाएं भी

इजराइल में जेरूसलम के हिब्रू विश्वविद्यालय के अनुसंधानकर्ताओं ने एक ऐसा विशेष प्रकार का काग़ज़ बनाया है जिसे खाद्य पदार्थों पर लपेटा भी जा सकता है और खाया भी जा सकता है। यह काग़ज़ हाइड्रोकोलायड पर आधारित है, जो पानी में घुलनशील एक पोलीमर है। यह हाइड्रोकोलायड प्राकृतिक रूप से प्राप्त किये जा सकते हैं या संश्लेषित किये जा सकते हैं और ये पूरी तरह खाने के काम में भी लाए जा सकते हैं।

हिब्रू विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने इन्हीं हाइड्रोकोलायडों को आधार बनाकर विशेष प्रकार के स्पंजी पदार्थ भी बनाए हैं, जिन्हें कम कैलोरीमान वाले कोलेस्टेरोल-रहित स्वादिष्ट नाश्ता खाद्य बनाने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। ऐसे नाश्ता आहार पोषक और भूख मिटाने वाले होते हैं।

हाइड्रोकोलायड आधारित खाद्योपयोगी काग़ज़ चिपकने वाले टाफी जैसे खाद्य पदार्थों को लपेटने के लिए तथा कृषि पदार्थों की पैकेजिंग के लिए अभी इस्तेमाल किये जाने वाले संश्लेषित पदार्थों की जगह उपयोग में लिए जा सकते हैं।

हाइड्रोकोलायडों की सबसे बड़ी उपयोगिता इस बात में बताई जा रही है कि इनका उपयोग केक और कुकीज जैसे खाद्यों को सेंकने में शराब, जूस अथवा अन्य द्रव पदार्थों की बूंदों को मिलाने के लिए किया जा सकेगा। हाइड्रोकोलायड में लिपटी इन द्रवों का बूंदें केक के लिए गूंधे गए पेस्ट में मिलाई जा सकती हैं। ये बूंदें तैयार केक में ऐसी ही बनी रह सकती हैं और इनका स्वाद केक खाने वाले के मुंह में उस वक्त महसूस होता है जब ये बूंदें केक खाने वाले के मुंह में पहुंचती हैं। इन पदार्थों का इस्तेमान करके अनेक नए प्रकार के स्वादिष्ट डेरी खाद्य बनाए जा सकेंगे।

इजराइल के वैज्ञानिक हाइड्रोकोलायडों का उपयोग भरण पदार्थों की तरह बच्चों के पोतड़ों (डायपर) और महिलाओं द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले सैनिटरी नेपकिनों में भी करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हिब्रू विश्वविद्यालय की यिसुम रिसर्च डिवेलपमेंट कम्पनी इस नई विधि का पेटेंट प्राप्त कर रही है और ऐसे पूंजी लगाने वालों की खोज में है, जो इस विधि का उपयोग औद्योगिक उत्पादन में करने के इच्छुक हैं। **(सम्प्रेषण)**

जैव-प्रौद्योगिकी का कृषि में उपयोग

□ डॉ० दिनेश मणि
संयुक्त मंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद–2

आज शायद ही कोई क्षेत्र हो जो जैव-प्रौद्योगिकी के चमत्कार से अछूता हो। चिकित्सा, कृषि, उद्योग, ऊर्जा और पर्यावरण-प्रदूषण-नियन्त्रण जैसे सभी क्षेत्रों में जैव-प्रौद्योगिकी के द्वारा अनेक असंभावनाओं को संभावनाओं में बदला जा रहा है। वैसे तो जैव-प्रौद्योगिकी एक पुरानी विधि ही है, जिसमें एल्कोहॉल से लेकर प्रतिजैविक (एन्टीबायोटिक) तक विभिन्न प्रकार के पदार्थों के उत्पादन एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के संक्रामक रोगों से रक्षा करने के लिये टीके तैयार करने में किण्वन विधि की सहायता ली जाती है, परन्तु वर्तमान में इसमें हुयी उल्लेखनीय प्रगति ने असीम संभावनाओं के अनेक द्वार खोल दिये हैं। इस नई जागृति का कारण डी एन ए में आवश्यक एवं महत्वपूर्ण परिवर्तन कहा जा सकता है। हम यहाँ जैव-प्रौद्योगिकी के बहुआयामी और अन्तहीन उपयोगों के विस्तार में न जाकर केवल कृषि के क्षेत्र में इसकी उपयोगिता पर चर्चा कर रहे हैं। ऐसे जीन जो दलहनी फसलों में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन के स्थिरीकरण का कार्य सुचारु रूप से कर सकते हैं, की पहचान कर ली गयी है तथा इन जीनों को धान्यों के अन्दर प्रविष्ट करने हेतु शोध कार्य जारी है जिससे वे स्वतः नाइट्रोजन का स्थिरीकरण कर अपनी आवश्यकता पूरी कर सकें। फसलों की पैदावार बढ़ाने में पौधों की वृद्धि दर को प्रकाश-संश्लेषण की अभिक्रिया से तीव्र करने के लिये वैज्ञानिकों ने वंशाणुवीय फेरबदल का भी प्रदर्शन किया है। इस तकनीक से फसलों से ही नहीं अपितु कई जानवरों से अधिक मांस, ऊन, दूध प्राप्त किया जा रहा है। सुअरों की कम खाऊ अधिक मांस उपजाऊ नस्लों की तीव्र संभावनायें प्रकाश में आ गयी हैं। जैव-प्रौद्योगिकी के माध्यम से पशु-प्रजनन अब एक व्यावहारिक उद्योग का रूप ले रहा है। भारत में 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव इम्यूनोलॉजी' की प्रयोगशाला में गायों में भ्रूण अन्तरण की तकनीक से उन्नतशील मवेशियों का प्रजनन बिना चीर फाड़ के संभव हो चला है। प्रयोगशाला में पौधे उत्पन्न करने की दिशा में ऊतक-सम्बद्र्धन (टिशू कल्चर) के अनके लाभप्रद परिणाम सामने आ चुके हैं। एशियाई देशों, विशेषकर विकासशील देशों, में इस तकनीक के द्वारा खजूर, नारियल, केला और अनेक कन्दों के संवद्र्धन उद्योग का प्ररम्भ हो चुका है। ऊतक संवद्र्धन तकनीक से पौधों को एक विशिष्ट वांछनीय गुण के लिये अथवा बीज रहित फलों, सब्जियों के लिये संचारित किया जाता है। अब ऊतक-संवद्र्धन द्वारा सम्पूर्ण वनस्पति का पुनर्जनन सम्भव हो गया है। "एन्जाइम अभियांत्रिकी", जैव-प्रौद्योगिकी का एक और महत्वपूर्ण पहलू है। इससे सुगमतापूर्वक विशिष्ट एन्जाइमों द्वारा अनेक क्लिष्ट रासायनिक अभिक्रियायें सहज ही सम्पादित की जा सकती हैं। इससे सबसे बड़ी सफलता तब होगी जब इस विधि से असीम ऊर्जा प्राप्त की जा सकेगी तथा सेल्यूलोज से शर्करा बनाने वाले जीवाणुओं का विकास हो जायेगा। ऊतक-संवद्र्धन (टिशू कल्चर) के द्वारा हमारे देश में सबसे अधिक लाभदायक परिणाम इलायची के साथ प्राप्त हुये हैं। इलायची की अधिक उपज देने वाली किस्मों का "टिशू कल्चर" व्यावसायिक स्तर पर शुरू किया गया है। यह एक अत्यन्त व्यावसायिक महत्व की फसल है तथा 65 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा उपलब्ध कराती है। यही नहीं, कुछ जैव-प्रौद्योगिकीविदों के अनुसार इस तकनीक द्वारा सम्पूर्ण अफ्रीका की "कसावा" की फसल को विषाणुमुक्त बनाया जा सकता है। यदि जैव-प्रौद्योगिकीविद् ऐसा "कसावा" तैयार करने में सफल हो जाते हैं, जो विषाणुओं का प्रतिरोध करने में भली भांति सक्षम हो, तो सचमुच यह एक अपूर्व सफलता कही जायेगी। जैव-प्रौद्योगिकी की सहायता से शोभाकारी पौधों का

उत्पादन एवं उद्योग भी तेजी से विकसित हो रहा है। इस तकनीक से समाप्तप्राय वन-सम्पदा को पुनर्स्थापित किया जा रहा है। कृषि वानिकी कार्यक्रमों सहित बंजर तथा ऊसर भूमियों को हरा-भरा करने में इस तकनीक के सफल प्रयोग किये जा रहे हैं। आनुवंशिक अभियान्त्रिकी से ऐसे पैधों और फसलों का विकास हो रहा है, जो विपरीत पर्यावरणीय स्थितियों जैसे सूखे और अम्लीय-क्षारीय मृदा के प्रति सहनशील हैं। इस तकनीक के चलते रोगों और नाशीजीवों के प्रति प्रतिरोधक्षमता वाली पौध-प्रजातियों का विकास हो रहा है। ऐसी पौध-प्रजातियाँ भी विकसित हो रही हैं जो नाइट्रोजन स्थिरीकरण के लिये खुद अपने उर्वरक उत्पादित करती हैं। बहुत सारी समस्याओं के बाद भी तीसरी दुनिया के कुछ देशों के वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पहली हरित क्रान्ति के कारण उर्वरकों और रासयनिक कीटनाशकों पर जो निर्भरता बढ़ी है उससे छुटकारा शायद जैव-प्रौद्योगिकी से मिल जाये। भारतीय कृषि वैज्ञानिक **डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन** के अनुसार लगभग प्रत्येक विकासशील देश जैव-प्रौद्योगिकी का उपयोग करने के लिये कार्यक्रम या तो बना चुके हैं या बना रहे हैं। हमारे यहाँ जैव-प्रौद्योगिकी बोर्ड ने अनुसंधान के लिये आनुवंशिक प्रौद्योगिकी, प्रकाश-संश्लेषण तथा ऊतक-संवर्धन के लक्ष्य निर्धारित किये हैं। फिलीपीन्स में हरित क्रान्ति के कारण चावल, मक्का तथा सब्जियों की जो परम्परागत जातियाँ लुप्त होने को हैं, उनके लिये बीज-संग्रह और 'जीन बैंक' बनाने के कार्यक्रम चल रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं की जैव-प्रौद्योगिकी की नई विधियाँ रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशियों, खरपतवारनाशियों तथा कवकनाशियों के बुरे प्रभावों के प्रति सहनशील पौध और फसल प्रजातियाँ अब आनुवंशिक अभियान्त्रिकी की बढ़ती प्रगति की आशातीत उपलब्धि के अन्तर्गत हैं। भारी मात्रा में कृषि अपशिष्टों से उपयोगी सामग्री विकसित करने की व्यावहारिक सम्भावनायें प्रकाश में आ रही हैं। फिर भी हमें जैव-प्रौद्योगिकी की विधियों को प्रयोग करने के पूर्व यह सावधानी बरतने की आवश्यकता है कि जीन-हस्तान्तरण के फलस्वरूप कहीं विपरीत परिणाम तो प्राप्त नहीं हो रहे हैं। असावधानी से जीन के आन्तरिक परिवर्तन द्वारा ऐसे विषाणु भी उत्पन्न हो सकते हैं, जो भयावह स्थिति पैदा कर स्वयं अपने या किसी 'विभेद' द्वारा संक्रमण पैदा कर किसी देश की मिट्टी, जलस्रोत, पर्यावरण (जैव वातावरण तथा कृषि वातावरण) को कुप्रभावित कर दें। अतः हमें डी एन ए को नियन्त्रित ढंग से 'काटने' और 'जोडने' पर पूरा ध्यान देना होगा ताकि कोई अनहोनी न होने पाये।

□□□

अब बैक्टीरिया
अंगुलियों के निशान जांचने में मदद देंगे

घटना स्थल पर प्राप्त अस्पष्ट अंगुलियों के निशान के कारण कई बार अपराध करने के बावजूद अपराधी बच जाते हैं। खुरदरी वस्तुओं, चमकीली रंगीन सतहों—मसलन तैल चित्रों आदि पर अंगुलियों के निशानों की ठीक-ठीक जांच करना मुश्किल होता है। लंदन में पुलिस फोरेंसिक साइंस लेबोरेटरी द्वारा किए जा रहे अनुसंधान कार्य से इस समस्या से छुटकारा मिलने की आशा बंधी है।

ये अनुसंधान कार्य अब से कोई 40 वर्ष पहले किए गए एक परीक्षण पर आधारित हैं। तब पता लगया गया था कि मानवीय त्वचा के बैक्टीरिया पोषक कुकरमुत्ते में फल-फूल सकते हैं। पहले की गई खोज के साथ दिक्कत यह थी कि अपराधी की अंगुलियों के निशान का कुकरमुत्ते पर ही होना जरुरी था। जाहिर है कि हर बार घटनास्थल के पास कुकरमुत्ते का होना और फिर उस पर अपराधी का अंगुलियों के निशान छोड़ना असंभव ही है।

लेकिन हाल ही में मानवीय बैकटीरिया में एक दुर्लभ प्रवृति का पता चला है। ये बैक्टीरिया अस्पष्ट धुंधले अंगुलियों के निशान में सीबेसस ग्रंथ के स्राव में रह सकते हैं। बैक्टीरिया की यह प्रवृति ऐसीटोबेक्टर कैल्सिया-कैसियस कहलाती है। इस तरह उठाए जाने वाले अंगुलियों के निशान ठंडे करके सुखाए जाते हैं और फिर उन्हें गर्म करके जांच के लिए तैयार किया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में करीब 24 घंटे लग जाते हैं।

वर्तमान अनुसंधान कार्य में उन परिस्थितियों पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है जिसमें जांच का यह नया तरीका खरा उतर सके। ***(सम्प्रेषण)***

प्लास्टिक प्रदूषण

□ डॉ० वी० के० श्रीवास्तव
4/5 डाली बाग कॉलोनी
लखनऊ-226001 (उ० प्र०)

विज्ञान के चमत्कार ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है। पॉलीथीन बैग्स भी विज्ञान के चमत्कार हैं जिसकी वजह से आजकल घरेलू उपयोग में पॉलीथीन बैग्स ने पैकेजिंग सुविधा में नये आयाम जोड़ दिये हैं। पॉलीथीन बैग्स प्लास्टिक के बनते हैं। इसलिये वर्तमान युग में प्लास्टिक का उपयोग भी बहुत बढ़ गया है। दूध हो या घी या फिर साफ्ट ड्रिंक या कोई अन्य उत्पादन, सभी की पैकिंग पॉलीथीन में आने लगी है। पॉलीथीन के प्रयोग से मनुष्य में प्रयुक्त सामान को फेंक देने की प्रवृत्ति बढ़ी हैं तथा कूड़ा-कचरा के क्षेत्र में पॉलीथीन बैग ने कूड़ा-निस्तारण की समस्या को जटिल बनाया है। इसका निस्तारण न हो पाने की वहज से यह एक बड़ी समस्या हो गई है और चूँकि इसको अब मानव जरूरत से पूर्णतया निकाला नहीं जा सकता अतः यह कहना उचित होगा कि इसके बढ़ते प्रयोग को देखकर अब इसके बिना पैकेजिंग की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिये इसके निस्तारण की दिशा में गंभीरता से सोचा जाना और प्रयास करना ही समस्या का हल हो सकता है अन्यथा पर्यावरण के लिए भी खतरा पैदा हो सकता है।

आज के युग में अधिकतर रबर, चमड़ा और जूट के स्थान पर प्लास्टिक का ही प्रयोग किया जा रहा है। प्लास्टिक के वर्तन, फर्नीचर्स, जूते, पाइप और मशीन के अनेक पार्ट भी आजकल बनाये जाते हैं। इस प्रकार प्लास्टिक हमारे दैनिक उपेयोग में आ गया है। प्लास्टिक पेट्रो रसायन से भी बनता है इसलिये इसमें अनेक प्रकार के खराब तत्व विद्यमान रहते हैं जो हानिकारक हैं।

विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारत में पॉलीथीन एवं इसी तरह के अन्य उत्पादों का प्रयोग काफी कम है। लेकिन जिस तरह दैनिक जीवन में इसका प्रयोग बढ़ता जा रहा है, उसको देखते हुए अगर इसके निस्तारण की दिशा में अभी से गम्भीरता से नहीं सोचा गया तो आने वाले वर्षों में यह समस्या काफी उग्र रूप ले लेगी। पिछले 5-7 सालों से पॉलीथीन बैग का उपयोग अचानक काफी बढ़ गया है। करीब 10 वर्ष पहले शहर में जो कूड़ा-कचरा निकलता था उसमें पॉलीथीन बैग की मात्रा आधा प्रतिशत से भी कम होती थी। लेकिन इन वर्षों में कूड़ा-करकट में अप्रत्याशित रूप से पॉलीथीन बैग की मात्रा बढ़ी है और कुल कूड़े-कचरे में इसकी मात्रा करीब 10% होती है। एक सर्वेक्षण के मुताबिक कूड़े में करीब 10% पॉलीथीन बैग तथा 5% शीशे के टुकड़े और शेष अन्य सामान होते हैं। इसमें पॉलीथीन बैग निस्तारण के लिए एक गम्भीर समस्या बन चुकी है क्योंकि यह किसी भी हालत में नष्ट नहीं होती है। कूड़ा-करकट से निकलने वाला काफी पदार्थ तो अपने आप नष्ट हो जाता है। कुछ खाद के रूप में भी प्रयोग कर लिया जाता है। सिर्फ पॉलीथीन ही ऐसी चीज है जो न तो नष्ट होती है, न इसका सड़ना-गलना सम्भव है और इसको जलाया भी नहीं जा सकता, क्योंकि जलाये जाने पर यह विषाक्त गैस पैदा करता है। पॉलीस्टीरीन नामक प्लास्टिक को जलाने में क्लोरोफ्लोरोकार्बन बाहर आते हैं, जो ओज़ोन के जीवन रक्षक कवच को नष्ट करते हैं। ओज़ोन के नष्ट होने से धरती पर प्रलयंकारी स्थिति पैदा हो सकती है। इसलिये संसार के अनेक देशों में प्लास्टिक कचरे को जलाने पर रोक लगा दी गई है। पॉलीथीन नष्ट न होने की वजह से सफाई कार्य में काफी व्यवधान डालता है। सीवर चोक की जितनी घटनाएँ होती हैं उनमें 70% पॉलीथीन बैग

की वजह से होती हैं। मानव-स्वास्थ्य के लिये भी इनका प्रयोग हानिकारक है। नगर के जिन क्षेत्रों में कूड़ा-करकट डाला जाता है, वहाँ का बहुत बड़ा भाग विषाक्त गैस के प्रभाव में रहता है। गर्मी के दिनों में प्लास्टिक पदार्थों की विषाक्तता बढ़ जाती है। इसलिये ऐसे स्थानों से गुजरने वालों को दुर्गन्ध का सामना करना पड़ता है। ऐसे क्षेत्रों के पास किसी आबादी का रहना या कुछ घण्टों तक लोगों का नियमित कार्यवश रहना भी जीवन के लिऐ काफी घातक होता है। इस प्रकार प्लास्टिक पदार्थों का उपयोग इसी प्रकार बढ़ता रहा है और इसके निस्तारण की व्यवस्था नहीं हुई तो इसकी रासायनिक प्रतिक्रिया पूरे शहर के लिए भी ख़तरनाक हो सकती है।

चूँकि प्लास्टिक के कचरे को पूर्णतया नष्ट नहीं किया जा सकता है इसलिये वैज्ञानिक कोशिश कर रहे हैं कि इसे कुछ तकनीकों से गलाकर फिर से उपयोग में लाया जा सके। यह क्रिया 'रिसाइक्लिंग' कहलाती है। परन्तु यह क्रिया कठिन भी है और इसमें धन भी बहुत व्यय होता है। इसके अतिरिक्त इस क्रिया से प्रदूषण भी बढ़ता है।

जर्मनी के पर्यावरण वैज्ञानिकों के अनुसार यदि 50, 000 पॉलीथीन बैग्स तैयार किये जाते हैं तो 17 किलो सल्फर डाइऑक्साइड गैस वायुमण्डल को प्राप्त होती है तथा मोनो-ऑक्साइड, नाइट्रोजन और हाइड्रोकार्वन्स वायु में मुक्त होते हैं और पानी में कुछ ज़हरीले पदार्थ भी आकर मिलते हैं। इसी प्रकार जब फाइबर बनाये जाते हैं तो उसमें कम से कम 13 किलो नाइट्रोजन ऑक्साइड और 12 किलो सल्फर डाइऑक्साइड निकलकर वायुमण्डल में मिलती हैं। इससे (गैसों से) पेड़-पौधों एवं फसलों को नुकसान पहुँचता है। उनकी बाढ़ प्राकृतिक तरीके से नहीं हो पाती है। इस प्रकार प्लास्टिक के द्वारा पर्यावरण प्रभावित होता है। इसीलिये पर्यावरण को प्लास्टिक के ख़तरे से बचाने के लिये वैज्ञानिकों ने ऐसे प्लास्टिक बनाये हैं जो कुदरती ढंग से सड़-गल सकते हैं। ये दो तरह के होते हैं। एक तो वे जिन्हें जीवाणु या फफूँद जैसे सूक्ष्मजीव गला सकते हैं, दूसरे वे जो धूप की मार से सड़-गल सकते हैं । पहली तरह के प्लास्टिक को जैवअपघट्य यानि "बायोडिग्रेडेबिल" कहा जाता है, जबकि दूसरे वर्ग के प्लास्टिक को प्रकाश-अपघट्य यानि "फोटोडिग्रेडेबिल" कहा जाता है। परन्तु इसके निर्माण में बहुत खर्च होता है इसलिये यह विधि ज्यादा उपयोगी सिद्ध नहीं हो पायी है।

यूरोपीय देशों में पॉलीथीन के निस्तारण के सम्बन्ध में सफल प्रयोग हो चुके हैं। अभी भारत ही नहीं पूरे एशिया में पॉलीथीन की पैकेजिंग में प्रयोग अन्य देशों की अपेक्षा कम है। वर्ष 1987 में कनाडा में प्रतिव्यक्ति 19.45% पॉलीथीन प्रयोग की जा रही थी, जबकि एशिया में मात्र 1.3% प्रयोग की मात्रा थी। इसके बावजूद पॉलीथीन के बढ़ते प्रयोग को देखते हुए अभी से इस ओर सोचना शुरू कर देना चाहिए, जिससे आगे आने वाले वर्षों में इस समस्या पर प्रभावी नियन्त्रण पाया जा सके।

वर्तमान समय में पॉलीथीन निस्तारण की प्रक्रिया इतनी खर्चीली है कि विकासशील देशों को उसका बोझ उठाने में काफी मुश्किल होती है तथा भविष्य में और भी होगी। पश्चिमी देशों की आम जनता भारत की तुलना में प्रदूषण के प्रति कहीं ज्यादा जागरूक है इसलिये वहाँ अनेक उपभोक्ता संगठनों के माध्यम से प्लास्टिक का जोरदार बहिष्कर हो रहा है। वैसे एक चौंकाने वाला तथ्य यह है कि हमारे देश में खेती तक में प्लास्टिक का इतना व्यापक प्रयोग किया जा रहा है कि 'प्लास्टिक कल्चर' जैसे शब्द चलन में आ गये हैं। यदि हम पश्चिमी देशों की नकल करते हुए प्लास्टिक का प्रयोग करते रहे तो वह दिन दूर नहीं है जब प्लास्टिक हमें गंभीर पर्यावरणीय खतरे में फंसा सकती है। हमारे पास न तो इतना धन है कि हम आसानी से सड़ने-गलने वाला प्लास्टिक बना सकें और न ही इसे पुनर्चक्रण द्वारा फिर से उपयोग में लाने का कोई सही बन्दोबस्त ही। इसलिये उचित यहीं होगा कि हम प्लास्टिक के मोह-जाल में न फंसकर प्लास्टिक के अधिक उपयोग से बचें। इसका कम से कम प्रयोग करना चाहिये और अच्छा तो यह होगा कि धीरे-धीरे हम ऐसी आदत डालें कि इसका प्रयोग पूर्णतया बन्द हो जाय।

□□□

कहाँ मिलता है मूँगा ?

डॉ. विजय कुमार उपाध्याय
प्राध्यापक, भूगर्भ, इंजिनियरी कॉलेज
भागलपुर–813210

मूँगा या प्रवाल का उपयोग भारत तथा अन्य देशों में काफी प्राचीन काल से होता आ रहा है। भारत के आयुर्वेदज्ञों ने ईसा-पूर्व काल से ही मूँगे से मूँगा भस्म बनाने का काम शुरू कर दिया था, जिसका उपयोग अनेक प्रकार की दवाओं के निर्माण में व्यापक स्तर पर किया जाता था। बिहार में बोधगया नामक स्थान पर तीसरी शती ई.पू. में **सम्राट अशोक** ने वज्रासन का निर्माण कराया। बहुला पत्थर से बना यह वज्रासन ईटों से निर्मित एक चबूतरे पर स्थापित किया गया था। इस चबूतरे के ऊपर चूने का पलस्तर चढ़ा हुआ था, जिसमें अन्य कई रत्नों के साथ मूँगे को भी गुँथा गया था। इसके अलावा प्राचीन भारत में मूँगे का उपयोग रत्न के रूप में कई शताब्दियों से होता आया था। लोगों की मान्यता थी कि इसे धारण करने से मंगल ग्रह द्वारा पड़ने वाला अनिष्ट प्रभाव नियंत्रित किया जा सकता है। यही कारण है कि इसे नौ-रत्नों में शामिल किया गया। इन्हीं कारणों से प्राचीन भारत में इसकी काफी मांग थी। प्रसिद्ध यूरोपीय **वैज्ञनिक प्लाइनी** ने **ईसा** के बाद पहली शती में अपने द्वारा लिखित एक पुस्तक में बताया है कि भारत में कोई पुरुष मूँगे को उतना ही महत्व देता था जितना रोम में कोई महिला मोती को। प्राचीन काल में भारत में मूंगा बहुत कम मिलता था। यहाँ मूंगे का आयात प्रायः रोम से किया जाता था। प्राचीन काल में यूनान तथा रोम में योद्धा अपने शिरस्त्राण (हेलमेट) तथा हथियारों को मूंगों से सजाते थे। रोम में बच्चों को अपशकुन या कुदृष्टि से बचाने के लिये उन्हें मूंगों की माला पहनायी जाती थी।

मूंगा प्रायः लाल या सिंदूरी रंग का होता है, परन्तु सफेद, मटमैले, काले तथा गुलाबी रंग के मूंगे भी पाये जाते हैं। यह एक अपारदर्शक रत्न है जिसकी कठोरता मोम के पैमाने पर 3 से 3.5 तथा आपेक्षिक घनत्व 2.6 से 2.7 के बीच रहता है। यह प्रायः अरैगोनाइट (जो कैल्शियम कार्बोनेट का एक रूप है) के कणों से बना रहता है। हालांकि गहरे समुद्र में पाये जाने वाले मूंगों में कैल्साइट भी रहता है, परन्तु चट्टानों (रीफ) को बनाने वाले मूंगे मुख्यतः अरैगोनाइट के ही बने रहते हैं।

मूंगा एक पाषणीय कंकाल संरचना है जो समुद्री वनस्पति या जन्तु (जैसे चूनेदार काई या प्रवाल पॉलिप) के द्वारा निर्मित होता है। इस तरह के जीव लाखों की संख्या में समुद्र में रहते हैं। ये समुद्र का जल पीकर अपना जीवन यापन करते हैं। जिस प्रकार पेड़-पौधे अपनी जड़ द्वारा जमीन से रस ग्रहण कर अपना पोषण करते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त समुद्री जीव अपने शरीर में उपस्थित अति सूक्ष्म छिद्रों द्वारा समुद्री जल का शोषण करते हैं। इस जल में उपस्थित कैल्शियम कार्बोनेट का उपयोग इनके शरीर की वृद्धि में होता है। इन जीवों के मरने का बाद इनके अस्थि कंकाल बचे रह जाते हैं जो अंततोगत्वा मूंगे का रूप ले लेते हैं।

प्रवाल श्रेणियों का निर्माण करने वाले जीव सर्वप्रथम अपने शरीर के चारों ओर कैल्शियम कार्बोनेट से निर्मित सुरक्षा कवच का निर्माण करते हैं। जब इन जन्तुओं की मृत्यु हो जाती है तो उनके द्वारा निर्मित कड़े-सुरक्षा कवच धीरे-धीरे समुद्र में जमा होने लगते हैं। शुरू-शुरू में प्रवाल पेड़ों की शाखाओं के समान संरचनाओं का निर्माण करते हैं। ये शाखायें विभिन्न प्रकार के जीवों के चूनायुक्त उत्पादों से भरती जाती हैं। प्रवाल श्रेणियों का निर्माण करने वाले जन्तुओं का विकास समुद्र में छिछले जल में 25° सेंटीग्रेड तापमान पर अच्छी तरह होता है। यदि तापमान 18° सेंटीग्रेड से नीचे आ जाता है तो इन जन्तुओं का अस्तित्व ख़तरे में पड़ जाता है। उनके विकास के लिये समुद्री जल में लवण की सान्द्रता 35 ग्राम प्रति लीटर होनी

चाहिए। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि सूर्य का प्रकाश भली भाँति उपलब्ध हो।

एक सामान्य मूंगे के अस्थि-कंकाल का रूप लगभग शंक्वाकार होता है। इस शंकु का आधार थोड़ा धंसा रहता है जिसे कैलिक्स कहा जाता है। मूंगे के संपूर्ण अस्थि कंकाल को कोरैलियम कहा जाता है। यह कोरैलियम एक बाहरी दीवार से घिरा रहता है। कभी-कभी इस दीवार के बाहर कैल्शियम कार्बोनेट से निर्मित एक अन्य दीवार रहती है जिसे एपिथेका कहा जाता है। बाहरी दीवार से घिरे पूरे स्थान को आन्तरिक प्रकोष्ठ कहा जाता है। यह प्रकोष्ठ कई अवयवों से बना रहता है। सबसे प्रमुख अवयव पट (सेप्टा) कहलाता है। यह एक उदग्र प्लेट है जो बाहरी दीवार से केन्द्र तक फैला रहता है। पट कई आकार के होतें हैं। कुछ तो किनारे से केन्द्र तक पहुँचते हैं जबकि कुछ छोटे होते हैं। पट कभी-कभी दीवार के बाहर निकला रहता है, जिससे कई प्रकार की आकृतियां विकसित होती हैं। ये आकृतियां कभी कंटक के समान मालूम पड़ती हैं तो कभी कण के समान। जब पट दीवार से बाहर नहीं निकला रहता तो दीवार चिकनी मालूम पड़ती है। कोरैलियम के केन्द्र में जहाँ पर पट एक दूसरे को काटते हैं एक उदग्र छड़ रहती है जो प्रकोष्ठ के आधार से कैलिक्स के तल तक फैली रहती है। इसे मध्याक्षक (कौलूमेला) कहा जाता है। दूसरे प्रकार की उदग्र दीवारें जो पट से मिलती-जुलती हैं, पाली कही जाती हैं। ये एक प्रकार की विकिरण पट्टिकायें हैं जो मध्याक्षक से जुड़ी रहती हैं तथा उन पटों के भीतरी किनारों के ठीक सामने रहती हैं जो मध्याक्षक से स्पर्श नहीं कर पातीं। आस पास के दो पट प्रायः पतले क्षैतिज या तिरछे प्लेटों से जुड़े हुए रहते हैं।

सुपरिचित एवं बहुचर्चित लाल मूंगा भूमध्य सागर में मिलता है। यह सदियों से रत्न में उपयोग में लाया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त मूंगा अलजीरिया तथा ट्यूनिशिया के समुद्र तटीय क्षेत्र में मिलता है। मूंगे के दूसरे अच्छे स्रोत हैं स्पेन, सिसली तथा नेपुल की खाड़ी। उच्च कोटि का मूंगा समुद्र में प्रायः 30 मीटर से 50 मीटर की गहराई में मिलता है। मटमैला तथा सफेद मूंगा आस्ट्रेलिया के उत्तर समुद्र में तथा वर्मा के दक्षिण बंगाल की खाड़ी में मिलता है। काले रंगा का मूंगा ईरान की खाड़ी में पया जाता है।

इन दिनों मूंगा एक बार फिर से चर्चा का विषय हो गया है, क्योंकि मूंगे की चट्टानें (कोरलरीफ) बढ़ते सागर प्रदूषण के कारण नष्ट हो रही हैं। यह चिंता का विषय है क्योंकि ये चट्टाने अनेक प्रकार के सागरीय जीव-जन्तुओं एवं वनस्पतियों के आवास भी हैं। इस प्रकार इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

□□□

विज्ञान ऐसा ज्ञान है

□ *अनुभव श्रीवास्तव*, छात्र, कक्षा–12 'सी'
महात्मा गाँधी इण्टर कॉलेज, गोरखपुर (उ. प्र.)

विज्ञान ऐसा ज्ञान है
जो मनुष्य के लिये वरदान है।
विज्ञान की शक्ति पाकर आज
मनुष्य सर्वशक्तिमान है,
न भय है, न डर है, मनुष्य को
उसे इस विज्ञान पर अभिमान है।
आकाश में पक्षीवत् उड़ता है मानव
यह विज्ञान का ही परिणाम है,
पूना से दिल्ली तक जाना और आना
बस चुटकी बजाने भर का काम है।
मनुष्य के पदतल में सिमटा
आज सारा जहान है,
कैपसूल, टैबलेट और मिक्सचर
मानव जीवन की बनी पहचान हैं।
धरती और आकाश में मनुष्य की
आज गति एक समान है,
यह 'ज्ञान विशिष्ट' मानवता की
संस्कृति का शीर्ष सम्मान है।
सारी धरती पर आज इसका
एकछत्र साम्राज्य विराजमान है,
विज्ञान ऐसा ज्ञान है
जो मनुष्य के लिए वरदान है।

सावधान !

कहीं कीटनाशी रसायन विकट समस्या न बन जायें

□ *सुनील कुमार पाण्डेय*
शोध-छात्र
शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हमारे देश की जनसंख्या अत्यन्त तेजी से बढ़ रही है। सन् 2000 तक इसके 100 करोड़ तक पहुँच जाने की सम्भावना है। इस जनसंख्या के लिए 24 करोड़ टन खाद्यान्न की जरूरत होगी, जबकि सन् 1992-93 के दौरान कुल खाद्यान्न उत्पादन 18.2 करोड़ टन था। अतएव 5.8 करोड़ टन अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पादन वैज्ञानिकों के लिए चुनौती है। यही नहीं, बढ़ती जनसंख्या के कारण भूमि पर दबाव भी बढ़ता जा रहा है। यह समस्या विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में अधिक है।

बढ़ती जनसंख्या के लिए भोजन की पूर्ति हेतु कृषि के आधुनिक तकनीकों को अपनाना जरूरी है। लेकिन कृषि-उत्पादन में वृद्धि के समस्त प्रयासों में सर्वाधिक जटिल समस्या फ़सल सुरक्षा की है। खेतों से लेकर अनाज भण्डारण तक विभिन्न प्रकार के कीटों द्वारा कुल उपज का लगभग 20% भाग नष्ट कर दिया जाता है। अब तक इनकी रोकथाम के लिए अनेक प्रकार के प्रयास किये गये, लेकिन सबसे सफल प्रयास कीटनाशी रसायनों का पाया गया। इन रसायनों के प्रयोग से एक ओर तो खेती की लागत बढ़ती है तथा दूसरी ओर प्राणी इनका उपयोग करने को मजबूर रहता है। इनके निरन्तर दुरुपयोग से पारिस्थितिकीय असंतुलन पैदा होता है।

कीटनाशियों का प्रयोग कृषि के हानिकारक कीटों के नियन्त्रण के लिए किया जाता है, ताकि फ़सल की उपज पर विपरीत प्रभाव न पड़े और अपेक्षित उपज ली जा सके।

कीटनाशक के रूप में उपयोग में लाये जाने वाले रसायन मुख्यतया क्लोरेनेटिड हाइड्रोकार्बन व ऑरगेनिक फॉस्फेट हैं। डी डी टी एक प्रमुख क्लोरेनेटिड हाइड्रोकार्बन है। डी डी टी के हाइड्रोकार्बन्स के विघटन की गति बहुत ही मन्द होती है, अतएव ये प्रकृति में काफी लम्बे समय तक रहते हैं। इन रसायनों का कुछ भाग पौधों द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। जब ऐसे पौधों के उत्पादन का प्रयोग मनुष्यों या जानवरों द्वारा किया जाता है, तो ये रसायन उनके शरीर में पहुंच जाते हैं और रोग का कारण बनते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार रासायनिक कीटनाशियों से प्रतिवर्ष 20 हज़ार लोग मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। ऑरगेनिक फॉस्फेट, डी डी टी की अपेक्षा कम हानिकारक होते हैं। इसका कारण यह है कि ये जल्दी विघटित होते हैं तथा पेड़-पौधों में अधिक मात्रा में संचयित नहीं हो पाते। हमारे देश में बनने वाली 70% कीट व रोग नाशक दवाएं विदेशों में पूर्णतया प्रतिबन्धित हैं, लेकिन हमारे देश में इनका प्रयोग अभी भी सामान्य बात है।

ये कीटनाशी रसायन विषैले होते हैं, अतएव इनका प्रयोग कीटों के नियन्त्रण के लिए किया जाता है, किन्तु ये हानिकारक कीटों के साथ ही साथ लाभादायक कीटों को भी नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार ये रसायन अल्पकालिक व सीमित उपयोग की दृष्टि से तो लाभकारी हो सकते हैं, परन्तु इनके

अधिक प्रयोग से मृदा प्रदूषित हो जाती है। फलस्वरूप मृदा क्रमशः कृषि के लिए अयोग्य होने लगती है, जिससे जैवीय तन्त्र दूषित होता है और वातावरण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि वातावरण के प्रभावित होने से वों पर प्रभाव पड़ेगा ही। इतना सब होने के बावजूद हमारे देश में कीटनाशक दवाओं का उपयोग व उत्पादन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। विभिन्न वर्षों में बढ़ते कीटनाशक दवाओं का उत्पादन निम्न सारणी- । द्वारा दर्शाया गया है। ये आँकड़े लगभग दस वर्ष पहले के हैं किन्तु इस जानकारी के बावजूद पिछले 10 वर्षों में कीटनाशकों का उत्पादन और उपयोग बजाय घटने के बढ़ा ही है।

सारणी-1 भारत में विभिन्न वर्षों कीटनाशक दवाओं का उत्पादन

उत्पादक वर्ष	उत्पादन (टनों में)
1955	2, 350
1960	8, 620
1965	14, 630
1970	24, 320
1975	58, 844
1978	85, 290
1983	1, 49,795

कीटनाशी रसायनों द्वारा भूमि, पेड़-पौधों व जन्तुओं पर पड़ने वाले कुप्रभावों की जानकारी अब लोगों को हो चुकी है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि इसके प्रभावी विकल्प कृषकों के समक्ष प्रस्तुत किये जायें, जिससे वे कीटनाशी रसायनों के प्रयोग से बच सकें।

ऐसी स्थिति में जैविक नियन्त्रण द्वारा कीटों का नियन्त्रण काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। जैविक नियन्त्रण में परजीवी, परभक्षी कीटों एवं व्याधिजन का प्रयोग किया जाता हे। ये कीटों को ढूँढ़कर नष्ट कर देते हैं तथा स्वयं प्रजनन करते हैं। यदि हम इनका बहुगुणन करके कीटग्रस्त खेतों में छोड़ दें तो ये कीटों को नियंत्रित कर लेते हैं। ये छिपे हुए कीटों, जहाँ कि कीटनाशी रसायन नहीं पहुँच पाते, को भी प्रभावी ढंग से नियन्त्रित कर लेते हैं।

नवीन कृषि विधियों में कीटों के नियन्त्रण हेतु ऐसी तकनीकों का विकास किया गया है कि कीटों के प्राकृतिक शत्रु संरक्षित रहें तथा वातावरण पर भी कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। केवल न्यूक्लीयर पॉलीहाइड्स वाइरस के प्रयोग से लगभग 22 प्रकार के कीटों का नियन्त्रण किया जा सकता है। इनके अवशेषों से किसी भी प्रकार की समस्या या जोखिम का भय भी नहीं रहता है। जैविक नियन्त्रण यद्यपि धीमी प्रक्रिया है तथापि सस्ती एवं स्थाई होने के कारण भविष्य में वातावरण को सुरक्षित रखने के लिए जरूरी है।

कीटनाशी रसायनों के दुष्परिणामों को देखते हुए इससे छुटकारा पाने के प्रयास पूरे विश्व में चल रहे हैं। इस सम्बन्ध में जापान के वैज्ञानिकों द्वारा प्रकाश में लायी गयी विधि "कारगर सूक्ष्म प्रौद्योगिकी" काफी महत्वपूर्ण है। इस प्रौद्योगिकी का विकास **प्रो. टी. हींगा** के नेतृत्व में अन्तर्राष्ट्रीय प्राकृतिक कृषि अनुसंधान केन्द्र, आतमी नगर, जापान द्वारा किया गया है। इस कीटनाशी व उर्वरक रहित कृषि में खर्च में कमी तो आयी ही है साथ ही साथ उत्पादन भी बढ़ा है। भारत में इस प्रौद्योगिकी परीक्षण के परिणाम काफी आशाजनक पाये गये हैं।

जर्मन वैज्ञानिक, **रेमबोल्ड** ने नीम पर किये गये प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाला है कि नीम के बीज से निकाले गये यौगिक कीट-पंतगों को दूर रखने में सहायक होते हैं। उनके अनुसार कीट-पतंगों को दूर रखने के लिए कुछ मिग्रा. यौगिक

ही पर्याप्त होता है। इस प्रकार हमारे देश के घर-घर में पाया जाने वाला नीम सारे संसार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है और अब सारी दुनिया की निगाहें हमारे नीम पर टिक गई हैं।

अतः जरूरत इस बात की है कि कीटनाशी रसायनें के बढ़ते दुष्प्रभाव को नियन्त्रित करने के लिए इसके वैकल्पिक साधनों पर विशेष बल दिया जाय। कीटरोधी किस्मों को उगाना, मुख्य फ़सल के साथ दूसरी फ़सलों को उगाना, कीटों को धोखे में डालने वाले विशिष्ट गन्ध युक्त 'फारमोन' रसायनों का प्रयोग करना आदि कुछ ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा कीटों के प्रकोप को काफी हद तक कम किया जा सकता है।

कीटनाशकों से पूर्ण बचाव का एकमात्र रास्ता, जो अत्यन्त कठिन है, वह इनके उपयोग पर तत्काल प्रतिबन्ध लगाने का है। परन्तु अधिकाधिक फ़सलोत्पादन प्राप्त करने तथा लाभ कमाने की भावना रहते, इसके सफल होने की कल्पना नहीं की जा सकती है। कीटनाशी रसायनों के उपयोग को कृषकों के बीच कम से कम करने के लिए आवश्यक है जन-जागरण के द्वारा दुष्प्रभावों से कृषकों को अवगत कराना औ प्रभावी विकल्प प्रस्तुत करना। इसमें संदेह नहीं की कीटनाशकों के बुरे प्रभावों से बचने के लिए कृषक स्वयमेव ही वैकल्पिक साधनों को स्वीकार करने के लिए निश्चित रूप से आगे आयेंगे।

□□□

प्लास्टिक के कचरे से ईंधन

प्लास्टिक के आविष्कार से अब तक सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में बढ़ रहे इसके विविध उपयोगों ने आज हमारे सामने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जब प्लास्टिक प्रदूषण हमारा जीना ही दुश्वार करने लगा है।

यद्यपि प्रकृति द्वारा बनाए गए अन्य तुलनीय पदार्थों की अपेक्षा मानव-संश्लेषित प्लास्टिक मानवीय उपयोगों की दृष्टि से कहीं अधिक सक्षम सिद्ध हो रहा है। प्राकृतिक रूप से विघटित न होने की इसकी क्षमता ही इसे वरदान से अभिशाप में बदले दे रही है। हर जगह, हर कोने में कचरे के हर ढेर में प्लास्टिक ही प्लास्टिक नजर आने लगा है। इसके निपटान की हर दिन विकराल होती जा रही समस्या वैज्ञानिकों के लिए चुनौती बन गई है।

ऐसी स्थिति में जापान की तोशिबा कंपनी द्वारा किये जा रहे अनुसंधान आशा के केन्द्र बन गए हैं। इन अनुसंधानों के परिणामस्वरूप क्लोराइड आधारित पी वी सी जैसे थर्मोप्लास्टिक अवशेष अब ईंधन तेल में बदले जा सकेंगे। वास्तव में पृथ्वी को प्रदूषित करने वाले प्लास्टिक कचरे का लगभग 20 प्रतिशत क्लोराइड आधारित थर्मोप्लास्टिक ही होते हैं। इन्हें अभी तक विकसित तकनीकों से उपचारित किया जाना संभव नहीं था क्योंकि वे उपचार करने पर हाइड्रोजन क्लोराइड गैस युक्त ज़हरीले यौगिक मुक्त करते हैं।

प्लास्टिक के पुनर्चक्रीकरण के लिए प्लास्टिक अवशेष में से इसके एक सामान्य घटक एपौक्सी रेज़िन को अलग किया जाना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसे विघटित किया जाना आसानी से संभव नहीं होता। तोशिबा कंपनी द्वारा विकसित की जा रही विधि में थर्मोप्लास्टिकों को चूर कर 4000 सेल्यियस तापक्रम पर तेल बाथ में गर्म किया जाता है, जिस पर वे विघटित हो जाते हैं। इसमें सोडियम हाइड्रॉक्साइड मिलाकर विघटित होते थर्मोप्लास्टिक में से निकाल लिया जाता है। सामान्य वायुमंडलीय दाब पर ये प्लास्टिक टूट कर लगभग सामान्य अनुपात में विभिन्न लम्बाइयों की कार्बन श्रृंखलाएं बनाते हैं। किन्तु लगभग दस वायुमंडलीय दाब पर छः से आठ कार्बन परमाणुओं की श्रृंखलाएं अधिक बनती हैं। इसी प्रकार की हाइड्रोकार्बन श्रृंखलाएं पैट्रोल और डीज़ल में होती हैं। तोशिबा विधि की विशेषता यह है कि इसे सभी प्रकार के थर्मोप्लास्टिकों के उपचार के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

तोशिबा के अनुसंधानकर्ताओं के अनुमान के अनुसार इस प्रणाली में जितनी ऊर्जा प्रारंभ में खर्च की जाती है उसकी लगभग तिगुनी अंतिम उत्पादन से प्राप्त होती है। इसलिए इस विधि को व्यवहारिक दृष्टि से व्यवहार्य माना जा रहा है। यद्यपि यह विधि अभी प्रयोगशाला स्तर पर ही परीक्षणाधीन है, इसके आधार पर व्यावसायिक संयंत्र शीघ्र ही विकसित किये जाने की आशा हो चली है।

(सम्प्रेषण)

पर्यावरण विज्ञान

आसमान से अम्लीय वर्षा

□ *विजय प्रताप सिंह*
प्राविन्सियल डिवीजन, पी. डब्लू. डी.
जिला बस्ती-272001 (उत्तर प्रदेश)

अम्लीय वर्षा (एसिड रेन) का अर्थ वर्षा के जल में अम्ल की प्रचुरता है। इसकी खोज सर्वप्रथम वैज्ञानिक **राबर्ट अंगुस स्मिथ** ने की थी। वातावरण में सल्फर और नाइट्रोजन के ऑक्साइडों तथा हाइड्रोकार्बन आदि से होने वाले प्रदूषण के कारण अम्लीय वर्षा का संकट दिनों दिन गहराता जा रहा है। सल्फर और नाइट्रोजन के ये ऑक्साइड मुख्य रूप से जीवाश्म ईधनों (कोयला, तेल तथा प्राकृतिक गैस) के जलने से, सल्फरयुक्त कच्ची धातुओं के गलने तथा बिजलीघरों एवं वाहनों आदि के ईधन के जलने से उत्पन्न होते हैं। वातावरण में उपस्थित इन ऑक्साइड गैसों के कारण मनुष्य के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। यह ऑक्साइड वातावरण की नमी के साथ क्रिया करके अपेक्षाकृत अधिक ख़तरनाक अम्लीय उत्पाद बनकर पृथ्वी पर बरसते हैं जैसे सल्फरडाइऑक्साइड वायु की नमी के साथ घुलकर गंधक का अम्ल (सल्फ्यूरिक एसिड) बनाती है। इसी प्रकार नाइट्रोजन के ऑक्साइड नाइट्रिक अम्ल का निर्माण करते हैं।

वर्षा की अम्लीयता कमोवेश कुछ अन्य प्राकृतिक कारणों पर भी निर्भर है जैसे ज्वालामुखी विस्फोट तथा बेकार सड़ते पदार्थो के (जीवाणु) से क्रिया के फलस्वरूप बनने वाले अम्ल का वातावरण में शामिल होना।

अम्लीय वर्षा के फलस्वरूप भूमि की अम्लीयता बढ़ने से उसमें निवास करने वाले लाभदायक जीवणु नष्ट हो जाते हैं तथा भूमि की उर्वराशक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके कारण फसल की उत्पादकता तथा वनों के अस्तित्व पर भी प्रश्न-चिन्ह लगता जा रहा है। इसके अलावा झीलों तथा नदियों आदि के पानी का अम्लीकरण हो जाता है, जिससे जलीय जीव-जन्तु नष्ट होने लगते हैं। अम्लीय वर्षा से मानव स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्वास्थ्य पर पड़ने वाले कुप्रभावों में त्वचीय बीमारियाँ जैसे त्वचा-कैंसर तथा नेत्र-रोग प्रमुख हैं। इन दुष्प्रभावों के अतिरिक्त ऐतिहासिक इमारतों, भवनों, स्तम्भों, प्रतिमाओं आदि के क्षरण के लिए भी अम्लीय वर्षा काफी हद तक जिम्मेदार है।

अम्लीय वर्षा के लिए उत्तरदायी ऑक्साइड प्रदूषक वायुमण्डल में हवा के साथ काफी दूर तक उड़ जाते हैं, जिसके कारण किसी एक जगह का प्रदूषण कहीं अन्यत्र जाकर अम्लीय वर्षा करता है। यही कारण है कि इंग्लैणड तथा फ्रान्स में होने वाले सल्फर तथा नाइट्रोजन के ऑक्साइडों का प्रदूषण स्वीडन में अम्लीय वर्षा का ख़तरा उत्पन्न करता है। कभी-कभी किसी विशेष परिस्थिति में यह वर्षा प्रदूषण उत्पन्न करने वाले क्षेत्र के ऊपर ही बरस जाती है।

अम्लीय वर्षा का ख़तरा मध्य योरोपीय तथा स्केन्डेवेनियन देशों के लिए सबसे अधिक है। नार्वे, डेनमार्क, पश्चिमी जर्मनी तथा स्वीडन आदि देशों के लिए यह समस्या अत्यधिक विकट है। आज अम्लीय वर्षा के कुप्रभाव के कारण स्वीडन की झीलों में मछलियों की संख्या काफी कम होती जा रही है तथा वहां के वन तेजी के साथ नष्ट होते जा रहे हैं।

अत: हमें सल्फर तथा नाइट्रोजन के ऑक्साइडों के निस्तारण पर अंकुश लगाना होगा अन्यथा अम्लीय वर्षा के दुष्परिणामों से बच पाना सम्भव नहीं होगा। विश्व के अनेक प्रभावित देश जैसे नार्वे, कनाडा, डेनमार्क, पश्चिमी जर्मनी, स्वीडन, उत्तरी अमेरिका आदि सल्फरडाइ ऑक्साइड के निस्तारण पर कमी लाने हेतु एकमत भी हुए हैं। अम्लीय वर्षा के लिए जिम्मेदार वाहनों से निकलने वाले घातक गैसों पर नियंत्रण के लिए उत्तरी अमेरिका, कनाडा तथा स्वीडन आदि देशों ने वाहनों में तकनीकी सुधार भी किया है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकों ने

सलाह दी है कि यदि वाहनों को धीमी गति से चलाया जाय तो नाइट्रोजन के ऑक्साइड पर एक सीमा तक नियंत्रण किया जा सकता है, क्योंकि वाहनों की गति बढ़ने के साथ ही नाइट्रोजन के ऑक्साइड भी अधिक मात्रा में निकलने लगते हैं।

आज विश्व के अनके देश इन विषैली गैसों पर नियन्त्रण के लिए जागरूक हो चुके हैं और यदि इसी प्रकार प्रयास जारी रहे तो इस विश्वव्यापी पर्यावरण समस्या के निजात के लिए अच्छे परिणाम निश्चित रूप से सामने आयेंगे।

□□□
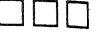
नई प्रौद्योगिकी

कागज़ बनाने की कम प्रदूषणकारी नई विधि

कागज़ बनाने की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण कार्य कागज बनाने के लिए इस्तेमाल की गई लकड़ी की छिपटियों में से लिग्निन नामक घटक को दूर करना है ताकि उसका सुविधापूर्वक संसाधन किया जा सके। ऐसा करने के लिए अनिवार्य रूप से दो तरीके काम में लाए जाते हैं : पहले तरीके में यांत्रिक लुगदीकरण द्वारा लिग्निन को तोड़ा जाता है, दूसरे तरीके में लकड़ी के टुकड़ों को सोडियम हाइड्रॉक्साइड और सोडियम सल्फाइड के सांद्रित घोल में 170° सेंटिग्रेड तापक्रम पर कई घंटे तक उपचारित करके लिग्निन को अलग किया जाता है।

वर्तमान में अमेरिका के लगभग 20 प्रतिशत और योरोप के लगभग 40 प्रतिशत कारखाने कागज़ बनाने के काम में यांत्रिक लुगदीकरण विधि का उपयोग करते हैं, जबकि 80 प्रतिशत अमेरिकी और 60 प्रतशित योरोपियाइ उत्पादक रासायनिक लुगदीकरण की विधि का सहारा लेते हैं। किन्तु दोनों ही तरीकों की कुछ गम्भीर समस्याएं है। जबकि यांत्रिक लुगदीकरण की विधि में सेल्यूलोस रेशे टूट जाते हैं और उत्पादित कागज़ को विरंजित (ब्लीच) करना कठिन होता है, रासायनिक लुगदीकरण विधि के लिए प्रयुक्त किये गए रसायनों से गम्भीर पर्यावरणीय प्रदूषण की समस्याएं उठ खड़ी होती हैं और उपज भी केवल 40 से 45 प्रतिशत तक ही होती है।

इन कमियों को दूर करने की दिशा में नीदरलैंड के अनुप्रयुत वैज्ञानिक अनुसंधान संगठन और उसके सहयोगियों ने एक जैव लुगदीकरण (वायोपल्पिंग) विधि का विकास किया है जो लकड़ी की छिपटियों की संरचना में मौजूद लिग्निन को तोड़ने के लिए विशेष रूप से चुने हुए कवक (फंगस) का इस्तेमाल करती है। इस बात का अनुमान लगाया जा रहा है कि इस विधि को एंज़ाइमिक विरंजन की प्रक्रिया के साथ कहां तक मिश्रित किया जा सकता है। यह पहले ही जान लिया गया है कि कागज़ उत्पादन विधि की इस प्रक्रिया में हाइड्रोजन परॉक्साइड का सांद्रण बढ़ाने से एंज़ाइमिक विरंजन को बढ़ावा मिलता है, किन्तु साथ ही इस परॉक्साइड का सांद्रण बढ़ाने से कवक की वृद्धि रुकने लगती है। अतः उपयुक्त सांद्रण संतुलन प्राप्त करने के लिए अनुसंधान जारी हैं।

इंस कार्य में लगा प्रोजेक्ट दल प्रक्रिया माध्यम में पहले से ही मौजूद ऑक्सीजन से हाइड्रोजन परॉक्साइड उत्पादित करने के लिए इलैक्ट्रोलिटिक तकनीकों का इस्तेमाल कर रहा है। वास्तव में वैद्युत्-रासायनिक तरीके विशेष रूप से आशावान प्रतीत हो रहे हैं क्योंकि इन्हें नियंत्रित करना कहीं आसान है और इसके लिए किसी विशेष परिवहन साधन अथवा भंडारण की भी आवश्यकता नहीं होती।

इस विधि एक और सबसे बड़ा लाभ यह बताया जा रहा है कि लकड़ी की छिपटियों में उपस्थित लिग्निन को तोड़ने के लिए कवक का इस्तेमाल करने और विरंजन में उसकी सहायता लेने की प्रक्रिया में ऊर्जा की आवश्यकता घट कर अन्य विधियों की तुलना में केवल एक तिहाई रह जाती है। साथ ही, क्योंकि इस विधि में अपेक्षाकृत कहीं कम रसायनों का उपयोग किया जाता है, इससे पर्यावरण प्रदूषण की संभावनाएं भी घट जाती हैं। आशा की जा रही है कि जैव-लुगदीकरण की इस विधि से उत्पादित हरी आभा से युक्त कागज़ शीघ्र ही बाज़ार में दिखाई पड़ने लगेगा। **(सम्प्रेषण)**

इलैक्ट्रॉनिक्स का सार

आधुनिक उपकरणों का यार : आई. सी.

□ प्रदीप शर्मा
सी-60, एन.पी.एल. कॉलोनी
नया राजिन्दर नगर, नई दिल्ली-110060

आजकल हमारे दैनिक जीवन में इलैक्ट्रॉनिक उपकरणों तथा साधनों का बहुत अधिक उपयोग होने लगा है। रेडियो, ट्रान्जिस्टर्स, टी.वी., वी.सी.आर., वाशिंग मशीन, ओव्हल इत्यादि इलैक्ट्रॉनिक उपकरण इलैक्ट्रॉनिक परिपथों द्वारा बनाए जाते हैं। इन इलैक्ट्रॉनिक परिपथों का सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं आई. सी., जिन्हें एकीकृत परिपथ अथवा इण्टिग्रेटिड सर्किट कहा जाता है। हम सब भली प्रकार जानते हैं कि पुराने जमाने में जो रेडियो बनाए जाते थे उनमें वाल्वों का प्रयोग किया जाता था। सन् 1950 के बाद से वाल्वों के स्थान पर ट्रांजिस्टरों का इस्तेमाल होने लगा। 1960 के बाद से आई.सी. का इस्तेमाल करना प्रारम्भ हो गया। अब आई.सी. विविधता और आकार में बदलते जा रहे हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली कम्प्यूटर, इलैक्ट्रॉनिक्स के आधार पर बनी युद्ध सामग्री तथा आकाश में भेजे जाने वाले स्पेस क्रॉफ्ट आई. सी. के कारण ही संभव हुए हैं। आखिर ये आई. सी. क्या होते हैं ? इन्हें किस प्रकार बनाया जाता है? इन्हें बनाने के लिए किस मशीन का प्रयोग किया जाता है ? क्या ये मशीनें भारत में भी बनाई जाती हैं ? यह सब जानकारी प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम आई. सी. के बारे में ही जान लें।

यदि हम अपने ट्रॉजिस्टर, टी.वी. या किसी अन्य घरेलू इलैक्ट्रॉनिक उपकरण को खोल कर देखें तो कुछ आयताकार अथवा कभी-कभी गोलाकार पुर्जे दिखाई देते हैं। ये पुर्जे 8, 10, 14, 16 या इससे भी अधिक टांगों वाले होते हैं। बस, साधारणतः इन्हें ही आई. सी. (एकीकृत परिपथ) कहते हैं।

किसी भी परिपथ को तैयार करने से पूर्व जिस प्रकार प्रिंटिड सर्किट बोर्ड तैयार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार से आई. सी. के लिये भी अतिसूक्ष्म आकार के परिपथ कम्प्यूटर की सहायता से लाइनों द्वारा डिज़ाइन किये जाते हैं। यह सर्किट का भाग 1, 2, या 5 वर्ग मिमी. में समा जाता है। इसके अन्दर की लाइनों की चौड़ाई 3-4 माइक्रॉन अथवा कम भी हो सकती है। मिलीमीटर के एक हज़ारवें भाग को माइक्रॉन कहा जाता है। आई. सी. के इस अत्यन्त सूक्ष्म भाग को 'पैटर्न' कहते हैं। इसे एक प्रकार की काँच की फोटोग्राफिक प्लेट पर बनाया जाता है। इस प्लेट को 'मास्क' के नाम से जाना जाता है। इस पर अति सूक्ष्म परिपथ का एक जाल सा बन जाता है। सूक्ष्मता की सीमा तो देखिये, कि एक मास्क पर ही 30-40 अथवा 100 तक आई. सी. के पैटर्न बनाना संभव है। लाइनें प्रायः अपारदर्शी ही होती हैं, पर बचा हुआ भाग पारदर्शी होता है। एकीकृत परिपथ बनाने के लिये सिलिकॉन की एक पतली सी डिस्क को प्रयोग में लाया जाता है, जिसे 'वेफर' के नाम से जाना जाता है। यह विशिष्ट प्रकार के प्रकाश के लिये संवेदनशील होती है। इस पर एक रेजिस्ट पदार्थ की परत बनाई जाती है। इसे 'रेजिस्ट' कहते हैं। पैटर्न बने हुए मास्क और रेजिस्ट की परत वाली वेफर को एक दूसरे के पास 10-15 माइक्रॉन के अन्तर पर अथवा चिपकाकर रखा जाता है। इसके पश्चात् एक विशेष प्रकार के पराबैंगनी प्रकाश को मास्क पर डाला जाता है और वेफर को अनावृत किया जाता है। मास्क की छाया वेफर पर

पड़ती है और रासायनिक विधि द्वारा वेफर को प्रभावित करके मास्क का पैटर्न वेफर पर उभरी हुई लाइनों के रूप में अंकित हो जाता है। अधिकतर आई. सी. अनेक मास्कों के पैटर्नों को एकत्रित करने के बाद परतों में बनते हैं। एक ही वेफर को अनेक मास्कों द्वारा अनावृत किया जाता है। हर बार मास्क के परिपथ का वेफर पर पूर्व रूप से उपस्थित परिपथ से पूरी तरह से तालमेल होना बहुत ही आवश्यक है। इस मास्क के साथ वेफर को मैच करने की प्रक्रिया को मास्क संरेखण अथवा मास्क एलाइनमैंट कहते हैं। आमतौर पर मास्क और वेफर पर अंकित एलाइनमैंट चिह्नों को माइक्रॉस्कोप द्वारा देखकर ही एलाइनमैंट किया जाता है। ऐसे उपकरण को 'मास्क एलाइनर' कहा जाता है। प्रत्येक मास्क के पैटर्न को उसी वेफर पर अंकित करके परिपथों को पूरा किया जाता है। इसके पश्चात् हरेक आई. सी. को अलग-अलग काटकर सील किया जाता है। अन्त में परिपथ में इस्तेमाल करने के लिये टांगें लगाई जाती हैं।

भारत में अनेक प्रकार के आई.सी. बनाए जाते हैं। इनकी सक्षमता के आधार पर इन्हें अलग-अलग वर्गों में बांटा गया है। हमारे देश में सेमीकण्डक्टर कॉमप्लेक्स लि., भारत इलैक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड, इण्डियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज कॉन्टिनेन्टल डिवाइसिज इत्यादि कम्पनियाँ आई. सी. बनाती हैं। इसके अतिरिक्त अनेक संस्थाओं में भी इस संबंध में शोध कार्य चल रहे हैं, जैसे कि इण्डियन इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी, कुछ विश्वविद्यालय, तथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की कुछ प्रयोगशालाएँ, जैसे कि सेण्ट्रल इलैक्ट्रॉनिक्स इंजीनियरिंग रिसर्च इंस्टिट्यूट, पिलानी तथा राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, दिल्ली इत्यादि। इस विषय को माइक्रोइलैक्ट्रॉनिक्स अथवा माइक्रोलिथोग्राफी कहा जाता है। एक्सपोजर के विकिरण के अनुसार फोटोलिथोग्राफी, एक्स-रे लिथोग्राफी, इलैक्ट्रॉन बीम लिथोग्राफी आदि विधियों को आई. सी. बनाने के लिये तथा शोध कार्यों के लिये प्रयोग में लाया जाता है।

यह दुःख की बात है कि अभी तक मास्क एलाइनर जैसे उत्कृष्ट उपकरण भारत में नहीं बनाए जाते। इसी कारण से अनेक संस्थाएँ विदेशों से ही मास्क एलाइनर प्राप्त करती हैं। इस प्रकार लाखों रूपये की विदेशी मुद्रा देश से बाहर चली जाती है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही यह उपकरण भारत में ही बनना आरम्भ हो जाएगा। राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली में डिपार्टमेंट ऑव इलैक्ट्रॉनिक्स के सौजन्य से इस उपकरण में काम आने वाली एक नई विधि का विकास किया जा रहा है। इस नवीन विधि के अन्तर्गत् कम्प्यूटर द्वारा स्वचालित तरीके से मास्क को वेफर के साथ मैच किया जाता है। इस विधि की विशेषता यह है कि कमप्यूटर के स्क्रीन पर एलाइनमैंट होने की प्रक्रिया को देखा जा सकता है। इतना ही नहीं बल्कि एलाइनमैंट एक्यूरेसी को भी स्क्रीन पर दर्शाया जाता है। इस एलाइनर में यह 0.06 माइक्रॉन के बराबर है जो कि मिलीमीटर के 20,000 वें भाग के समकक्ष है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आई. सी. की गुणवत्ता आई. सी. बनाने वाले की कार्य कुशलता पर निर्भर नहीं करती, और बहुत सी सूक्ष्म लाइनों वाले पैटर्न भी तैयार किये जाते हैं। ये लाइनें मिलीमीटर के 2000 वें अथवा 5000 वें भाग के बराबर हो सकतीं हैं। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की एक प्रयोगशाला सी. एस. आई. ओ., चण्डीगढ़ में एक ऐसे प्रोजेक्शन एलाइनर का विकास किया जा रहा है, जिसमें मास्क वेफर से अधिक दूरी पर रहता है इसलिये अधिक समय तक कार्यक्षम बना रहता है।

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली में मास्क एलाइनर के संबंध में जो तकनीक विकसित की जा रही है उसमें प्राथमिक संरेखण के लिये सूक्ष्मदर्शी का प्रयोग किया जाता है। वहाँ के वरिष्ठ वैज्ञानिक **डॉ. विजय चिटणीस** तथा उनके साथी प्रयत्नशील हैं कि सूक्ष्मदर्शी का प्रयोग न करते हुए भी पूर्णरूप से स्वचालित उच्च यथार्थता वाला एलाइनर बनाया जाये। मास्क और वेफर के बीच होने वाली दूरी एक्स-रे लिथोग्राफी में बड़ी महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में इस दूरी को नियंत्रित करने की विधि का भी विकास किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त आई. सी. में उपस्थित महीन लाइनों की चौड़ाई को न केवल नापना अपितु उसके लिये मानक तैयार करना भविष्य के कार्यक्रमों में सम्मिलित है।

वैज्ञानिकों का कर्मठ होकर इस ओर आकर्षित होना, देश को कुछ और क्षेत्रों में आत्मनिर्भर बनाने का एक सराहनीय प्रयास है। यह हमारी वैज्ञानिक एवं तकनीकी सफलता का द्योतक है।

□□□

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन की प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्नस्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पात्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं:

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु0, आधा पृष्ठ 100.00, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु0।

मूल्य

आजीवन : 200 रु0 व्यक्तिगत : 500 रु0 संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु0 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

जून 1994; वर्ष 80 अंक 3

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ0 डी0 डी0 नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	शाकुन्तल मुद्रणालय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री		34, बलरामपुर हाउस	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद्, प्रयाग		इलाहाबाद–211002	इलाहाबाद- 211002

ISSN 0373—1200
जुलाई-सितम्बर 1994

(कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च,
नई दिल्ली के आंशिक आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित)
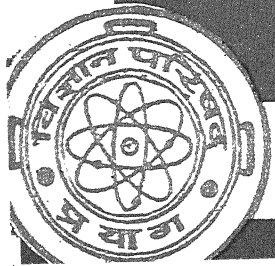
विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915

जुलाई-अगस्त-सितम्बर 1994; वर्ष 80, अंक 4,5,6

प्रकाशक

डॉ० देवेन्द्र दत्त नौटियाल
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

■

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

■

मुद्रक
शाकुन्तल मुद्रणालय
34, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद-211002

■

सम्पर्क
विज्ञान परिषद् महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002
फोन नं: 608498

मूल्य

आजीवन: 200 रु. व्यक्तिगत; 500 रु. संस्थागत
त्रिवार्षिक: 60 रु.
वार्षिक: 25 रु.
एक प्रति: 3.00 रु.
इस अंक का मूल्य: 5 रु.

विज्ञान विस्तार

सम्पादकीय

प्रिय पाठकगण !

कुछ अपरिहार्य कारणों से मेरे और आप सब के बीच संवाद का अंतराल लम्बा हो गया है। बातें तो बहुत हैं किन्तु मैं मात्र दो की ही चर्चा करना चाहूँगा।

बढ़ती जनसंख्या सारे विश्व के लिए चिंता का विषय है। स्वाभाविक भी है। सितम्बर में कैरो में 'जनसंख्या और विकास' पर होने वाले अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन पर सभी की निगाहें टिकी हैं। किन्तु यहीं एक सवाल पैदा होता है कि क्या इस सम्मेलन/महासम्मेलन में समाधान खोज लिया जायेगा ?

अब तक जनसंख्या पर हुए सम्मेलनों में विश्व के देश उत्तर एवं दक्षिण खेमों में बँट जाते रहे हैं। विवाद का कारण यह 'स्लोगन' रहा है–"दक्षिण में प्रति परिवार में एक बच्चा और उत्तर में प्रति परिवार में दो कारें।"

अब यह भी भ्रम टूट चुका है कि "गरीबी बिगड़ते पर्यावरण की वजह है।" एक सर्वेक्षण से पता चला है कि आने वाले 35 वर्षो में पर्यावरण के स्तर का निर्धारण इस बात से नहीं होगा कि इस धरती पर कितने मनुष्य होंगे, बल्कि इस बात से होगा कि उत्पादन और खपत का तरीका कैसा है।

यह विडम्बना ही है कि भारत सहित अन्य तीसरी दुनिया के देशों को 1960 से उत्तर की सहायता पर निर्भर रहना पड़ रहा है। फिर इसमें आश्चर्य क्या कि तीसरी दुनिया के देश प्रभुता सम्पन्न देशों की बात मानने को विवश हैं। परिवार नियोजन का केन्द्र बिन्दु महिलाओं को मान लिया गया है। अपने देश में भी जनसंख्या नीति निर्धारकों ने परिवार नियोजन के कार्यक्रमों के साथ जच्चा-बच्चा के स्वास्थ्य को जोड़ दिया है, किन्तु पुरुषों के बंध्यीकरण पर ज़ोर कम होता जा रहा है। भारतीय परिवारों में परम्परा से परिवार का केन्द्रबिन्दु पुत्र होता है, पुत्री नहीं। गरीब परिवारों में अधिक बच्चे आय ही नहीं, प्रतिदिन की रोटी कमाते हैं।

अतएव जनसंख्या विस्फोट की समस्या का समाधान एयर-कंडीशन्ड व्याख्यान कक्षों में न ढूँढ़कर झोपड़पट्टी और मलिन बस्तियों के बीच ढूँढ़ना होगा। कल्पना लोक नहीं, वास्तविकता की सख़्त ज़मीन पर आना होगा। जन्मदर अचानक नहीं घटेगी, जनसंख्या समस्या जटिल विषय है। अनेक मुद्दों पर गंभीरतापूर्वक न केवल विचार करना होगा वरन् इस समस्या से जुड़ी चुनौतियों को स्वीकार करके, एक-एक करके, उनसे निपटना होगा।

दूसरी उल्लेखनीय घटना है **लाइनस पालिंग** (28 फरवरी 1901-19 अगस्त 1994) का निधन।

पालिंग का मानना था कि विटामिन-सी (एस्कार्बिक एसिड) की अधिक खुराक़ न केवल जीवन की अवधि को दशकों बढ़ा सकती है वरन् आम सर्दी से लेकर कैंसर जैसे घातक रोगों से सुरक्षित रखने की क्षमता भी रखती है। अपने इन्हीं विचारों के कारण पालिंग पिछले 20 वर्षों से विवाद के घेरे में रहे।

अखबारों में 93 वर्षीय वयोवृद्ध रसायनविज्ञानी लाइनस पालिंग के स्वर्गवास की खबर आशा के विपरीत बहुत ही संक्षेप में प्रकाशित हुई। दूरदर्शन भी पालिंग को श्रद्धांजलि अर्पित करने में कृपण रहा। वैसे पालिंग जैसे महान वैज्ञानिक और महामानव को अधिक सम्मान मिलना चाहिए था।

किन्तु अधिक सम्मान के अधिकारी वे इसलिए नहीं थे कि उन्होंने एक दर्जन पुस्तकों और 1000 शोधपत्रों-लोकप्रिय लेखों की रचना की थी। इसलिए भी नहीं कि उन्हें दो बार 'नोबल पुरस्कार' से अलंकृत किया गया था और यह कि इसमें उनका कोई भागीदार नहीं था। इसलिए भी नहीं कि वे आजीवन विश्वशांति के पक्षधर बने रहे तथा सदैव नाभिकीय परीक्षणों का विरोध करते रहे। वास्तविकता तो यह है कि अधिक सम्मान के अधिकारी वे इसलिए हैं कि अपने निकट सहयोगियों के प्रारंभिक विरोध के बावजूद भी वे मृत्युपर्यन्त विटामिन-सी की वकालत करते रहे।

विटामिन-सी की वकालत के लिए उस समय भी उनका उपहास किया गया जब वे अपनी ख्याति के शिखर पर थे। फिर भी, पालिंग विटामिन-सी सम्बंधी अपने विचारों पर अडिग रहे। और यहीं वे अन्य वैज्ञानिकों से अलग दिखते हैं। उनकी अपनी ही कही हुई बात उनके ऊपर कितनी सटीक बैठती है—'जीवन एक पहेली है।' प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्वर्गीय नीलरत्न धर उनके मित्र थे। अपनी भारत यात्रा के दौरान वे प्रो. धर से मिलने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में भी आये थे। पालिंग की दिवंगत आत्मा को कोटिशः नमन।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

पर्यावरण और कैंसर
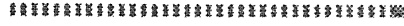
□ *डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय*
परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग,
फैज़ाबाद-224001 (उ० प्र०)

पर्यावरण और कैंसर का घनिष्ट संबंध है। पर्यावरण के अनुसार कैंसर व्यक्तियों के विभिन्न अंगों को प्रभावित करता है। हम जिस वातावरण में कार्य करते हैं, वहाँ के पर्यावरण में विद्यमान कैंसरकारी पदार्थों की उपस्थिति के अनुसार ही अंग विशेष में कैंसर उत्पन्न होगा।

कैंसरकारी पदार्थ दो प्रकार के हो सकते हैं। प्रथम तो वे पदार्थ हैं जो बाह्य वातावरण में विद्यमान हैं और कैंसर उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। दूसरे ऐसे कैंसरकारी पदार्थ जो मानव शरीर में विद्यमान रहते हैं, विशेष परिस्थितियों के अनुसार ही कैंसरकारी होकर, मानव शरीर को प्रभावित करते हैं।

बाह्य कैंसरकारी पदार्थों का प्रभाव जो मानव के विभिन्न कार्य क्षेत्रों से संबद्ध रहा है, प्राचीन काल से ज्ञात था। यही कारण है कि कैंसर अथवा अबुर्द का विशद वर्णन और निदान प्राचीन भारतीय चिकित्सा-ग्रन्थों, यथा **सुश्रुत संहिता** और **अष्टांग-हृदय** नामक ग्रन्थों में प्राप्य है। मध्यकालीन चिकित्सा-ग्रन्थ, चाहे वे यूनानी रहे हों अथवा ईरानी, में भी किसी न किसी रूप में कैंसर का वर्णन मिलता है। मध्य काल में विज्ञान की अवनति के कारण यह ज्ञान विकसित नहीं हो पाया, किन्तु जब पश्चिम में विज्ञान और वैज्ञानिक चिंतन का प्रारम्भ हुआ तो कैंसर के प्रति जागरूकता बढ़ी। पिछले पचास वर्षों में कैंसर-शोध के परिणामस्वरूप इस व्याधि के विषय में अनेक नवीन तथ्य प्राप्त हुये हैं। आधुनिक विज्ञान की नवीन तकनीकों का सहारा लेकर आज हम कैंसर के 75% नियंत्रण का दावा करते हैं।

कैंसर के विषय में सर्वप्रथम जिस तथ्य ने लोगों का इंग्लैन्ड में ध्यान आकर्षित किया वह था उन बच्चों के अण्डकोष अथवा स्क्रोटम (Scrotum) में कैंसर का होना जो कपड़े की मिलों की ऊँची चिमनियों को ऊपर से घुस कर, उसमें नीचे सरकते-सरकते साफ़ करते थे। इन बच्चों को चिमनी-स्वीप (Chimney Sweep) कहा जाता था।

सर्व प्रथम 1775 ई० में एक अंग्रेज चिकित्सक **सर परसीवल पॉट** (Sir Percival Pott) ने वैज्ञानिक ढंग से इस तथ्य का विवेचन किया और उन्होंने अपने शोध-पत्रों में यह भी वर्णित किया, कि कभी-कभी इन छोटे चिमनी-स्वीप बच्चों में कार्य छोड़ने के बीस सालों बाद वृषण का कैंसर उत्पन्न हुआ। उन्होंने यह भी स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया कि इस प्रकार के कैंसर को उत्पन्न करने में चिमनी में एकत्रित कालिमा अथवा कालिख़ सहायक है। इस प्रकार यह कालिख़ आधुनिक युग का प्रथम बाह्य-कैंसरकारी पदार्थ था। एक शताब्दी से अधिक काल तक उपेक्षित रहने के उपरान्त 1940 ईसवी में इसे पूर्ण रूपेण समझा जा सका। सर परसीवल पॉट की खोजों का सत्यापन अनेक वैज्ञानिकों ने किया और आज इसी के परिणामस्वरूप यह स्पष्ट हो गया है कि कुछ विशेष कार्यों में लगे लोग, विशेष प्रकार के कैंसर से प्रभावित हो सकते हैं। इस व्यवसायिक-कैंसर (Occupational cancer) की विशेषता है कि इसके अध्ययन से आधुनिक कैंसर शोध का द्वार खुला और ये कैंसरकारी पदार्थ किस प्रकार शरीर में प्रवेश कर कैंसर उत्पन्न करते हैं, इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिली।

धूप में लम्बे समय तक कार्य करने वाले कृषकों, मकानों के निर्माण में लगे कारीगरों और मज़दूरों या दूर-दूर तक मछली की तलाश में समुद्र में जाने वाले मछुवारों में त्वचा का कैंसर होता है, इस तथ्य का ज्ञान कैंसर-वैज्ञानिकों, चिकित्सकों को पचास वर्षों पूर्व से था। परन्तु इनमें यह त्वचा का कैंसर उन्हीं व्यक्तियों को प्रभावित करता है जो श्वेत-वर्ण के अथवा गौरांग होते हैं। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि पृथ्वी के उन क्षेत्रों में जहां पर सूर्य का प्रकाश आठ घन्टों के आस पास रहता है तथा वातावरण अपेक्षाकृत बादलरहित होता है और यह वातावरण 8 घण्टों तक ऐसा बना रहता हो, तो उन देशों के वासियों को जो श्वेत हैं, उनमें त्वचा के कैंसर की संभावना अधिक रहती है।

इस प्रकार आस्ट्रेलिया, स्पेन और फ्रांस के कुछ भाग, जहाँ पर शीत-योरोपीय देशों से पर्यटक आकर समुद्र में घन्टों तैरते हैं और शरीर को सूर्य की ऊष्मा में सेंकते हैं, उन्हें त्वचा के कैंसर की संभावना अधिक रहती है।

भारत में कश्मीर के वासियों और पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वालों को त्वचीय कैंसर होने की सम्भावना अधिक है, क्योंकि ऊँचाई पर रहने वालों के ऊपर पराबैंगनी (अल्ट्रावायलेट) किरणों का अधिक प्रभाव पड़ता है जो त्वचा में कैंसर उत्पन्न करने वाली, सक्षम, बाह्य-कैंसरकारी गुणों से युक्त हैं। ओज़ोन की पर्त में, विविध फ्लोरीनयुक्त रसायनों फ्लोरोकार्बन आदि के प्रभाव से जो 'छेद' उत्पन्न हो गया है, उसके कारण त्वचा के कैंसर के बढ़ने की सम्भावना रहती है। एक अनुमान के अनुसार श्वेत लोगों में जो प्रमुखतः विषुवत् रेखा के समीप हैं, उनमें त्वचा के कैंसर की सम्भावना निकट भविष्य में बढ़ेगी। यहाँ पर यह ध्यान में रखना अति आवश्यक है कि अल्ट्रावॉयलेट किरणों का प्रभाव त्वचा पर बहुत धीरे-धीरे पड़ता है। इसी कारण प्रारम्भ में त्वचा पर हुये परिवर्तनों को जान पाना कठिन होता है। जब कभी कोई तिल अथवा मसा जो कि शरीर के किसी भाग, हाथों अथवा चेहरे के पास हो और उसमें परिवर्तन के फलस्वरूप ऊपर की त्वचा कड़ी होकर फटने लगे, इस पर कुछ औषधियां लगाने पर हल्का परिवर्तन हो पर घाव पूरा न भर सके तो त्वचा के कैंसर की सम्भावना बढ़ जाती है। इसलिये सूर्य के अत्यधिक प्रकाश से बचना श्रेयस्कर है।

कोलतार के नाम से हम सभी परिचित हैं और हम सभी ने मज़दूरों को सड़क की मरम्मत के समय इसका उपयोग कर, सड़कों को ठीक करते हुये भी देखा होगा। पर क्या आपने कभी सोचा कि इस क्रिया में वायुमंडल और आस पास के क्षेत्र में कितना प्रदूषण बढ़ जाता है?

बात इतनी ही नहीं है। कोलतार या अलकतरा (अरबी भाषा में बूंद) अपने भीतर अनेक प्रकार के कैंसरकारी पदार्थों को समाहित किये रहता है तथा उससे कार्य करने वाले मज़दूरों के हाथ, चेहरा और जाँघें सर्वाधिक तारकोल के संपर्क में आते हैं। परिणामतः इन अंगों में कैंसर की उत्पत्ति होती है। यह वर्षों तक इसी तारकोल से कार्य करने का परिणाम है और इन मज़दूरों में कैंसर अनेक वर्षों के बाद हाथ, मुख, मस्तक, पेट अथवा अण्डकोषों पर उत्पन्न होकर इन मज़दूरों की जीवनलीला समाप्त कर देती है।

पर्यावरण के प्रदूषण में पेट्रोलियम संयंत्रों का योगदान कुछ कम नहीं है। जलती हुई गैसों में अनेक कैंसरकारी पदार्थ विद्यमान रहते हैं, परन्तु पेट्रोलियम से प्राप्त विविध रसायनिक पदार्थ भी त्वचा में कैंसर उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं।

खनिज तेल से प्राप्त अनेक पदार्थ जैसे ग्रीज़, विविध रसायनिक, विलायक और स्नेहक तेल तथा पेट्रोलियम भी आज के आधुनिक युग में जीवन के लिये आवश्यक है, परन्तु आज तक यह ज्ञात नहीं है कि क्या खनिज तेल स्वतः कैंसरकारी है। यद्यपि तेल/आयल में इस प्रकार की सक्रियता नहीं मिलती है, परन्तु उच्च ताप पर आसवन के बाद इसमें कैंसरकारी क्षमता आ जाती है तथा इसके आसवन से प्राप्त अनेक रसायनिक पदार्थ कैंसरकारी हो जाते हैं। तेल-शोधक कारखानों में लगे मज़दूरों आदि के लिये यह हानिकारक है।

स्नेहक तेल (Lubricating Oil) कैंसरकारी होता है, इसका आभास इंग्लैन्ड में म्यूल स्पिनर्स (Mule Spinners) में उत्पन्न हुये त्वचा के कैंसर के बाद ज्ञात हुआ। इस कार्य में लगे लोगों को मशीन में बारम्बार तेल डालना पड़ता था। इस प्रकार कार्यरत मज़दूरों के हाथों, चेहरों, बाँहों, पेटों, जाँघों तथा अण्डकोषों पर प्रतिदिन यह तेल लगता रहता था। स्वास्थ्यसंबंधी सुरक्षा-नियमों के अभाव में यह तेल महीनों अथवा वर्षों शरीर पर लगते रहने के फलस्वरूप अन्ततः त्वचा कैंसर को उत्पन्न करता था। भारतवर्ष के अनेक उद्योगों में, विशेषकर कपड़े की मिलों और करघा-उद्योग में लगे मज़दूरों को भी इन तेलों के संपर्क में आना पड़ता है। उनमें भी त्वचा-कैंसर होता होगा, किन्तु ऐसी सूचना मिलनी अभी भी शेष है।

खानों की खुदाई में लगे श्रमिक अधिकांशतः यह नहीं जानते कि इन खानों में से जो गैसें निकलती हैं वे स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं। साथ ही साथ यदि ये खानें लोहे की हैं तो आयरन ऑक्साइड की उपस्थिति के कारण श्रमिकों को फेफड़ों के कैंसर की संभावना अधिक रहती है। फेफड़ों के कैंसर की संभावना एस्बेस्टास की खुदाई और कटाई में रत श्रमिकों को भी अधिक रहती है और वे इसके शिकार हो सकते हैं।

उत्खनन स्वतः प्रदूषणकारी है और यदि यह कहीं रेडियोसक्रिय (रेडियोऐक्टिव) पदार्थों का हुआ तो उसका कुछ कहना ही नहीं है। इन खदानों से जो रेडियोसक्रियता (रेडियोऐक्टिविटी) के कारण श्रमिकों पर प्रभाव पड़ता है, वह इनमें समस्त अंगों के कैंसर से लेकर हड्डियों का कैंसर तथा रक्त कैंसर भी उत्पन्न करता है। और अंततः कार्यरत श्रमिक इस प्रकार अपने जीवन से खेलते हुये कैंसर के मुख में चले जाते हैं।

प्रारम्भ में जब घड़ियों में "रेडियम-डायल" का प्रचार पश्चिमी देशों, विशेष कर अमेरिका, में शुरू हुआ तो वहाँ की कम्पनियों ने रेडियम के लेप को घड़ियों के डायल-पर लगाने हेतु अनेक नवयुवतियों को, धन का आर्कषण देकर, कार्य पर लगाया। रेडियम के लेप को डायल पर लगाने के लिये उन्हें महीन ब्रश दिये गये, जिन्हें वे रेडियम के लेप में डुबो कर घड़ी के डायल पर लगातीं और जब कभी यह ब्रुश नुकीला नहीं रहता था तो उन्हें होठों के ब्रीच दबा कर नुकीला बना लेती थीं। कार्य से मुक्त होने के कई वर्षों बाद उन युवतियों के शरीर में, विशेष कर हड्डियों में, कैंसर का प्रकोप प्रारम्भ हो गया और जब इस घटना को लेकर जनता में आक्रोश व्याप्त हो गया तो रेडियो-एक्टिवपेन्ट की जगह अन्य पेन्टों ने ले ली।

जब रेडियोऐक्टिविटी की बात उठती है तो विश्व के सबसे भयानक कुकृत्य, जापान के दो नगरों पर, द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के दौर में गिराये गये परमाणु बमों के विस्फोट की घटना का, स्मरण हो आता है। इसके फलस्वरूप तत्काल जो मानव जीवन का नाश हुआ वह तो सर्वथा अप्रत्याशित था, परन्तु इस विस्फोट के बाद के परिणाम भी जापानियों के लिए कम भयावह नहीं थे। इस विस्फोट में जो लोग जीवित बचे थे। उनके शरीर के सभी अंगों में कैंसर का प्रकोप हुआ, परन्तु आमाशय की कैंसर की पुरुषों एवं स्त्रियों में बहुतायत थी। इसका और अन्य कैंसरों का कारण परमाणु के विस्फोट के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ विकिरण था, जिसने मात्र मानवों को ही नहीं वरन् वातावरण को भी रेडियोऐक्टिविटी से प्रदूषित किया था, जीवों को प्रभावित किया था और जीवनयापन को कष्टमय बना दिया था। आज भी अनेक जापानी इसके दुष्प्रभावों से मुक्त नहीं हैं।

परमाणु भट्टियों अथवा रिएक्टरों में भी विस्फोट की घटनायें होती रहती हैं और मानव, जीव तथा वनस्पतियाँ इससे प्रभावित होती हैं। परन्तु किसी को वास्तविकता का पता न चल पाने के कारण, जनता कुछ कर पाने में समर्थ नहीं रहती।

कैंसर की वृद्धि में एक्स किरणें भी सहायक होती हैं क्योंकि इसका उपयोग करने वालों को अधिकांशतः त्वचा अथवा रक्त का कैंसर होता है।

त्वचा के कैंसर के संबंध में यह देखा गया है कि भारत में जो महिलायें और पुरुष अपनी साड़ी या धोती को बहुत कस कर बाँधते हैं और जिनका जीवन-यापन ऐसे क्षेत्रों में होता है जहाँ पर वातावरण में लवणता और आर्द्रता अधिक रहती है, जैसे समुद्र के पास के क्षेत्रों में, तो उनकी त्वचा में कालान्तर से कैंसर उत्पन्न हो जाता है। इसे 'धोती कैंसर' कहते हैं।

भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में, विशेष कर हिमालय की ऊँचाइयों में निवास करने वाले लोग अथवा कश्मीर के निवासी शीत ऋतु में अपने कपड़ों के ऊपर, और परिवहन के नीचे, कांगड़ी में कोयला जला कर अपने को गरम रखते हैं। लगातार इसके उपयोग से इन लोगों के पेट की त्वचा जल जाती है और समय के साथ उनके पेट के जले हुये स्थान पर त्वचा का कैंसर हो जाता है।

वातावरण द्वारा प्रभावित और परिस्थितिवश प्रेरित कैंसर उत्पन्न होने के, 'धोती कैंसर' और 'काँगड़ी कैंसर' दो विचित्र उदाहरण हैं।

अब यह सभी मानने लगे हैं कि सिगरेट, बीड़ी, चुत्ता (जिसमें बीड़ी का जलता हुआ भाग मुख के भीतर रखकर पिया जाता है तथा यह भारत के जनजातीय क्षेत्र तथा आंध्र प्रदेश में बहुत प्रचलित है) के कारण 80% लोगों में फेफड़ों का कैंसर होता है।

इसी प्रकार समस्त भारत में पान और तम्बाकू का सेवन प्रचलित है। इसके परिणामस्वरूप मुख का कैंसर होता है। जो लोग तम्बाकू को होठों के नीचे दबाते हैं अथवा उत्तर प्रदेश के मैनपुरी क्षेत्र के वासियों की भाँति जो तम्बाकू को चूर्ण (पाउडर बना कर, उसमें महीन-महीन सुपारी को काटकर चूने में मिलाकर गालों में भर लेते हैं, उससे सुपारी की चुभन और उसमें तथा

तम्बाकू में विद्यमान कैंसरकारी पदार्थों के कारण उनके मुख के भीतर की त्वचा प्रारम्भ में रंगहीन होना प्रारम्भ करती है और बाद में उस क्षेत्र में कैंसर का प्रारम्भ होता है। इसके परिणाम स्वरूप मानव का मुख-मंडल विकृत हो जाता है और अन्त परम कष्टदायी होता है।

बाज़ार में उपलब्ध अनेक प्रकार के पदार्थ जो उपयोग के बाद लोगों में आदत उत्पन्न कर देते हैं–जैसे विविध गुटके, और पाउचों में प्राप्त होने वाले मुखरंजक-शोधक पदार्थ भी मुख का कैंसर उत्पन्न करते हैं। ऐसे पदार्थ जो समाज में प्रचलित हैं जैसे– पान, सिगरेट, तम्बाकू आदि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक ही नहीं हैं वरन् सामाजिक प्रदूषण के जनक भी हैं।

वैज्ञानिक प्रगति के साथ हमने वायुमंडल को, जल को तथा पृथ्वी को प्रदूषित किया है। इसका प्रारम्भ कारखानों, फैक्ट्रियों के आने से हुआ और उनके द्वारा उस क्षेत्र में अनियंत्रण और नियमों के अभाव के फलस्वरूप प्रदूषण फैला। परन्तु इन अनेक पदार्थों में अनेक रसायनिक पदार्थ भी हैं, उनके द्वारा भी हमारा जीवन प्रभावित हुआ है। कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं–

ऐज़ो-रंजक (Azo dye) की उत्पत्ति भले ही लाभप्रद रही हो, परन्तु उसके द्वारा की गयी हानि का आभास लोगों को तब हुआ जब इस क्षेत्र में कारखानों और फैक्ट्रियों में कार्यरत श्रमिकों में मूत्राशय (Bladder) के कैंसर की अधिकता बढ़ी। इसके परिणाम से भारत ऐसे विकासशील देश में बुनकरों, रंगरेज़ों में इस कैंसरकारी पदार्थ के और अन्य रंगों के प्रभाव से कितनी वृद्धि मूत्राशय (Bladder) के कैंसर और यकृत-कैंसर में हुयी है, इसकी सूचना नहीं है।

नवीन वैज्ञानिक शोधों से यह स्पष्ट हो गया है कि चीनी से कई गुना ज्यादा भी सैकरीन और साइक्लामेट्स (Cyclamates) जो सभी शीतल पेयों में, मिष्ठान्नों में, शरबतों में, और सर्वप्रमुख आइसक्रीमों में मिलाये जाते हैं, ये सभी मूत्राशय का कैंसर उत्पन्न करने में सक्षम हैं।

इसी भाँति अनेक खाद्य परिरक्षक (Food preservatives), ऐडीटिव्स (additives) तथा स्थायीकारक (Stabilizers) आदि रसायन, जो भोजन को डिब्बों में सुरक्षित रखने के काम आते हैं, वे भी कैंसर की वृद्धि को प्रत्यक्ष और परोक्ष बढ़ाने में सहायक हैं। पर इस कटु सत्य को इस 'फास्ट फूड' (fast food) के युग में सुने कौन ?

अनेक रसायनिक पदार्थ भी, जो बिना हिचक भारत में उपयोग किये जाते हैं, कैंसर की वृद्धि में सहायक हैं। इनमें से प्रमुख हैं : गैमेक्सीन, डी.डी.टी., अनेक दवायें, यूरिया, थायोयूरिया और इनके यौगिक, कीटनाशक, खरपतवार-नाशक रसायन, ऐन्टीबायोटिक्स, डिटरजेन्ट्स आदि जो बाज़ार में सर्वत्र उपलब्ध हैं। ये पर्यावरण को तथा मानव को, कैंसर उत्पन्न कर, प्रभावित करते हैं।

प्रदूषण की चर्चा मोटरों, ट्रकों और दो पहिया अथवा तिपहिया वाहनों से निकाले गये प्रदूषणकारी धुयें की चर्चा के बिना अधूरी है। इनके धुये में करीब 300 प्रकार के पदार्थों की उपस्थिति पायी गयी है जिनमें से कैंसरकारी एरोमैटिक हाइड्रोकार्बनों से लेकर विविध सल्फेट तथा नाइट्रोजन के यौगिक पाये गये हैं। इनमें अधिकांश फेफड़ों का कैंसर तथा उससे संबंधित विविध रोग उत्पन्न करने में सक्षम हैं।

इसी वायुप्रदूषण का परिणाम है कि आज बच्चे और बूढ़े सभी खॉसी और एलर्जी से प्रभावित होते हैं और महानगरों में तो यह दशा अत्यंत शोचनीय है।

प्रदूषित जल और उसमें उपस्थित विविध रसायनों ने हमारे जीवन के हर पक्ष को प्रभावित किया है। जल में अधिक मात्रा में नाइट्रेटों की उपस्थित कैंसरकारी है–विशेषकर पेट के कैंसर के संदर्भ में तो यह सत्यापित भी किया जा चुका है।

इसी प्रकार अत्यधिक मात्रा में क्लोरीन अथवा ब्लीचिंग पाउडर भी, जो जल की टंकियों के शुद्धिकरण हेतु डाला जाता है, कैंसरकारी हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब इसकी मात्रा जल में एक सीमा को पार कर जाती है। इसके लिए जल के शुद्धिकरण हेतु दूसरा विकल्प तलाशना आवश्यक है।

बीस वर्षों पूर्व जर्मनी और अमेरिकी कैंसर शोध संस्थानों में एक नये रसायन की खोज हुयी जिसे नाइट्रोसामीन (Nitrosamine) नाम से जाना गया। इनकी विशेषता थी कि यह पदार्थ चूहों और अनेक जीवों के विभिन्न अंगों में अनेक प्रकार के ट्यूमर (कैंसर) उत्पन् करने में सक्षम थे। इन नाइट्रासामीनों की उपस्थिति अफ्रीका के मालावी नामक देश में

घर में तैयार की जाने वाली जिन (Gin), जो एक प्रकार की शराब है, में पायी गयी है। इसी के आधार पर यह पाया गया कि इस देश के वासियों में कण्ठ नली का कैंसर (Cancer of Oesophagus) होने में प्रमुख योगदान इन्हीं उपस्थित नाइट्रोसामीनों का है। भारत में जो देशी शराब बनती है उसमें यूरिया डालकर किण्वन की क्रिया को तेज़ किया जाता है। यूरिया नाइट्रोसामीनों की उत्पत्ति का कारक हो सकती है। इस प्रकार इस मदिरा को पीने वालों में कण्ठनलिका का कैंसर होना स्वाभाविक है।

नाइट्रोसामीनों और अन्य कैंसरकारी पदार्थों की उपस्थिति खूब भुने गोश्त, तली मछलियों में और अन्य पालीसायकिलिक कैंसरकारक हाइड्रोकार्बनों की उपस्थिति, खूब कुरकुरी सेंकी गयी रोटी और डबल-रोटियों में पायी गयी है। अतः अत्यधिक तला-भुना खाना सदैव कैंसर को निमंत्रण देना है।

□□□

तत्वों की अदालत
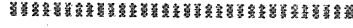
□ ***कीर्ति मौर्या***
स्नातकोत्तर, रसायन शास्त्र (वैश्लेषिक रसायन)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5

ज़ीरो ग्रुप का हीरो है अमोनिया,
प्रथम समूह भी है केमिस्ट्री का एक चेम्बर,
उसके भी है तीन मेम्बर,
लेड, मरक्यूरस और सिल्वर,
द्वितीय समूह के महासागर में है तत्वों की भरमार
कॉपर, लेड, कैडमियम, लिस्मथ और एण्टीमनी,
स्टैनस, आर्सेनिक हैं इसका आधार,
पीछे से तृतीय समूह करता है शिकायत,
तत्वों की मंडली में मिली क्यों न हमें विरासत,
तीन ही तो हैं हम,

फ़ेरिक, एल्युमिनियम और क्रोमियम,
अदालत में पहुँचती है इनकी फ़रियाद,
बयान सुनते हैं मैंगनीज और कोबाल्ट
वकालत करते हैं ज़िंक और निकिल,
मंच पर बैठे हैं पास-पास तीन डी.एम.
जिनके नाम हैं,
बेरियम, कैल्सियम और स्ट्रांशियम,
तब तक आता है छठे ग्रुप के मैग्नीशियम का फोन,
स्वागत की तैयारी हो चुकी है पूरी,
जज कहता है फैसला बाद में होगा,
अपराधी को अभी कर दो बरी।

वनस्पति एवं प्राणी राज्य-चिन्हों में

□ *डॉ० सतीश कुमार शर्मा*
क्षेत्रीय वन अधिकारी, अरावली वृक्षारोपण परियोजना,
झाडोल (फ.) 313702, उदयपुर (राजस्थान)

प्रस्तुत लेख में राज्य चिन्हों में प्रयुक्त वनस्पतियों एवं प्राणियों के बारे में संक्षिप्त जानकारी दी गई है। विभिन्न महत्व के प्राणी, वृक्ष, पुष्प आदि को राष्ट्रीय चिन्हों के रूप में अपनाने का सिलसिला आधुनिक सरकारों में जारी है। न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि राज्य स्तर पर भी ऐसे चिन्ह अपनाये गये हैं। अन्य देशों में भी यह चलन जारी है।

प्राचीन समय में आज की तरह भले ही राज्य पशु-पक्षी व वृक्षों की तत्कालीन सरकारों द्वारा वैधानिक घोषणा नहीं होती थी लेकिन सांस्कृतिक एवं धार्मिक रूप से पशु-पक्षियों, वृक्षों आदि को राज्य पशु, राज्य पक्षी, राज्य पुष्प एवं राज्य वृक्ष का दर्जा स्वतः मिल जाता था। सच तो यह है कि समाज द्वारा स्वतः ही उनका वरण करने के कारण उनकी स्थिति "समाज-पशु (Animal of Society)", "समाज-पक्षी (Bird of Society)", "समाज-वृक्ष (Tree of Society)" तथा "समाज-पुष्प (Flower of Society)" के दर्जे की रहती थी। प्राचीन भारत में गाय, काला नाग, सिंह, बाघ, बंदर, लंगूर, हंस, मोर, सारस, नीलकंठ, बरगद, पीपल, बेल-पत्र, तुलसी, केला, दूब घास (दूर्वा), डाब घास, कमल पुष्प आदि का दर्जा बहुत सम्मानजनक था। मजेदार बात यह है कि प्राचीन समय में दो या अधिक प्रजातियां एक ही "पद" पर समान गरिमा के साथ स्थापित हो जाती थीं जब कि आज ऐसा नहीं है। आज दो पशु राष्ट्रीय पशु नहीं हो सकते। दो पक्षी राष्ट्रीय पक्षी नहीं हो सकते।

भारत में संविधान द्वारा अशोक महान् द्वारा बनवाई गई सिंह त्रिमूर्ति को राष्ट्रीय चिन्ह के रूप मे अपना कर हमने वन्य प्राणियों के प्रति सम्मान प्रकट किया है। वर्तमान में राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर वनस्पतियों एवं वन्य प्राणियों को राष्ट्रीय एवं राज्य चिन्हों में निम्न तरह मान्यता दी गई है—

वनस्पतियों एवं प्राणियों को सुरक्षा देने के लिये तरह-तरह के प्रयास जारी हैं। ये प्रयास सरकारों, स्वयंसेवी संस्थाओं, जनता, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों आदि द्वारा किये जा रहे हैं। सरकारें तरह-तरह के उपाय कर वनस्पतियों एवं वन्य प्राणियों को बचाने में लगी रहती हैं। प्रायः सरकारें निम्न उपाय कर वन्य संपदा की रक्षा करती हैं —

1. कानून बना कर वन्य प्राणियों के शिकार, व्यापार, पालन, प्रदर्शन आदि का नियमन तथा वनस्पतियों के व्यापार का नियमन एवं नियंत्रण।
2. विभिन्न क्षेत्रों को संरक्षित क्षेत्र अभयारण्य, राष्ट्रीय पार्क, रक्षित व आरक्षित वन घोषित करना।
3. प्रचार माध्यमों से जन-शिक्षण कर जन चेतना जगाना।
4. पत्रों, डाक टिकटों पर पौधों एवं वन्य प्राणियों का अंकन।
5. सिक्कों, नोटों पर वन्य प्रजातियों का अंकन।
6. विभिन्न संस्थाओं द्वारा वन्य प्राणियों, वनस्पतियों को "लोगो" के रूप में अपनाना।
7. अन्तर्राष्ट्रीय-संधियाँ कर संरक्षण का मार्ग प्रशस्त करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सुझावों का क्रियान्वयन करना।
8. विभिन्न परियोजनायें चला कर विशेष प्राणी या वनस्पति की रक्षा करना।
9. वन विभाग एवं वन्य प्राणी संरक्षण विभाग का गठन करना। चिड़ियाघरों, जूलाजिकल पार्कों, वानस्पतिक उद्यानों, हरबेरियमों, आरबोरेटमों, आर्कीडेरियमों आदि की स्थापना करना।
10. अनुसंधान करवाना एवं प्राप्त ज्ञान का उपयोग सुनिश्चित करना।
11. राज्य चिन्हों में वनस्पतियों एवं वन्य प्राणियों को अपनाना, आदि।

राष्ट्रीय स्तर	राज्य स्तर
राष्ट्रीय वृक्ष	राज्य वृक्ष
राष्ट्रीय पशु	राज्य पशु
राष्ट्रीय पुष्प	राज्य पुष्प
राष्ट्रीय पक्षी	राज्य पक्षी

विभिन्न वृक्षों, पशुओं, पुष्पों, पक्षियों को राष्ट्रीय या राज्य चिन्हों के रूप में स्वीकार करते समय प्रायः निम्न बातों को ध्यान में रखा जाता है—

1. सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व,
2. उपयोगिता,
3. उपलब्धता,
4. सुन्दरता और
5. भू-भाग में निवास करने की प्राचीनता, आदि-आदि।

विलुप्त हो चुकी, विदेशी एवं आकार-प्रकार में बहुत छोटी जातियों को राष्ट्रीय व राज्य चिन्हों में नहीं अपनाया जाता है।

निम्न सारणी से राष्ट्रीय एवं राज्य चिन्हों के स्वरूप का आभास मिल सकता है—

सारणी 1: राष्ट्रीय एवं राज्य पशु, पक्षी, वृक्ष आदि

क्रमांक	देश/राज्य	चिन्ह का प्रकार	चिन्ह
1.	भारत	राष्ट्रीय वृक्ष	बरगद
2.	भारत	राष्ट्रीय पशु	बाघ
3.	भारत	राष्ट्रीय पक्षी	मोर
4.	भारत	राष्ट्रीय पुष्प	कमल
5.	राजस्थान	राज्य वृक्ष	खेजडी
6.	राजस्थान	राज्य पशु	काला हिरण
7.	राजस्थान	राज्य पक्षी	गोडावण
8.	राजस्थान	राज्य पुष्प	रोहीडा
9.	पंजाब	राज्य पक्षी	हुदहुद
10.	कर्नाटक	राज्य पक्षी	नीलकंठ (Blue Jay)
11.	तमिलनाडु	राज्य पक्षी	एमैरेल्ड फाख्ता
12.	मध्यप्रदेश	राज्य पक्षी	पैराडाइस फ्लाइकैचर
13.	आंध्र प्रदेश	राज्य पक्षी	नीलकंठ
14.	उत्तर प्रदेश	राज्य पक्षी	सारस क्रेन
15.	हिमाचल प्रदेश	राज्य पक्षी	मोनल फीजेन्ट
16.	तमिलनाडु	राज्य वृक्ष	पामीरा ताड
17.	मध्य प्रदेश	राज्य वृक्ष	बरगद
18.	ग्वाटेमाला	राष्ट्रीय पक्षी	रैस्पलेन्डैन्ट कुटजाल (Pharomaohrus mocino)
19.	द. अफ्रीका	राष्ट्रीय पुष्प	प्रोटीया रीपेन्स (Protea repens)

□ *तुरशन पाल पाठक*
वैज्ञानिक एवं सम्पादक, भारत की सम्पदा, वैज्ञानिक
विश्वकोश, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय
डॉ० के० एस० कृष्णन मार्ग (निकट पूसागेट),
नई दिल्ली-110012

रोटी, कपड़ा और मकान की जरूरतों में से यदि इन्सान रोटी और कपड़े की ज़रूरतें पूरी कर भी ले तो भी उसे मकान की तीसरी आवश्यकता पूरा करने में एड़ी-चोटी का ज़ोर जगाना पड़ता है। मकान की सजावट और उसके लिये फर्नीचर आदि जुटाने में प्रायः आम आदमी की तो कमर ही टूट जाती है। बड़े-बड़े घरों और महलों वालों की भी अपने-अपने ढंग की विकट समस्यायें हैं। इन सब समस्याओं को किसी तरह झेल कर जब कोई मकान या भवन बनाता है तो निश्चय ही एक आत्म-संतोष का अनुभव होता है। लेकिन कुछ ही समय या बरसों के बाद जब भवन की दीवारों, फर्श तथा लकड़ी आदि की सामग्री को दीमक चट करना प्रारम्भ कर देती है तो अनायास ही आत्मसंतोष दु:खद परिस्थितियों को जन्म देने लगता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये भवन एवं भवन की सामग्री को दीमक के आक्रमण से मुक्त रखने की परम आवश्यकता रहती है। इस दिशा में केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान, रुड़की लम्बे समय से कार्य कर रहा है जिसके अब कुछ सुखद परिणाम सामने आ रहे हैं।

दीमक का नियन्त्रण करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि दीमक भवनों और लकड़ी आदि को नुकसान क्यों पहुँचाती है ? सम्भवतः आप जानते ही होंगे कि दीमकों का प्राकृतिक भोजन सेलुलोज़ होता है। यह पेड़-पौधों की कोशिकाओं की भित्तियों में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अतः भवनों में जहाँ भी लकड़ी का इस्तेमाल होता है, दीमक अपने भोजन के लिये उसे अपना निशाना बना देती है। एक अनुमान के अनुसार संसार में जितनी भी लकड़ी काटी जाती है उसका 1/3 हिस्सा जीव-जन्तुओं आदि द्वारा नष्ट कर दिया जाता है, जिसमें दीमक की भूमिका प्रमुख होती है। दीमक अपने भोजन के लिये केवल लकड़ी को ही निशाना नहीं बनाती बल्कि अकार्बनिक पदार्थ जैसे सीमेंट तथा भवनों में इस्तेमाल किये गये चूना आदि को भी हानि पहुँचाती है। यूँ तो संसार में दीमकों की लगभग 2000 जातियाँ पायी जाती हैं लेकिन इनमें से केवल 4% जातियाँ ही
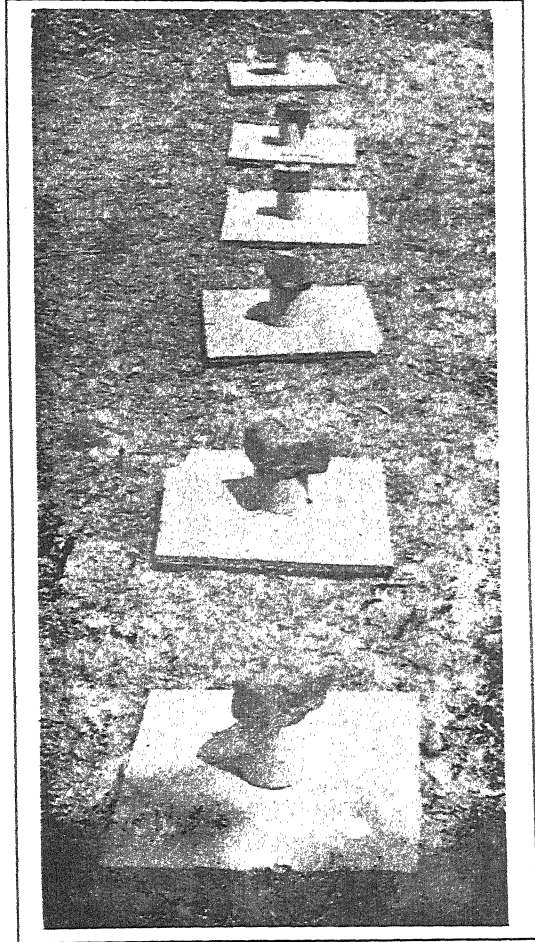
Ground board test for chlorpyrifos

ऐसी हैं जो भवनों को नुकसान पहुँचाती हैं। इनमें से **क्रिप्टोटेम्स डोमेस्टिकस, हिटेरोटर्मेस इन्डिकोला, कोप्टोटर्मेस हेमी** और **अलौहटोटर्मेस फीयर** मुख्य हैं।

सामान्यतः इन हानिकारक दीमकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वे जो लकड़ी पर निर्भर रहती हैं और दूसरी वो जो भूमि पर निर्वाह करती हैं। लकड़ी पर रहने वाली दीमकें हमेशा लकड़ी तक ही सीमित रहती हैं और उसी में अपनी सुरंगे और घर बना कर रहती हैं। यह गीली या सूखी या दोनों प्रकार की लकड़ी में रह सकती हैं। सामान्यतः ऐसी दीमकें तटीय क्षेत्रों में और उत्तरी पूर्वी राज्यों में पाई जाती हैं। भूमि में रहने वाली दीमकें रहती तो ज़मीन में हैं लेकिन उनके कर्मी सहयोगी ज़मीन के बाहर आ कर या सीधे ही उन लकड़ियों पर पहुँच जाते हैं जिनका संबंध ज़मीन से रहता है। वे अपनी सुरक्षा के लिये मकानों की दरारों, बारीक नालियों आदि के द्वारा मकानों में प्रवेश कर और अपने घर बना कर नुकसान पहुँचाना प्रारम्भ कर देती हैं। इनका हमला लकड़ी आदि के अलावा घरों में रखे हुये सेलुलोज़ युक्त अखबारों आदि जैसी वस्तुओं पर हो जाता है और तब मानव उपयोग के योग्य नहीं रह पातीं।

अब प्रश्न उठता है कि मकानों की दीमकों से रक्षा कैसे की जाये ? अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि उन मकानों में दीमक का प्रकोप अधिक होता है जिनमें भूमि नमी लिये हुये गर्म होती है और जहाँ लकड़ी और कागज़ जैसे सड़ने वाले पदार्थों की प्रचुरता होती है। वे भवन भी दीमक की चपेट में आ जाते हैं जिनमें लकड़ी की सामग्री ज़मीन के सम्पर्क में रहती हैं। मकान के आसपास उगाई गई हरियाली या बाग़-बग़ीचे के पेड़-पौधों के ठूँठ या सूखे हिस्सों का मकानों के आसपास होना भी दीमक को निमंत्रण देना माना जाता है। ठीक इसी तरह मकानों की नींव, फर्श और दीवारों में आई दरारें और खोखले स्थान दीमकों के प्रवेश का सुगम मार्ग होते हैं। जिन मकानों का जल-निकास अच्छा नहीं होता और जिनमें हवा और प्रकाश के जाने-आने की समुचित व्यवस्था नहीं होती, वे मकान भी दीमकों को प्रिय होते हैं।

यदि हम अपने मकानों या भवनों में इन परिस्थितियों को न पनपने दें तो एक सीमा तक भवनों को दीमक के प्रकोप से बचाया जा सकता है। लेकिन मकानों की दीमकों से पूरी सुरक्षा के लिये मकान के चारों तरफ ज़हरीले रसायनिक पदार्थों को सावधानीपूर्वक इस तरह डालना आवश्यक होता है ताकि ये रसायन दीमकों को मकान में प्रवेश के लिये अवरोध अथवा रुकावट का काम करें। सामान्यतः इस कार्य के लिये **एल्ड्रिन, क्लोरडेन,** और **हेप्टाक्लोर** का उपयोग किया जाता है। यह क्लोरीनेटेड हाइड्रोकार्बन होते हैं। पिछले तीन दशकों से दीमक से बचाव के लिये इनके उपयोग किये जा रहे हैं लेकिन अब यह मालूम हुआ है कि ये रसायन अधिक ज़हरीले हैं और इनसे पर्यावरण को हानि भी पहुँचती है। अतः इनका अंधाधुंध उपयोग किया जाना अब उचित नहीं माना जाता।

इस समस्या को ध्यान में रखते हुये 'केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान, रुड़की' द्वारा कुछ ऐसे प्रयास किये गये हैं जिनके इस्तेमाल से कोई विषैला प्रभाव उत्पन्न न हो सके। प्रायः

MODIFIED SET-UP FOR GROUND BOARD TEST
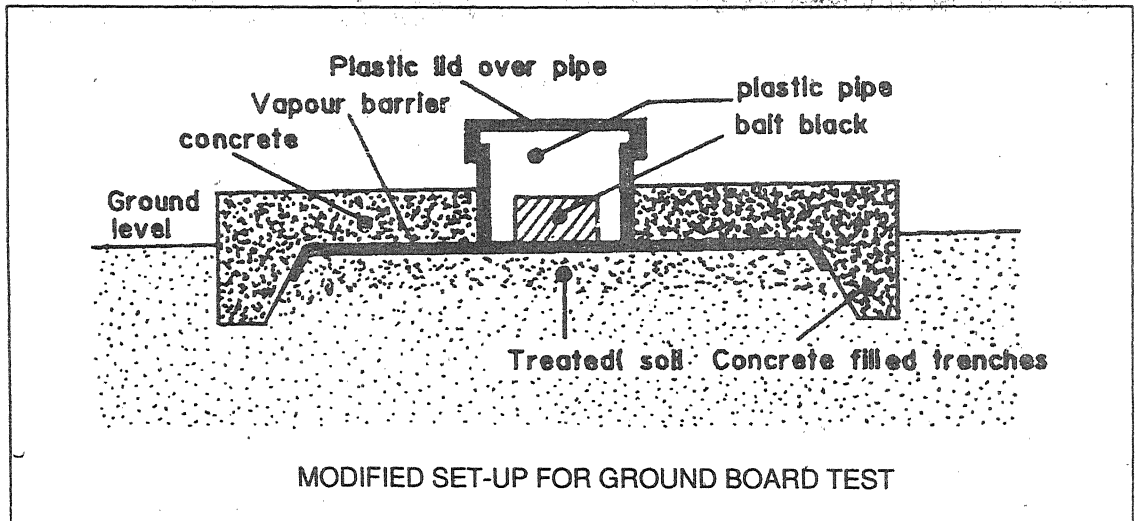
देखा जाता है कि जंगलों में बहुत से ऐसे वृक्ष मिलते हैं जिनके आसपास दीमक फटकती तक नहीं है। इनमें चीड़ एक ऐसा ही वृक्ष है जिसके आसपास दीमक नहीं होती। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि इस वृक्ष की लकड़ी में सुडेसमोल और एजुलीन नामक प्राकृतिक पदार्थ होते हैं जो इन्हें दीमक से बचाते हैं। लाल चीड़, सफ़ेद चीड़, साग-बाग-हिकरी, लाल ओक तथा लाल मेपिल वृक्षों की छाल में दीमकरोधी गुण होते हैं। अनके वृक्षों की जड़ों और पत्तियों तथा छालों में दीमक अवरोधी तत्व पाये गये हैं। चीड़ की एक प्रजाति पाइनस राक्सबर्गाई की पत्तियों का सार या सत अनेक जातियों की दीमकों का अच्छा प्रतिरोधी पाया गया है।

विषैले रसायनों की तुलना में क्लोरपाइरीफ़ॉस नामक यौगिक से अच्छे परिणाम मिले हैं। हालाँकि क्लोरीनेटेड हाइड्रोकार्बन एन्डोसल्फान वातावरण में सल्फाइट के कारण हवा में विघटित हो जाता है फिर भी संश्लेपित पाइरीथ्रोइड जैसे डेल्टामीथेन बहुत सुरक्षित माने जाते हैं क्योंकि ये भी हवा में विखण्डित हो जाते हैं। इसलिये अब दीमक नियंत्रण हेतु इनके उपयोग का महत्व बढ़ रहा है। लेकिन दीमकों की अनेक जातियों और नाना प्रकार की भूमियों आदि को देखते हुये इनके उपयोग से पहले इनका परीक्षण किया जाना आवश्यक है। अब इस दिशा में एक बड़ी सफलता प्राप्त कर ली गई है।

यूँ तो अनेक तरह के परीक्षण किये गये हैं, लेकिन इनमें **भूमि बोर्ड परीक्षण** प्रमुख है। इस परीक्षण के द्वारा भवन निर्माण से पहले वहाँ की भूमि में दीमक के प्रभाव की संभाविता को रसायनों के प्रयोग से परखा जाता है। इस परीक्षण में भूमि पर अलग-अलग सांद्रता के रसायनों के लेप का उपयोग किया जाता है और जब यह रसायन ज़मीन द्वारा सोख लिये जाते हैं तो इन्हें सीमेंट की एक ऐसी स्लैब या पटिया से ढँक दिया जाता है, जिसके बीच में पोलीथीन की एक पाइप इस तरह लगी रहे कि उसका संबंध रसायन लगाई गई ज़मीन से रहे। इस पाइप के अन्दर उपयोग की जाने वाली उस लकड़ी का टुकड़ा जिस पर दीमक लग सकती है, इस प्रकार रख दिया जाता है कि वह लगातार ज़मीन को छूता रहे। इसे एक ढक्कन से ढँक देते हैं और समय-समय पर ढक्कन उठा कर जाँच करते रहते हैं कि लकड़ी पर दीमक का कोई असर हुआ है या नहीं। इस तरह के परीक्षण रुड़की, पूना और जोरहट में किये गये। पिछले लगभग 4 वर्ष के आँकड़े यह बताते हैं कि क्लोरपाइरीफ़ॉस का उपयोग भवनों और मकानों में दीमक के प्रकोप को रोकने के लिये शत-प्रतिशत प्रभावकारी है, क्योंकि यह आसानी से वायुमण्डल में विखण्डित भी हो जाता है इसलिये इसका पर्यावरण पर हानिकारक प्रभाव भी नहीं है। साथ-ही-साथ यह भूमि में लम्बे समय तक बना भी रहता है इसलिये मकानों की लम्बी अवधि तक रक्षा में यह उपयोगी हो सकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि भविष्य में इस अनुसंधान के आधार पर हमारे मकान, भवन, लकड़ी की सामग्री, बच्चों की पुस्तकें तथा दीमक द्वारा नष्ट की जाने वाली अन्य घरेलू सामग्रियाँ दीमक से सुरक्षित रह सकेंगी।

□□□

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती अस्वस्थ

अगस्त माह में ही स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी भी अत्यधिक अस्वस्थ हो गए थे। उन्हें संजय गाँधी अस्पताल (लखनऊ) में भर्ती भी करना पड़ा था, किन्तु उनके स्वास्थ्य में सुधार हो गया और वे पुनः अमेठी श्री दीनानाथ जी के निवास पर वापस चले गए। पिछले लगभग एक वर्ष से स्वामी जी का स्वास्थ्य हम सभी के लिए चिंता का विषय बना हुआ है। हम सभी स्वामी जी के अच्छे स्वास्थ्य एवं लम्बी वय की कामना करते हैं।

□ डॉ० शिवगोपाल मिश्र
अवकाशप्राप्त निदेशक,
शीलाधर मृदाविज्ञान संस्थान, इलाहाबाद-211002

सुगन्ध या गन्ध घ्राण का विषय है। प्रकृति में वृक्षों-लताओं के फूलों, फलों, पत्तियों, बल्कलों में अनेक प्रकार की गन्धों का अनुभव मनुष्य आदि काल से करता आया है। वह इन वस्तुओं का प्रयोग अपने शरीर को सुडौल सुन्दर कोमल तथा कान्तिमान बनाने के लिए करता रहा है। संसार के विभिन्न देशों के साहित्य में गन्ध विषयक अनेक उपयोगों के विवरण प्राप्त हैं। असीरियन, बैबिलोनियन, ग्रीस, ईरान तथा रोम के प्राचीन इतिहास में अनेकानेक अंगरागों को तैयार करने और उनके व्यवहार के वर्णन मिलते हैं। प्राचीन मिस्र में सुगन्ध का उपयोग तीन प्रकार के कार्यों के लिए किया जाता था—देवताओं पर चढ़ाने के लिए, व्यक्तिगत व्यवहार के लिए तथा शवों को सुरक्षित रखने के लिए। सहस्रों वर्ष पूर्व दफनाए गये शवों (ममी) में नाना प्रकार के अंगराग और सुगन्ध आज भी उसी तरह सुरक्षित पाये जाते हैं। कहा जाता है कि मिस्र देश की साम्राज्ञी **क्लियोपेट्रा** सुगन्धशास्त्र की जननी थीं। **मार्टिन लेवी** ने स्वीकार किया है कि विश्व की पहली रसायनवेत्ताएँ सुगन्धि बनाने वाली महिलाएँ ही थीं जिनका वर्णन (2000 ई. पू.) प्राचीन मेसोपोटामिया की मिट्टी की पुटिकाओं में लिखा मिलता है। वे अपनी रसोई के उपकरणों से इन सुगंधों को तैयार करती थीं—आसवन, निस्यन्दन तथा तेल और जल को सुवासित करना—ये ही विधियाँ थीं। अच्छी गन्ध बनाने के लिए किसी किसी क्रिया को 40 बार दोहराया जाता था। ग्रीस तथा अरब वालों को इन्हीं महिलाओं से विरासत के रूप में सुगन्धशास्त्र प्राप्त हुआ।[1] भारत भी इस शास्त्र में अग्रणी रहा है।

आर्य संस्कृति में सुगन्धशास्त्र का दैनिक जीवन में अत्यधिक महत्व था। **महाभारत, बृहत्संहिता, सुश्रुत, अग्निपुराण, मार्कण्डेय पुराण, शुक्रनीति, कौटिल्यशास्त्र, शार्ङ्गधर पद्धति, वात्स्यायन कामसूत्र, ललित बिस्तर, भरतनाट्यम तथा अमरकोश** में सुगन्धों तथा अंगरागों के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं।

जटासिंह नन्दी के काव्य 'वरांग चरित' (700 ई.) में गन्ध द्रव्यों में चम्पा का उल्लेख मिलता है। 'कारण्डव्यूह' नामक बौद्ध ग्रंथ में जेतवन के काष्ठ पुष्पों के अन्तर्गत चम्पक पुष्प एवं चम्पक वृक्षों का उल्लेख हुआ है। **वाण कवि** की 'कादम्बरी' में चम्पकदल की बनी माला का निर्देश है।

'अग्निपुराण' 800-900 ई. की रचना है। इसमें गन्धयुक्ति सम्बन्धी आठ कर्मों[2] एवं 21 धूप द्रव्यों[3] की चर्चा हुई है। उसमें स्नान द्रव्यों की भी सूची मिलती है। गन्ध तेलों के विवरण के अन्तर्गत तिलों को अनेक पुष्पों की गन्ध से बसाने का भी

---

1. Great Chemists Page-3
2. भावनाचैव पाकश्च बोधनं धूपनं तथा।
   वासनं चैव निर्दिष्टं कर्माष्टकमिदं स्मृतम ॥

   अग्नि पुराण अ. 224. 20-21.
3. नखं कुष्ठं घनं मांसी स्पृक्कंशैलेयजं जलम्।
   तथैव कुंकुमं लाक्षा चन्दनागुरुनीरदम्।
   सरलं देवकाष्ठं व कर्पूरं कान्तया सह।
   बाल: कुन्दुरुकश्चैव गुग्गुल: श्रीनिवासक:।
   सह सर्जरसेनैवं धूपद्रव्यैकविशति: ।धूप द्रव्य गणारस्मादेक विंशाद्यथेच्छया ॥

   अग्निपुराण, अ. 224, 23-25.

एक ग्रंथ लिखा था। इसका सम्पादन बम्बई से श्री टी. त्रिपाठी ने 1921 ई. में किया। इसमें नेपाल के जगज्योतिर्मल्ल की टीका है जो सन् 1617-33 की है। इसमें एक प्रकरण **गन्धाधिकार** है जिसमें गन्ध द्रव्यों की सूची दी हुई है। यह सूची गन्धसार में दी हुई सूची जैसी ही विस्तृत है।

गन्धवाद नामक ग्रंथ के रचनाकार या रचनाकाल का पता नहीं हैं किन्तु इस ग्रंथ में कई विशेषताएँ प्रतीत होती हैं—यथा **भोजराज** का नामोल्लेख, काँच की बनी कूपी का उल्लेख, पातालयंत्र तथा नालका यंत्र का उल्लेख। इन सबसे यह 14-15वीं सदी की रचना सिद्ध होती है।

कहते हैं कि **शिवाजी** की आज्ञा से **रघुनाथ पंडित** ने 'राजव्यवहार कोश' की रचना (1650-1674 ई.) की जिसमें अतर, गुलाबजल तथा चम्पक तेलों का वर्णन मिलता है।

मुगल काल में गन्धशास्त्र का ज्ञान अपनी चरमसीमा को प्राप्त था। मुगल सम्राटों को सुगन्धित बगीचों, सुगन्धित जलस्रोतों, सुगंध तेलों, इत्रों आदि के सेवन का अत्यन्त शौक था। गुलाब के इत्र का आविष्कार नूरजहाँ ने किया। **आईने अकबरी** (1590 ई.) में सुगन्ध उपयोग सम्बन्धी नियमों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें अरगजा, रूह अफ़ज़ा, उबटन, बेखुर आदि के बनाने के उल्लेख हैं।

इसमें फूलों की विस्तृत नाम सूची भी है। अम्बर, लोबान, कपूर, कस्तूरी, चोआ तथा गुलाब जल का भी उल्लेख है। गुलाब जल बनाने की कला सर्वप्रथम फारस में 810-817 ई. में **खलीफा मामून** के काल में विकसित हुई। शीराज का गुलाब भारत तथा फारस दोनों देशों में प्रसिद्ध था। भारत में गुलाब जल तथा इत्र फारस से ही आये। अरबों ने यूरोप को गुलाबजल बनाने की कला सिखलाई। कहते हैं कि **महाराज दौलतराव सिंधिया** के दरबारी कवि **शिव** ने 1780-1827 ई. में **बागविलास** नामक ग्रंथ में गुलाब की खेती का वर्णन किया है। सम्प्रति हमारे देश में गुलाब की उन्नत खेती की जाती है और गाज़ीपुर, तथा अमृतसर में इत्र तथा गुलाब जल का धन्धा विगत 250 वर्षों से चल रहा है। **हकीम फरासिस** नामक एक फिरंगी चिकित्सक ने (शक 1746) एक ग्रंथ लिखा है जिसमें 13 अध्याय हैं। इसके तीसरे अध्याय में आसवों के वर्णन के साथ में गुलाब के फूल का भी उल्लेख आया है।[8]

भारत में विविध सुगंधधारी पदार्थ बहुत बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं।[9] प्राचीन काल में भारतीय चन्दन की लकड़ी, सुगंधित तथा गरम मसालों और सौगंधिक तेलों से लदे हुए कारवाँ, मिस्र, यूनान और रोम के लिए ईरान, अरब तथा एशिया माइनर के रेगिस्तानों तथा पहाड़ों से होकर गुज़रा करते थे। सौगंधिक तेल उद्योग की जन्मभूमि के रूप में भारत का नाम सभ्य संसार में प्रसिद्ध रहा है। कन्नौज, बंगलोर, पंढरपुर, पूना, पटना आदि इस उद्योग के बड़े केन्द्र थे। बढ़िया इत्र निकालने के लिए गाज़ीपुर, जौनपुर, लखनऊ, अलीगढ़, जयपुर में नये-नये केन्द्र बने हैं।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दिनों में सौगन्धिक तेल उद्योग ने यूरोप में तेज़ी से उन्नति की, जिसका कारण विज्ञान का विकास था। प्राकृतिक स्रोतों से सौगंधिक तेलों को निकालने के लिए अनेक वैज्ञानिक विधियाँ विकसित की गईं फलस्वरूप प्राकृतिक तेलों के साथ-साथ कृत्रिम सौगंधिक रासायनिक पदार्थ बनने लगे। भारत की सुगंधधारी प्राकृतिक सम्पदा की ओर ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय देहरादून स्थित वन अनुसन्धान संस्थान को है। 1905 से 1956 ई. तक के 50 वर्षों में जो अनुसन्धान कार्य हुआ उससे चीड़ की राल से बेरोजा और तारपीन तेल निकाले गये। चन्दन की लकड़ी, रेशाघास, लेमन ग्रास, सौंफिया घास, खस एवं युकेलिप्टस की पत्तियों से उड़नशील तेल भी निकाले जाने लगे। **जिरेनियम** नामक सुगंधित पत्ती वाला पौधा फ्रांस से मँगाकर दक्षिण भारत में लगाया गया और उससे तेल निकाला गया। हिन्दुस्तान ऐरोनॉटिक्स कम्पनी के सफल प्रयास के बाद टाटा ऑयल मिल्स कम्पनी, कलकत्ता केमिकल्स कं०, इण्डस्ट्रियल परफ्यूम लिमिटेड इत्यादि कई कारखाने देश में स्थापित हुए हैं।

अनुसन्धान से पता चला है[10] कि विविध सुगंध अम्ल, एल्कोहॉल, ऐस्टर, ऐल्डिहाइड, कीटोन, ईथर, टरपीन वर्ग के विशिष्ट कार्बनिक यौगिक हैं। व्यवहार में आने वाले सुगंध के तीन अंग

8. प्राचीन भारत में रसायन का विकास : पृष्ठ 820
9. अंगराग और सुगन्ध : कमला सद्गोपाल, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1969, पृष्ठ 201-202
10. हिन्दी विश्वकोश : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

होते हैं– सौरभिक तेल, स्थिरीकारक तथा तनुकारक। सौरभिक तेल तीव्र गंध वाले तेल होते हैं, जो तुरन्त उड़ने लगते हैं। इनको जल्दी उड़ने से बचाने के लिए स्थिरीकारकों का व्यवहार होता है जबकि तनुकारक गंध की तीव्रता को कम करके उन्हें अधिक आकर्षक बनाते हैं। साथ ही मूल सौरभिक तेलों का मूल्य भी कम हो जाता है। सुगंध में सामान्यतया सौरभिक तेल तथा स्थिरीकारक 10% तक और शेष 90% तनुकारकों का रहता है। स्थिरीकारकों के रूप में कस्तूरी, कृत्रिमकस्तूरी, मस्क कीटोन, रेज़िन तेल, ओलियोरेज़िन, चन्दन तेल, पिपरानल, कुमैरिन, बेंज़ोफीनोन, वैनिलिन, एथिलसिनैमेट आदि मुख्य हैं। तनुकारकों में एथिल एल्कोहॉल, बेंजिल एल्कोहॉल, बेंज़िलबेंज़ोएट, डाइएथिल थैलेट आदि उल्लेखनीय हैं।

सुगंध जल के रूप में गुलाब जल, केवड़ा जल, यू. डी. कोलोन, लवेंडर जल मुख्य हैं। प्रायः सभी प्राकृतिक सुगंधें अब कृत्रिम रूप से तैयार हो चुकी हैं। इनका प्रयोग न केवल सौरभिक तेलों के लिए अपितु साबुनों, केश तेलों, अंगरागों को सुगंधित बनाने के लिए होता है। अनेक औषधियों में (पिपरमेंट का तेल) जीवाणुनाशकों, मच्छरों को भगाने आदि के लिए सुगंधों का प्रयोग होता है।

पादपों से सुगंध प्राप्त करने के लिए चार विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं–वाष्प आसवन, विलायकों द्वारा निष्कर्षण तथा अनफ्लराज विलायक के रूप में पेट्रोलियम, ईथर, बेंज़ीन, एल्कोहॉल का व्यवहार होता है। अंतिम विधि से भारत में नाना प्रकार के इत्र तैयार किये जाते हैं।

सुगन्धवाद सचमुच रसायनशास्त्र का एक मोहक अंग है।

□□□
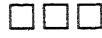
पानी पंप करने के लिए सौर ऊष्मा पंप

भारत हैवी इलेक्ट्रकल्स लिमिटेड, हैदराबाद की अनुसंधान और विकास इकाई के वैज्ञानिकों ने एक सौर ऊष्मा पंप विकसित किया है, जो गहरे कुओं से सीधे पानी निकालने के लिए उपयोगी है।

इस पंप में तरल के रूप में फ्रेआन-11 का इस्तेमाल होता है और इसमें चपटे आकार के प्लेटनुमा संग्राहकों द्वारा सौर ऊर्जा एकत्र की जाती है।

इन वैज्ञानिकों के अनुसार यह पंप ग्रामीण इलाकों में पीने का पानी उपलब्ध करने में काफी उपयोगी साबित हो सकता है। पीने का पानी प्राप्त करने के उद्देश्य से सामान्य धूप वाले दिन में यह 50 मीटर तक गहरे कुओं से लगभग 50,000 लीटर पानी निकाल सकता है। सिंचाई के काम के उद्देश्य से कार्य करने पर यह तीन हेक्टेयर भूमि तक की ज़रूरत पूरी कर सकता है। पानी निकालने की दर पानी की गहराई पर निर्भर करती है। इस पंप को प्रतिदिन औसतन आठ घंटे चलाया जा सकता है। यह पंप ऐसे इलाकों, जहाँ अभी बिजली की सप्लाई नहीं पहुँची या जहाँ बिजली महँगी पड़ती है, के लिए खास तौर पर उपयुक्त है। ***(सम्प्रेषण)***

□ ***डी-707 सरस्वती विहार, दिल्ली-110034***

धान की उन्नत खेती में अज़ोला का उपयोग

□ *प्रेम नाथ पाण्डेय एवं डॉ० मुरारी मोहन वर्मा*
शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद-2
रीडर, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद-2

रसायनिक उर्वरकों की बढ़ती हुई कीमत, माँग व पूर्ति के बीच की खाई, छोटे एवं सीमान्त किसानों की सीमित क्रय-शक्ति और इन सबसे अधिक, ऊर्जा की कमी ने वैज्ञानिकों को इनके किसी सार्थक एवं सस्ते वैकल्पिक स्रोत पर विचार करने को प्रेरित किया। परिणामस्वरूप जैविक खादों की परिकल्पना सामने आयी, क्योंकि ये खादें नवीनीकरण के योग्य होने के साथ-साथ सस्ती भी हैं। कृषि विशेषज्ञों का अनुमान है कि जिस गति से हम नाइट्रोजनी उर्वरकों का उपयोग बढ़ा रहे हैं, उससे सन् 2000 तक हमें लगभग 150 लाख मीटरी टन नाइट्रोजनी उर्वरकों की आवश्यकता पड़ेगी। इस विशाल मात्रा के उत्पादन अथवा आयात की क्षमता शायद हमारी पहुँच से बाहर हो। इसलिए विशेषज्ञों का मत है कि कृषि में जैविक खादों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ाया जाना चाहिए। फ़सलों द्वारा भूमि से लिए जाने वाले प्राथमिक मुख्य पोषक तत्वों में से नाइट्रोजन का अवशोषण सर्वाधिक होता है अतः नाइट्रोजन की इस बड़ी मात्रा की आपूर्ति वायुमण्डलीय नाइट्रोजन उपलब्ध कराने वाले जीवों से की जा सकती है। वर्तमान् परिस्थितियों में जैव उर्वरकों का उपयोग न केवल आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि मृदा की उर्वराशक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में जैव उर्वरकों का नाइट्रोजन उर्वरकों के रूप में उपयोग अति लाभप्रद है।

धान के खेतों में नाइट्रोजन उपलब्ध कराने वाले जीवों में नील-हरित शैवाल (Blue-green Algae) के बाद **अज़ोला (Azolla)** का मुख्य स्थान है। **अज़ोला** एक निम्नवर्गीय पादप है जो ताज़े पानी में तैरता हुआ पाया जाता है। इसे जलीय फर्न (Water Fern) के नाम से भी जाना जाता है। अज़ोला करीब पूरे संसार में फैला हुआ है और इसकी 6 जातियाँ पाई जाती हैं। भारत में अधिकांशतया **अज़ोला पिन्नेटा (A. pinnata)** जाति पाई जाती हैं। उष्ण कटिबन्धीय व अर्ध उष्ण कटिबन्धीय भागों में **अ. पिन्नेटा, अ. निलोटिका (A. nilotica)** तथा **अज़ोला माइक्रोफाइला (A. microphylla)** की संख्या अधिक पाई जाती है जबकि शीतोष्ण प्रदेशों में **अ. केरोलिनियाना (A. caroliniana) अ. मेक्सिकाना** व **अ. फिलिकुलॉइड्स (A. mexicana & A. filliculoides)** की संख्या अधिक होती है।

अज़ोला में सहजीवन का महत्वपूर्ण स्थान है। सभी प्रकार के **अज़ोला** में एक ही नील-हरित शैवाल पाया जाता है, जिसे **एनाबीना (Anabaena)** कहते हैं। **अज़ोला** एवं **एनाबीना** की जैविकी का वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं–

(1) **अज़ोला** की जैविकी– **अज़ोला सालविनियेल्स** (Salviniales) गण **अज़ोलेसी** (Azollaceae) कुल का सदस्य है। इसका पौधा त्रिभुजाकार होता है और पानी की सतह पर तैरता रहता है। छोटे आकार की जातियों में पौधे का व्यास करीब 1-2.5 से.मी. होता है जबकि बड़े आकार की जातियों का व्यास 15 सेमी. से भी अधिक हो सकता है। प्रकन्द पर अनेक एकान्तर टहनियाँ होती हैं, जो कि पार्श्व टहनियों से जुड़ी रहती हैं। टहनी के जुड़ने के स्थान पर एक विलग परत (abscission layer) होती है जो कि कायिक जनन (vegetative propagation) की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पौधे पर झकड़ा (adventitious) जड़ें पाई जाती हैं, जो कि पानी में लटकी रहती हैं या कभी-कभी पानी कम गहरा होने पर नीचे कीचड़ में भी चली जाती हैं।

(1) एनाबीना की जैविकी

यह नील-हरित शैवाल **नोस्टोकेल्स** (Nostocales) गण, कुल **नोस्टोकेसी** (Nostocaceae) का सदस्य है। सभी प्रकार के **अज़ोला** में मुख्यतया **एनाबीना** पायी जाती है। अन्य नाइट्रोजन

यौगिकीकारक नील-हरित शैवालों की भाँति इस शैवाल में भी तीन प्रकार की कोशिकायें पायी जाती हैं–

(i) कायिक कोशिकायें, जिनमें प्रारम्भिक प्रकाश-संश्लेषण होता है;

(ii) हेटेरोसिस्ट (Heterocyst), जिनमें नाइट्रोजन यौगिकीकरण होता है; और

(iii) निश्चेष्ट बीजाणु या एकाइनेट (Akinates) जो कि मोटी भित्ति वाले सुप्त बीजाणु (resting spores) होते हैं और कायिक कोशिकाओं से बनते हैं। हेटेरोसिस्ट, जो कि नाइट्रोजन यौगिकीकरण का मुख्य स्थल हैं, का विकास **अज़ोला** के विकास के साथ चलता है। हेटरोसिस्ट की बारंबारता प्ररोह शीर्ष पर लगभग शून्य होती है। **हिल** (1977) ने प्रत्येक पत्ती पर नाइट्रोजन यौगिकीकरण को नापा और पाया कि 12वीं पत्ती पर अधिकतम नाइट्रोजन यौगिकीकरण होता है, जबकि 20वीं पत्ती के आस-पास पत्ती की जीर्णता के साथ-साथ नाइट्रोजन यौगिकीकरण भी कम होता जाता है।

अज़ोला की खेती

अज़ोला को उगाने के लिए मृदा पी.एच (PH) 5 से 6.5 के मध्य तथा वायुमण्डलीय तापमान 27^{O}-30^{O} से ग्रे. होने के साथ-साथ लौह, मोलिब्डेनम व फॉस्फोरस की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए। इन तत्वों की कमी से नाइट्रोजन यौगिकीकरण उचित मात्रा में नहीं हो पाता है। इनके प्रयोग का स्थान पूर्णतया खुला होना चाहिए जहाँ सूर्य का प्रकाश (radiant energy) पर्याप्त आना चाहिए क्योंकि इनके द्वारा वायुमण्डलीय नाइट्रोजन स्थिरीकरण के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जिसे सूर्य-प्रकाश से अवशोषित करते हैं। **अज़ोला** का गुणन (multiplication) एक साधारण किसान अपने फार्म पर कर सकता है। **अज़ोला** गुणन की दो विधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं, जो निम्नवत् हैं (1) नर्सरी में गुणन (multiplication in nursery), (2) मुख्य खेत में गुणन (multiplication in mainfield or transplanted field)।

नर्सरी में गुणन

इस विधि में **अज़ोला** को मुख्य खेत में उगाने से पूर्व नर्सरी में उगाकर इनकी संख्या बढ़ायी जाती है। इनके गुणन के लिए 100 वर्ग मी. आकार का प्लॉट बना लेते हैं। इसके बाँध (bund) को मजबूत बनाया जाना चाहिए ताकि 5-10 सेमी. ऊँचाई तक पानी को भरा जा सके। उसके बाद इस तैयार प्लाट में 1 किग्रा. सुपर फॉस्फेट 1 किग्रा. राख, 300 ग्राम पोटैशियम सल्फेट, 100 ग्रा. सोडियम मोलिब्डेट एवं 40 ग्रा. फ्यूराडॉन का प्रयोग करते हैं। 40 ग्राम फ्यूराडॉन तथा 120 कि. ग्रा. गाय का गोबर (cow dung) उपरोक्त उर्वरक के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। उसके बाद 20 किग्रा. **अज़ोला** नर्सरी प्लाट में बिखेर कर 5-10 सेमी. पानी लगा देते हैं। नर्सरी में गुणन के समय विशेष सावधानी रखनी चाहिए ताकि पानी के स्तर में गिरावट न आने पाये। इस प्रकार 10-12 दिनों में 20 किग्रा. **अज़ोला** से 300 किग्रा. **अज़ोला** संवर्ध का उत्पादन होता है।

मुख्य खेत में गुणन

जब मुख्य खेत धान की रोपाई के लिए तैयार हो जाय तो उसमें 25-30 किग्रा. सुपर फॉस्फेट, 20 किग्रा. राख, 4 किग्रा. पोटेशियम सल्फेट, 100 ग्राम सोडियम मोलिब्डेट और 1 किग्रा. फ्यूराडॉन प्रति एकड़ धान की रोपाई से 20 दिन पहले प्रयोग करते हैं। उपरोक्त उर्वरक के स्थान पर 2000 किग्रा. गाय के गोबर के साथ 1 किग्रा. फ्यूराडॉन धान की रोपाई से पूर्व डाला जा सकता है। उसके बाद मृद सतह पर 300 किग्रा. **अज़ोला** फैलाकर 5-10 सेमी. पानी लगा देते हैं। इस प्रकार 20 दिनों में 300 किग्रा. **अज़ोला** से 4000 से 5000 किग्रा. **अज़ोला** संवर्ध का उत्पादन होता है।

अज़ोला प्रयोग करने की विधि

सर्वप्रथम जिस खेत में **अज़ोला** प्रयोग करना हो उसे अच्छी तरह तैयार कर उसमें नाइट्रोजन की संस्तुत मात्रा का 25% फॉस्फोरस एवं पोटाश की पूरी मात्रा डालकर मिला लेना चाहिए, तदुपरान्त **अज़ोला** संवर्ध को मिलाते हैं। मिलाने के लिए श्रमिकों द्वारा फावड़े या किसी अन्य यंत्र से (हल, कल्टीवेटर) यथाशीघ्र मिलवा देते हैं। संवर्ध मिलाने के तुरन्त बाद पौध की रोपाई कर दी जाती है। **अज़ोला** प्रयोग के 2 सप्ताह बाद सतह पर उग आती है जिसकी उपज 3000 किग्रा. प्रति एकड़ होती है। इसे मृदा में मिला देते हैं। नाइट्रोजन की 25% संस्तुत मात्रा दो बार में, एक धान रोपाई के 3 सप्ताह बाद तथा दूसरा पुष्प धारण करने के 25 दिन पहले प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य संस्तुत सस्य क्रियाओं को भी अपना सकते हैं।

अज़ोला का उपयोग

दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में कृषि में **अज़ोला** का प्रयोग बहुत दिनों से होता आ रहा है। वियतनाम एवं चीन में **अ. पिन्नेटा** का प्रयोग हरी खाद के रूप में सदियों से हो रहा है। केवल वियतनाम में ही धान के लिए 400,00 हेक्टेयर खाली खेतों में **अज़ोला** की फ़सल ली जाती है और प्रति हेक्टेयर 5-6 मी. टन धान की उपज बिना नाइट्रोजनी उर्वरक डाले ली जाती है। **अज़ोला** की दो फ़सलें धान लगाने के पहले से लेकर धान के रोपण तक ले ली जाती हैं। इसी प्रकार चीन में भी **अज़ोला** का धान की खेती में पिछली दो सदियों से प्रयोग होता आ रहा है। चीन में **अ. पिन्नेटा** की चार उपकिस्में प्रयोग की जाती हैं, जिनके नाम हैं– लाल **अज़ोला**, हरा **अज़ोला**, सफेद-लाल **अज़ोला** और वियतनाम **अज़ोला** साधारणतया **अज़ोला** का उपयोग निम्नवत् करते हैं–

(1) धान की खड़ी फ़सल में अज़ोला का निवेशन

धान के पौध-रोपण के 1 या 2 सप्ताह के बाद खेत में **अज़ोला** का निवेशन कर दिया जाता है और जब **अज़ोला** की परत पानी पर बन जाय तब खेत का पानी निकाल कर **अज़ोला** को मृदा में मिला देते हैं। इसके बाद फिर खेत में पानी भर देते हैं जिससे **अज़ोला** के बीजाणु अंकुरित होकर उसकी दूसरी फ़सल दे देते हैं। समस्त निवेशन विधि ऊपर वर्णित हैं।

(2) अज़ोला की हरी खाद

अज़ोला की खेती से मिट्टी को 5000-6000 किग्रा. कार्बनिक पदार्थ प्राप्त होता है, जिससे 20-25 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर उपलब्ध होती है। **अज़ोला** उगाने के साथ-साथ उस खेत में अगर एफ.वाई.एम. (F.Y.M.) या हरी खाद देते हैं, तो धान की 20-30% अतिरिक्त उपज प्राप्त होती है। **मूरे** (1969) के अनुसार **अज़ोला** की हरी खाद का प्रयोग धान की फ़सल में करने से उपज में 14-40% वृद्धि पाई गई है। सारणी-1 में अज़ोला का संघटन दर्शाया गया है। **अज़ोला** में 13-23.4% प्रोटीन होता है। **अ.फिलिकुलॉइड्स** में 9.3% लिगनिन और 15.2% सेलुलोज़ होता है और **अ.पिन्नेटा** में 9.7-23.8% राख, 4.42%-6.30% वसा तथा 6.38% मंड होता है। शोध कार्यों से पता लगा है कि मृदा में समाविष्ट **अज़ोला** की नाइट्रोजन मृदा में धीरे-धीरे निर्मुक्त होती है।

सारणी-1 अज़ोला का संघटन (शुष्क भार पर आधारित)

तत्व	प्रतिशत अंश
नाइट्रोजन	4.60
फॉस्फोरस	0.50-0.80
मैग्नीशियम	0.45
कैल्शियम	0.35-0.90
पोटैशियम	2.00-6.00
मैंगनीज	0.11-0.16
मंड	6.5
अपरिष्कृत वसा	5.0
अपरिष्कृत रेशा	9.0
अपरिष्कृत प्रोटीन	24-26

(iii) अज़ोला खर पतवार निरोधक के रूप में

अधिकांश कृषक इसे खरपतवार ही जानते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है, बल्कि यह खरपतवार को रोकने का बहुत ही अच्छा साधन है। अधिक तेज़ी से वृद्धि करने की वजह से और पानी की सतह पर मोटी परत बना लेने के कारण **अज़ोला** धान के खेत में होने वाले खर पतवारों को बढ़ने नहीं देता और इसका

लाभ कभी-कभी तो नाइट्रोजन यौगिकीकरण के लाभ से भी अधिक होता है।

(iv) मछलियों का भोजन

ग्रास कार्प (**Ctenopharyngodon idella**) वनस्पतियों को खाने वाली मछली है।

(v) मच्छरों का नियंत्रण

जब पानी पर **अज़ोला** पूरी तरह फैलकर परत बना लेता है तो मच्छरों को अंडे देने के लिए स्थान नहीं मिल पाता। इससे मलेरिया नहीं फैलता और पर्यावरण भी शुद्ध रहता है।

(vi) चारा

प्रोटीन अंश के आधार पर **अज़ोला** को जानवरों के लिए चारे के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त **अज़ोला** के और भी कई प्रयोग है जैसे कि पानी को साफ़ करने के लिए **अज़ोला** का उपयोग किया जाता है इस प्रकार भविष्य में चीन एवं भारत जैसे कुछेक देशों के लिए खाद्यान्न की समस्या हल करने के लिए भी **अज़ोला** अत्यंत उपयोगी है।

□□□

सत्कर्मों का मुझे सुचालक बनाइये

□ *डॉ० दिनेश मणि*
संयुक्त मन्त्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग,
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

सारे दुख दर्द घोल सकूँ मैं अपने में ही,
ऐसा प्रभु मुझे सान्द्र विलायक बनाइये।
स्व से दूर, राष्ट्र हित में भी कुछ कर सकूं मैं,
ऐसा ही मानव मुझे लायक बनाइये।

दर्दीले गीतों को भी मैं दे सकूँ नव स्वर,
ऐसा ही हे ईश मुझे गायक बनाइये।
कुचालक बनूँ मैं सारे दुष्कर्मों का,
सत्कर्मों का मुझे सुचालक बनाइये।

पौधों के विविध नये उपयोग

□ डॉ० अरुण आर्य
प्रवक्ता वनस्पति विज्ञान विभाग,
विज्ञान संकाय, महाराजा सयाजीराव
विश्वविद्यालय, वरोडा, वडोदरा-39002 (गुजरात)

बढ़ते प्रदूषण का हलाहल
कंठ में अपने समेटे।
जी रहे किसके लिये ये
कुछ विचारें, कुछ तो सोचें॥
अस्तित्व खुद का ही बचाने
बंधु ! आओ वृक्ष रोपें॥

-भ. प्र. उनियाल

प्रकृति ने जीवनयापन के लिए भरपूर साधन दिये हैं। पृथ्वी के गर्भ में यदि खनिज भण्डार हैं तो सीने पर हरे-भरे वन। भारतीय संस्कृति प्राचीन समय से ही पादप प्रधान रही है, जिसके कारण आज भी करोड़ों करोड़ भारतवासी पौधों में अलग-अलग देवताओं का वास मानकर वृक्षारोपण एवं पूजा करते आ रहे हैं। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ **ऋग्वेद्** में स्तुति का विधान वृक्षों से किया गया है। **भगवान् बुद्ध, महाकवि कालिदास** आदि ने भी वृक्षों की महत्ता पर प्रकाश डाला था। **सम्राट अशोक** ने तो वृक्षारोपण पर विशेष बल दिया।

वर्तमान् समय में अंतर्राष्ट्रीय पारिस्थितिकी असंतुलन का आतंक पूरे विश्व में व्याप्त है। यह असंतुलन वनों की अंधाधुंध कटाई, बढ़ते अनियंत्रित उद्योगीकरण एवं नाभिकीय ऊर्जा केन्द्रों से रिसाव की घटनाओं के रूप में वैज्ञानिक समाज को चिंतित कर रहा है।

आज के बदलते परिवेश में दिन रात चौगुनी बढ़ती जनसंख्या की भोजन आपूर्ति के वैकल्पिक साधन ढूंढना आवश्यक हो गया है। अब अपारम्परिक स्रोतों जैसे काई (Algae) एवं कुकुरमुत्तों (Mushrooms) को भोजन का प्रमुख अंग बनाया जा रहा है। अपुष्पी पौधों का प्रयोग खाद्य रूप में एवं दवाइयों के लिए किया जाने लगा है।

पौधों के लगाने से वायु शुद्ध होती है। वातावरण सुन्दर बनता है। हमें तरह-तरह की वस्तुयें खाने के लिए प्राप्त होती हैं, दवाइयाँ मिलती हैं, मसाले प्राप्त होते हैं, वनों से पर्याप्त वर्षा होती है। पेड़ों की बाड़ लगाने से भूमि का अपरदन (erosion) रुकता है। हम अगले कुछ पृष्ठों में पौधों से होने वाले नये उपयोगों की जानकारी दे रहे हैं। सबसे अहम् बात यह है कि हम ज्यादा से ज्यादा वृक्षों को उगायें जिससे वर्तमान् मनुष्य के तनावपूर्ण क्षण कुछ सीमा तक आनन्द के क्षणों में परिवर्तित हो सकेंगे, जो कि जन मानस के रहन-सहन के तरीके और वातावरण में फेर-बदल लायेंगे और अंततः एक नवीन क्रियात्मक वातावरण का निर्माण हो सकेगा।

1. आलू से लैक्टिक अम्ल

आलू का प्रयोग एक कम कीमत के कार्बोहाइड्रेट (लैक्टिक अम्ल)– स्रोत के रूप में किया जा सकता है। यह भोज्य पदार्थों, रसायनों एवं दवाओं के उत्पादन में प्रचुरता से प्रयुक्त होता है।

लैक्टिक अम्ल शर्करा के किण्वन (fermentation) से बनता है। लेकिन इसे बनाने के तरीके में कलकत्ता के जादवपुर

विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों को सफलता मिली। उन्होंने आलू को रसायनों द्वारा और भी मीठा किया और फिर जीवाणु-किण्वन किया गया। प्रथम-चरण में कवक **एसपरजिलस ओराइज़ी** (Aspergillus oryzae) द्वारा प्राप्त किण्वकों (enzymes) द्वारा आलू के मण्ड (starch) को शर्करा में परिवर्तित किया गया और दो प्रमुख किण्वक थे–**एल्फा एमाइलेज़** और **एमाइलोग्लूकोसाइडेज़**। द्वितीय चरण में जीवाणु **लैक्टोबैसिलस डेलबरेकाई (Lactobacillus delburechkii)** का प्रयोग किया गया।

'इण्डियन जर्नल ऑव एक्सपेरिमेन्टल बायलॉजी' में वर्णित इस खोज में कहा गया है कि आलू के 75% भाग को ग्लूकोज़ में परिवर्तित किया गया और ग्लूकोज के 69% और मण्ड के 57.7% भाग को लैक्टिक अम्ल में परिवर्तित किया जा सका। **डॉ०** रे एवं उनके सहयोगियों के अनुसार शर्करा (sucrose) का प्रयोग किण्वन के लिए किया जाता है, जिसमें अनेक नाइट्रोजनयुक्त यौगिकों, वृद्धिकारकों और खनिज लवणों का मिलाया जाना बहुत आवश्यक है। इस विधि से उत्पादन की कीमत में लगभग ढाईगुना की कमी होगी।

2. इन्सुलिन की गोलियां करेले से

डॉ० पुष्पा खन्ना के अनुसार इन्सुलिन, जो कि अभी तक इंजेक्शनों के रूप में प्राप्त है, शीघ्र ही गोलियों के रूप में उपलब्ध होगी। इसे करेले (Bitter guard-Mormordica charantia) से प्राप्त किया जायेगा। पुराने आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इसे रक्त से शर्करा कम करने वाला शाक बताया गया है।

डॉ० खन्ना ने 10 वर्ष पूर्व इसमें से पालीपेप्टाइड-पी (Polypeptide-P) अलग किया, जिसमें 17 अमीनो अम्ल हैं और एक अम्ल 'मेथियोनीन' किसी भी जानवर एवं मनुष्य के इन्सुलिन में प्राप्त नहीं है। इस नई टिकिया का प्रयोग जयपुर के विभिन्न अस्पताओं में किया गया, और उत्साहवर्धक नतीजे सामने आये हैं। ओहायो मेडिकल स्कूल (संयुक्त राज्य अमेरिका) ने भी मुँह से खाई जाने वाली इन्सुलिन (oral insulin) की खोज का दावा किया है। अभी तक यह दवा जानवरों के पैन्क्रियाज़ से अथवा **ई. कोलाई** नामक जीवाणु से प्राप्त किया जाता है। घर-घर में उपलब्ध करेला अब इसका नया एवं सस्ता स्रोत होगा।

3. वृक्षों से पेट्रोलियम पदार्थ (पेट्रोरसायन)

कुछ पेड़ों की वृद्धि हमारे लिए एक समस्या बन जाती है। इन्हें हम खरपतवार (Weeds) कहते हैं। लेकिन जब इन्हीं खर-पतवारों का उपयोग किसी लाभ के लिए किया जाये तो पेड़ क्या कहलायेंगे–वरदान।

कांग्रेस घास (**Parthenium hysterophorous**) और पानी में छा जाने वाली जलकुम्भी या वाटर हैसिन्थ (Water hyacinth, **Eichhornia crassipes**) को जैविकों की मदद से लाभकारी पेट्रोकेमिकल्स में बदलने का काम किया है, 'राष्ट्रीय पर्यावरण अभियान्त्रिकी शोध संस्थान 'नीरी' (NEERI), नागपुर ने।

इन पेड़ों में प्रचुर मात्रा में सेल्यूलोज़ होता है। इन्हें अकेले ही या केले के तनों के साथ पहले ग्लूकोज़ (Glucose) में बदला जाता है, फिर किण्वन के द्वारा-प्रोपेलीन, एसीटोन, इथेनॉल, 2-3 ब्यूटेनडायोल आदि पदार्थों का निर्माण होता है, जो सभी पेट्रोलियम पदार्थ हैं।

इसके अतिरिक्त ये वीड्स (खर-पतवार) हमें महत्वपूर्ण सेल्यूलेज़ इन्जाइम देते हैं। नीरी (NEERI) सेल्यूलोज़ को तरल ग्लूकोज़ में परिवर्तित करने का विश्व में प्रमुख केन्द्र है और फिर इस तरल ग्लूकोज़ से पेट्रोकेमिकल्स का उत्पादन हो सकेगा।

कांग्रेस घास हर जगह उग सकती है, और दूसरी वनस्पतियों की वृद्धि को रोकती है। इसके द्वारा एलर्जी दमा एवं त्वचा के रोग हो सकते हैं। इसी प्रकार पानी में तेज़ी से वृद्धि करने वाली जलकुम्भी (आइकॉर्नियां) नदियों एवं झीलों के पानी को न केवल गन्दा करती हैं, वरन् नावों आदि के चलने में अवरोध उत्पन्न करती है।

सर्वप्रथम् इन दोनों पौधों के मिश्रण को क्षार के साथ मिलाकर 121^{0} से. पर गर्म किया जाता है, जिससे पौधों में पाया जाने वाला लिग्निन अलग हो जाता है। इसको एन-ब्यूटेनॉल के साथ सेन्ट्रीफ़्यूज करने पर 2-3 ब्यूटेनडायाल अलग होता है।

इन पादपों के मिश्रण से सेल्यूलोज़ प्राप्त करने के लिए कवक **ट्राइकोडरमा रीसाई (Trichoderma reesi)** के साथ 9 दिनों तक किण्वन किया जाता है। यह कवक कोई बीमारी

नहीं उत्पन्न करता। बचा हुआ अपशिष्ट (residual biomass) जैविकों द्वारा छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ दिया जाता है। क्षार के साथ क्रिया होने पर प्राप्त लिग्निन को वैनिलिन और कार्बोक्सलिक अम्लों में बदला जा सकता है।

4. लाख से टरपीन अम्ल

लाख शोध संस्थान, रांची के वैज्ञानिकों ने लाख से एक टरपीन यौगिक-जैलेरिक अम्ल खोजा है, जो कि अनेक औद्योगिक यौगिकों यथा डाइकीटोनस, डाइलैक्टोन्स और ट्राइस्टर्स के उत्पादन में सहायक है।

लाख एक ज्वलनशील रेज़िन है, जो कि लाख के कीड़े **(Laccifera lecca)** द्वारा पेड़ों की शाखाओं में उत्पन्न किया जाता है। यह पानी में अघुलनशील परन्तु एल्कोहाल में विलेय है। रांची के वैज्ञानिकों के अनुसार लाख से 12% जैलेरिक अम्ल प्राप्त होता है, जो कि अन्य विधिओं से प्राप्त अम्ल से लगभग 5 गुना अधिक है। इस अम्ल की प्राप्ति से बचे हुये पदार्थ से एल्यूरिटिक अम्ल बनाया जाता है, जो सुगन्धयुक्त पदार्थों के बनाने में सहायता देता है।

5. सबाई घास से धागा बनाने की 'मेराडो मशीन'

मेराडो यूनीवर्सल फाइबर यार्न मशीन के बनने से उड़ीसा के लोगों को 'सबाई घास' को प्रचलित तरीकों से. धागे में बदलने की आवश्यकता नहीं होगी।

यह सबाई घास राज्य के 32,000 एकड़ में उगाई जाती है। इसे चटाई, डलिया, मोढ़ा और चारपाई बनाने में प्रयुक्त किया जाता है। इस उद्योग में मयूरभंज जिले के पिछड़े कबीलों के 100,000 लोग लगे हुये हैं। यह सम्पूर्ण उद्योग लगभग 600 लाख रूपये का है।

इस मशीन के बनने से पूर्व सबाई घास को जो कि 1.2 से 1.4 मीटर लम्बे धागे उत्पन्न करती है, पहले हाथों से बटा जाता है फिर पेड़ों से बाँधकर उनमें पालिश की जाती है। यह मशीन 3 मि. मी. व्यास के 2 किग्रा. धागे को प्रति घंटे बना सकती है। इसकी अनुमानित लागत 6000 रू० है।

6. बहुउपयोगी झाऊ

केजुराइनेसी कुल के वृक्ष झाऊ या केजुराइना **(Casuarina)** की लगभग 80 प्रजातियाँ हैं जो कि झाड़ियों (shrubs) वृक्षों (trees) के रूप में पाई जाती हैं। **केजुराइना इक्वीसेटिफोलिया (C. equisetifolia)** बालू में उगने वाला समुद्री किनारे का खूबसूरती प्रदान करने वाला वृक्ष है। इस वृक्ष से विश्व की सबसे उच्च किस्म की जलाऊ लकड़ी प्राप्त होती है। यह जल्दी से टूटती है और नम होने पर भी आग पकड़ सकती है। यह घरेलू एवं औद्योगिक ईंधन के रूप में प्रचुरता से प्रयुक्त की जाती है। विद्युतीकरण से पूर्व इसे आस्ट्रेलिया में बेकरियों में आग जलाने के लिए प्रयोग किया जाता था।

इस लकड़ी से कोयला बनाया जा सकता है। यह इमारती लकड़ी नहीं है क्योंकि यह चिटकती है, और इसमें दरारें पड़ जाती हैं। लेकिन यह अन्य उपयोगों जैसे औज़ारों के हत्थे, पियानो की टाँगें बनाने के काम आती हैं। इसे चार दीवारी के खम्भों, नाव के पतवार बनाने में प्रयुक्त किया जाता है।

हवा के तीव्र प्रवाह को रोकने में इसकी बाड़ सहायक होती है। यह भूमि के अपरदन (erosion) को रोकने में सहायता करता है, लवण एवं सूखे के प्रभाव को समाप्त करता है, अत्यधिक गर्मी को सहन कर सकता है, और साथ ही प्रदूषण को दूर करता है।

कम उपजाऊ भूमि में इसके वृद्धि करने का प्रमुख कारण है इसकी जड़ों के साथ एक **एक्टिनोमाइसीट-फ्रैंकिया (Frankia)** की सहजीविता (Symbiosis), जिससे यह सीधे वातावरण से नाइट्रोजन प्राप्त करने में सक्षम है। **फ्रैंकिया** पेड़ों की बढ़ती हुयी जड़ों के मूलरोमों को भेद कर उनमें प्रवेश करता है। इससे पौधों की जड़ों में गाँठें पड़ जाती हैं और नाइट्रोजन प्राप्त करने लगती हैं जैसे कि दालवाली फसलों में जीवाणु राइज़ोबियम करता है। इसके कारण वृक्षों की मृत्यु के बाद ज़मीन उपजाऊ हो जाती है। इनकी जड़ों में माइकोराइज़ा (mycorrhiza) नामसे जाने वाले कवक का समावेश रहता है, जिससे वे फॉसफोरस तत्वों का ग्रहण तेज़ी से कर सकते हैं।

7. जूट कैडी से जैव गैस उत्पादन

जूट कैडी, जूट मिल के निकले हुये व्यर्थ छोटे तंतु हैं, जो कि जूट मिल में इकट्ठा होते रहते हैं। इन्हें फरमेन्ट करके जैव

गैस उत्पन्न की जा सकती है। जूट कैडी एक प्रकार का लिग्नोसेल्यूलोजिक व्यर्थ है, जिसे 55 से 65 प्रतिशत मीथेन वाली जैव गैस में परिवर्तित किया जा सकता है।

कलकत्ता स्थित जूट टेक्नॉलाजिकल शोध प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों के अनुसार जूट मिल में प्रयोग में लाये जाने वाले धागे का 2.5 प्रतिशत भाग जूट कैडी होता है, जोकि या तो बेकार चला जाता है या जला दिया जाता है मिलों में उत्पन्न 280 लाख क्विंटल पदार्थ व्यर्थ पदार्थ ही है और प्रदूषण का प्रमुख कारण है।

कैडी को अकेले व अन्य पदार्थों जैसे क्षार पदार्थ एवं जानवरों के गोबर के साथ प्रयोग किया गया। साधारण कैडी से 20 दिन में और क्षार से क्रिया कराने पर 15 दिन में गैस बनने लगी। जैव गैस निकलने के बाद बचे हुये अपशिष्ट (Waste) को खेतों के लिये अच्छी खाद (Farmyard manure) के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

8. वृक्ष जो सुन्दरता बढ़ाने के साथ उपयोगी भी हैं–

अमलतास (Cassia fistula)

यह एक पर्णपाती मध्यम ऊँचाई वाला वृक्ष है, जो 1200 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसके पुष्प पीले रंग के व पत्तियाँ गोलाई लिये लम्बी होती हैं। इसकी लकड़ी हल्का या इमारती सामान बनाने के काम आती है। कुछ आदिवासी जातियाँ इसकी फलियों का सब्ज़ी के लिये भी उपयोग करती हैं। पत्तियों को छाछ के साथ पीस कर दाद पर लगाने से लाभ होता है। फलियों का गुछा कब्ज़ दूर करने में सहायक होता है।

कचनार (Bauhinia variegata)

इसके फूल सुगंधित एवं फरवरी-अप्रैल में पुष्पित होते हैं। चार पंखुडियाँ सफेद व एक लाल या बैगनी होती है। फूलों की कलियाँ सब्ज़ी के रूप में बाज़ार में बिकती देखी जा सकती हैं। पत्तियां पशुओं के लिए अच्छा चारा समझी जाती हैं। इस वृक्ष की छाल चर्म रोगों व फोड़ों के उपचार में प्रयुक्त होती है।

दाड़िम या अनार (Punica granatum)

यह एक झाड़ी नुमा पेड़ है, जिसे कलम द्वारा उगाया जा सकता है। इसका उपयोग अधिकतर पाचन संस्थान को ठण्डा रखने के लिए किया जाता है। छाती की जलन आदि में प्रयुक्त होने वाली औषधियों में इसका उपयोग किया जाता है। अनार का सख्त छिलका पेट के कई विकारों में प्रयुक्त हाने वाली औषधियाँ बनाने में काम आता है। इसकी कलियां हृदय रोगों में दी जाने वाली औषधियां बनाने में भी प्रयुक्त होती हैं। पेड़ की छाल को पानी में उबाल कर उस पानी को पिलाने से पेट के कीड़े निकल जाते हैं। इसके फूलों से लाल रंग प्राप्त होता है।

हरसिंगार (Nyctanthes arbortristis)

इसको 'शेफाली' या 'पारिजात' नाम से भी जाना जाता है। इसको अधिकतर फूलों की सुगन्ध तथा सुन्दरता के लिए लगाया जाता है। फूलों से प्राप्त रंग रंगने में व केसर के स्थान पर प्रयोग में लाया जाता है। इसकी पत्तियों का रस कीड़ों (गोल कृमि या फीता कृमि) को निकालने के लिए प्रयुक्त होता है। बीजों को पीस कर सिर पर लगाने से रूसी दूर हो जाती है। तो आइये क्यों न हम इन वृक्षों को घर-आंगन में लगायें।

□□□

नये बाग़ की देखभाल
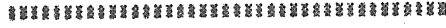
□ डॉ० प्रेमचन्द्र मिश्र तथा रण विजय तिवारी
मृदा रसायनविद्, मोती लाल नेहरू फ़ारमर्स ट्रेनिंग
इन्स्टीट्यूट फूलपुर, इलाहाबाद (उ. प्र.)
शोध छात्र, इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट,
इलाहाबाद (उ. प्र.)

फलवृक्ष की पौध को बाग़ में लगाने के पश्चात् 4-5 वर्षों तक उनकी विशेष देखभाल की आवश्यकता पड़ती है, जिससे उनकी वृद्धि सुचारु रूप से हो सके और उन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों से बचाया जा सके। विशेषतया प्रथम वर्ष में पौधों की विशेष देखभाल करनी पड़ती है। अतः नये फल वृक्षों की उचित वृद्धि एवं विकास के लिए सिंचाई, उर्वरक व्यवस्था, खरपतवार नियंत्रण, फसल सुरक्षा आदि क्रियाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

नये पौधों को बाग़ में लगाने के तुरन्त बाद पानी देना चाहिए। मृदा की किस्म एवं पौधों की आवश्यकतानुसार सिंचाई की मात्रा निर्धारित करना चाहिए। सिंचाई के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि पानी न तो बहुत अधिक पड़े न बहुत कम। आवश्यकता से अधिक या कम पानी इन पौधों के लिए हानिकारक होता है। सिंचाई शाम के समय ही करनी चाहिए। सिंचाई सारणी-1 के अनुसार की जा सकती है।

सारणी-1, नये रोपित फल वृक्षों हेतु सिंचाई-आवश्यकता

फल वृक्ष	गर्मियों में (दिन)	जाड़े मे (दिन)
आम	5-8	15-20
नींबू वर्गीय फल	5-8	12-15
अमरूद	7	15-20
अंगूर	10	15-20
केला	8	15-20
आँवला	10	20-25
पपीता	7-8	15-17
अनन्नास	7-10	15-20
कटहल	10	20-25

बरसात के दिनों में या सिंचाई की अधिकता से उद्यान में आवश्यकता से अधिक पानी भर जाता है, जिससे फलवृक्षों में तना सड़न (रैडरॉट) नामक बीमारी पैदा हो जाती है। अतः बाग़ में जल-निकास हेतु उचित व्यवस्था सुनिश्चित कर लेनी चाहिए।

बाग़ में समय-समय पर आवश्यकतानुसार निराई-गुड़ाई करते रहना चाहिए। इसके लिए वर्ष में देशी हल से एक-दो हल्की जुताई कर देनी चाहिए। नये बाग़ में खरपतवार अधिक हो जाने पर रोपित वृक्षों की बढ़ोत्तरी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। प्रयोगों के आधार पर यह देखा गया है कि नींबू एवं अमरूद

के बाग़ में आवश्यकतानुसार चौड़ी पत्ती वाले खरपतवारों को नष्ट करने के लिए 2-4 डी तथा घास एवं अन्य खरपतवारों के लिए 2-4-5-टी रसायनों का प्रयोग किया जा सकता है। जहाँ तक संभव हो खरपतवारनाशी रसायनों के प्रयोग से बचना चाहिए। खरपतवार निकालने के लिए निराई-गुड़ाई करना विशेष लाभकारी पाया गया है।

प्रारम्भिक अवस्था में रोपित पौधों में जड़ें विकसित नहीं होती हैं अतः नये पौधों को उनकी आवश्यकतानुसार वर्ष में एक बार खाद एवं उर्वरक देना आवश्यक होता है। नाइट्रोजन की आपूर्ति के लिए सुविधानुसार यूरिया या अमोनियम सल्फ़ेट एवं फ़ॉस्फ़ोरस की आपूर्ति हेतु सुपरफ़ॉस्फ़ेट तथा पोटेशियम की आपूर्ति हेतु म्यूरेट ऑव पोटाश अथवा मिश्रित उर्वरकों का प्रयोग भी किया जा सकता है। गोबर की खाद या कम्पोस्ट, फ़ॉस्फ़ोरस एवं पोटाश की पूरी मात्रा तथा नाइट्रोजन की आधी मात्रा वर्षा प्रारम्भ होने पर प्रतिवर्ष पौधों के थालों में देनी चाहिए। नाइट्रोजन की शेष मात्रा फरवरी-मार्च में देनी चाहिए। खाद एवं उर्वरक वृक्ष के फैलाव के अनुसार तने से दूर थाला बनाकर देना चाहिए। खाद एवं उर्वरक की मात्रा का निर्धारण वृक्ष की उम्र के अनुसार किया जाता है।

प्रथम वर्ष में जितनी खाद दी जाती है, उसमें छठें वर्ष तक लगातार वृद्धि करनी पड़ती है। अंगूर में तीसरे वर्ष के बाद, तथा बेर, फालसा एवं शरीफे में पाँचवें वर्ष बाद तथा आँवले में आठवें वर्ष बाद खाद की मात्रा स्थिर हो जाती है।

सूक्ष्म तत्वों का छिड़काव

नये फलवृक्षों में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की कमी के कारण अनेक बीमारियाँ लग जाती हैं, साथ-साथ पत्तियाँ पीली पड़कर गिरने लगती हैं, पौधे की वृद्धि रुक जाती है "उल्टा सूखा रोग" (डाई बैक) नामक बीमारी हो जाती है। अतः उपरोक्त लक्षण प्रकट होते ही ज़िंक सल्फ़ेट 0.4-0.60%, फ़ेरस सल्फ़ेट 0.25%, कॉपर सल्फ़ेट 0.25-0.50% बोरिक एसिड 0.25%, एवं मैंगनीज़ सल्फ़ेट 0.40% का छिड़काव करना चाहिए।

अधिकांश नए रोपित फलवृक्षों को पाले एवं तेज़ धूप से बहुत जल्दी हानि होती है। आम, सेब, लीची, नीबू, अंगूर आदि के बाग थोड़ी सी लापरवाही के कारण नष्ट होते देखे गये हैं। अतः पाले से बचाव हेतु पहले से तैयारी रखनी चाहिए। इसके लिए बाग़ के चारों ओर वायु-रोधी वृक्षों को लगाना चाहिए। नये पौधों को तीन ओर से टट्टियों से ढँक देना चाहिए तथा पूरब की तरफ मुँह खुला रखना चाहिए, जिससे हवा एवं धूप पौधों को प्राप्त होती रहे। जब पाला पड़ने की सम्भावना हो तो शाम के समय पौधों की सिंचाई कर देनी चाहिए। नये फलवृक्षों को वांछित आकार प्रदान करने के लिए कटाई-छँटाई कर देनी चाहिए। ऐसा न करने से फलवृक्ष अनावश्यक रूप से वृद्धि करके जंगली पौधों जैसा रूप ग्रहण कर लेते हैं। फल वृक्षों में यह क्रिया करने से बहुत लाभ होता है।

बाग़ों में फ़सल सुरक्षा

नये पौधे सरलता से रोग तथा कीटाणुओं से ग्रसित हो जाते हैं अतः बाग़ की प्रारम्भिक अवस्था में रोग तथा कीट-नियंत्रण का विशेष महत्व है।

दीमक के नियंत्रण के लिए बी.एच.सी. (15%) या थीमेट 10-जी या फ्यूराडॉन 2जी 50 से 100 ग्राम प्रतिवृक्ष देना चाहिए।

गुजिया कीट (मिलीबग) से पौधों को बचाने के लिए फालीडॉल धूल तने के पास 200-400 ग्राम प्रति वृक्ष प्रयोग करना चाहिए। 400 गेज की पोलीथीन पट्टी जमीन से 2 फीट ऊपर तने के चारों ओर लपेट कर ग्रीस का लेप कर देने से कीट पौधे के तने पर चढ़ नहीं पाते। गर्मी में जुताई एवं गुड़ाई अवश्य करनी चाहिए जिससे गर्मी के प्रभाव से मिट्टी में उपस्थित कीटाणु-जीवाणु नष्ट हो जायें।

तना छेदक के प्रकोप से पौधों को बचाने के लिए छिद्र में पेट्रोल/मिट्टी का तेल सिरिंज से या रूई भिगो कर डाला जाता है और चिकनी मिट्टी से छेद को बन्द कर दिया जाता है। फोटॉक्सिन नाम की गोली छिद्रों में रखनी चाहिए जिससे तने के छिद्र में उपस्थित कीट नष्ट हो जाते हैं।

नये पौधों में कई तरह के रोग लग सकते हैं।

उल्टा सूखा रोग की रोकथाम के लिए ब्लाइटॉक्स 2 ग्राम दवा एक लीटर पानी में घोल कर छिड़काव करना चाहिए। इस रोग के लगने पर सूक्ष्म तत्वों का छिड़काव करने की संस्तुति भी की जाती है।

एन्थ्रेकनोज रोग के नियन्त्रण के लिए डाइथेन एम-45, 2 ग्राम दवा का 1 लीटर पानी में विलयन बना कर छिड़काव करना चाहिए।

फ़ोमाब्लाइट को नियंत्रित करने के लिए ब्लाइटॉक्स 2-3 ग्राम दवा 1 लीटर पानी में घोल बना कर छिड़काव करना चाहिए।

प्राय: ऐसा देखा जाता है कि पौधे छोटी अवस्था में क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। कभी-कभी बीच में टूट जाते हैं। यदि ऐसी स्थिति आ जाय तो उन्हें ब्रिजग्रैफ्टिंग कर के ठीक कर देना चाहिए। इस कार्य के लिए विषय-विशेषज्ञ की मदद लेनी चाहिए अथवा ज़िला उद्यान अधिकारी से सम्पर्क करना चाहिए। ऐसा करके पुन: पौध-रोपण से बचा जा सकता है।

पूरक वृक्ष (फ़िलर्स)

ऐसे फलवृक्ष जिन्हें बाग़ में बीच की फ़सल के रूप में उगाते हैं, पूरक वृक्ष (फिलर्स) कहलाते हैं। बाग़ लगाने की प्रारम्भिक अवस्था में जब तक मुख्य फल वृक्ष फलने न लगें कुछ अस्थाई फलवृक्षों को लगा देना चाहिए, जिससे कि फल उत्पादक को अतिरिक्त आय मिल सके, एवं भूमि का समुचित उपयोग भी हो। पूरक वृक्ष के रूप में आम के साथ अमरूद, नीबू, अनार; कटहल के साथ नीबू, अनार; अमरूद के साथ पपीता तथा आवश्यकता एवं सुविधानुसार पूरक वृक्ष के रूप में पपीता, अनन्नास, स्ट्राबेरी, फालसा, करौंदा आदि को लगाया जा सकता है। जब मुख्य फलवृक्षों से पर्याप्त उत्पादन प्राप्त होने लगे तो पूरक वृक्षों को काट देना चाहिए। दोनों में भोजन के लिए प्रतिस्पर्धा उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिए।

नवीन रोपित उद्यानों में वृक्षों के फलने से पूर्व खाली पड़ी हुई भूमि पर सब्ज़ियाँ तथा दलहनी फसलें उगाई जा सकती हैं। फलवृक्षों जैसे-आम, कटहल, आँवला, अमरूद आदि फलने में अधिक समय लेते हैं। अत: उद्यानों से कोई आय नहीं हो पाती है। उद्यानों से कुछ न कुछ आय होती रहे, इस उद्देश्य हेतु पौधों के अलावा जो भूमि रिक्त है, वहाँ पर सब्ज़ियाँ या अन्य फ़सलें उगायी जा सकती हैं। यथा–

बन्दगोभी, धनिया, गाजर, आलू, मूली, शलजम, भिन्डी, टमाटर, भिण्डी या फिर मटर, लोबिया, मूँग, उरद, लोबिया, सेम; ग्वार, सोयाबीन जैसी दलहनी फसलें।

नये रोपित वृक्ष नवजात शिशु की तरह होते हैं। भोजन व्यवस्था से लेकर, लालन-पालन तथा सुरक्षा उपाय में जरा सी असावधानी सम्पूर्ण बाग़ का सफाया कर सकती है। अत: नये बागों को बच्चों की तरह ही पालें।

□□□
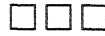
2 स्मृति व्याख्यान सम्पन्न

परिषद् द्वारा आयोजित व्याख्यानमालाओं में से 'डॉ. रामदास गौड़ स्मृति व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत् रोहतक के प्रसिद्ध चिकित्सक **डॉ. नन्दकिशोर वर्मा** ने "कैंसर : इपीडिमियोलॉजी-आधुनिक प्रगति एवं रोकथाम" विषय पर 17 अगस्त, 1994 को अत्यंत रोचक, ज्ञानवर्धक व्याख्यान दिया। इस समारोह के अध्यक्ष थे **डॉ. बलवीर शरण अग्रवाल,** सम्पादक, भारतीय औद्योगिक अनुसंधान पत्रिका, (दिल्ली)।

"डॉ. रत्नकुमारी स्मृति व्याख्यानमाला" के अंतर्गत् 4 सितम्बर 1994 को फ़ैज़ाबाद की विदुषी **डॉ. सुधारानी उपाध्याय,** विज्ञान, परिसर काके बाबू की कोठी, देवकाली मार्ग, फ़ैज़ाबाद ने "चरक कालीन चिकित्सा जगत् एवं समाज पर चरक संहिता का प्रभाव" विषय पर रोचक एवं विद्वतापूर्ण व्याख्यान दिया।

ताकि विज्ञान जन-जन में छा जाये

□ *मनोज कुमार पटैरिया*
वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी,
राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्,
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, नया महरौली मार्ग,
नई दिल्ली - 110016.

विभिन्न संचार माध्यमों के द्वारा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का प्रचार, प्रसार और लोकप्रियकरण करना राविप्रोसंप की प्रमुख गतिविधियों में से एक है। संचार माध्यमों में शामिल हैं– समाचार पत्र, पत्रिकाएं, आकाशवाणी दूरदर्शन, लोक-कला माध्यम और सीधे संपर्क माध्यम आदि। विज्ञान संचार के लिए इन महत्वपूर्ण क्षमतावान संसाधनों का इस्तेमाल करते हुए राविप्रोसंप का यह प्रयास रहा है कि ऐसे उपाय खोजे जायें, ताकि संचार माध्यमों में विज्ञान पर ज्यादा से ज्यादा सामग्री प्रकाशित/प्रसारित हो। हमने यह पाया है कि विशेषकर क्षेत्रीय भाषाओं में विज्ञान लेखकों की संख्या पर्याप्त नहीं कही जा सकती। हालाँकि ऐसा प्रतीत होता है कि आज समाचार पत्र-पत्रिकाएं विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विभिन्न पहलुओं पर विविधतापूर्ण सामग्री प्रकाशित करना चाहती हैं, किन्तु ऐसे उपयुक्त लेखकों की वर्तमान कमी को देखते हुए यह संभव नहीं लगता कि समाचार पत्र पत्रिकाओं की इस माँग को पूरा किया जा सके और नियमित रूप से प्रामाणिक और गुणवत्ता की दृष्टि से वांछित सामग्री संचार माध्यम को उपलब्ध करायी जा सके।

क्षमतावान लेखकों को प्रोत्साहन

इन सब बातों को मद्देनजर रखते हुए हमने यह अनुभव किया है कि हमारे देश में हमारी अपनी भाषाओं में अच्छे लेखकों की कमी नहीं है। दरअसल हमने पाया है कि हमारे यहां ग्रामीण और दूरदराज के इलाकों में ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें ऐसी प्रतिभा और अभिरुचि विद्यमान है जिसके द्वारा वे बढ़िया कहानियां, नाटक, कविताएं, आलेख आदि कहीं बेहतर ढंग से तैयार कर सकते हैं। लेकिन यह विडंबना ही कही जाएगी कि इसके बावजूद उपयुक्त विज्ञान लेखकों की माँग पूरी नहीं हो पाई है। इस कमी को पाटने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि ऐसे क्षमतावान लेखकों को पहचान कर उनको प्रोत्साहित किया जाए और उनकी दक्षता को विज्ञान लेखन की ओर विकसित किया जाए। इस प्रकार सक्षम लेखकों को विज्ञान और प्रौद्योगिकी संचार के लिए प्रशिक्षण देना लाभकारी हो सकता है क्योंकि ऐसे लोग देशभर में हर कहीं हैं। अब स्थानीय स्तर पर संचार माध्यमों में वैज्ञानिक जानकारी बढ़ाने के लिए इस विशाल जनशक्ति का इस्तेमाल करना उपयुक्त रहेगा जिससे कि विशेष तौर पर सभी भारतीय भाषाओं में नये और आशावान विज्ञान लेखक विकसित हो सकेंगे।

चित्रकार भी उतने ही महत्वपूर्ण

इसी प्रकार से हमने पाया है कि ऐसे कलाकार/चित्रकार भी हैं, जिनमें चित्रांकन और कलाकारी की जन्मजात प्रतिभा विद्यमान होती है। चूँकि चित्र किसी अच्छे विज्ञान लेख या वैज्ञानिक रचना का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होते हैं, अतः वैज्ञानिक चित्रांकन को भी विज्ञान पत्रकारिता कार्यक्रम के साथ जोड़ना उपयुक्त रहेगा। बढ़िया समझ में आने वाले चित्र विषय को अधिक रुचिकर तथा पूर्णता प्रदान करते हैं। जिस प्रकार हर तरह के संचार माध्यम के लिए आलेख– सामग्री की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार विषय को पाठकों, दर्शकों, श्रोताओं के लिए समझ में आने योग्य बनाने के लिए कुछ चित्रों की भी आवश्यकता पड़ती है, चाहे वे मुद्रित माध्यम हो या फिर इलेक्ट्रॉनिक, लोक या अन्य कोई माध्यम। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए राविप्रौसंप ने संचार माध्यमों में वैज्ञानिक जानकारियों की तादाद और गुणवत्ता बढ़ाने के लिये एक परियोजना तैयार की है।

मूल विचार क्या है ?

संचार माध्यमों में विज्ञान का कवरेज बढ़ाने की इस परियोजना का मूल विचार यह है कि :

(क) स्थानीय स्तर (जिला/मण्डल/क्षेत्र) पर स्थानीय लेखकों, चित्रकारों, वैज्ञानिकों और संचार माध्यमों को एक

साथ जोड़ना और उन्हें संचार माध्यमों में विज्ञान की व्याप्ति बढ़ाने के लिये उचित मार्गदर्शन और प्रशिक्षण प्रदान करना।

(ख) नये विज्ञान लेखकों और चित्रकारों को अनुभवी विज्ञान लेखकों और चित्रकारों के साथ विचार-विनिमय का अवसर प्रदान करना और अनुभवी विज्ञान लेखकों और चित्रकारों द्वारा समालोचनात्मक और बौद्धिक रूप में नए रचनाकारों की रचनाओं पर चर्चा का अवसर प्रदान करना।

(ग) कला, आर्थिक क्षेत्र और राजनीति आदि के अनुभवी लेखकों और चित्रकारों को विज्ञान संचार और विज्ञान लेखन की ओर उन्मुख करना।

(घ) अनुभवी विज्ञान लेखकों/कलाकारों/चित्रकारों के मार्गदर्शन और नेतृत्व में वास्तविक अभ्यास और प्रायोगिक कार्य द्वारा नये वैज्ञानिक लेखकों चित्रकारों में मौलिक विज्ञान लेखन, विज्ञान रिपोर्टिंग और विज्ञान चित्रांकन की क्षमताएँ विकसित करना।

संभावनाएँ एवं अपेक्षाएँ

एनसीएसटीसी कम्यूनीकेशन्ज के जनवरी 1993 अंक में भी हमने इस दिशा में चर्चा की थी। वस्तुस्थिति यह है कि जब हम सभी संभव माध्यमों और तरीकों द्वारा विज्ञान संचार की बात करते हैं तो हमारे सामने तस्वीर होती है—बड़े-बड़े समाचार पत्रों, आकाशवाणी और दूरदर्शन कार्यक्रमों, राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठियों और विशाल समारोहों की लेकिन लघु समाचार पत्रों और पत्रिकाओं की बात प्रायः नजरअंदाज़ हो जाती हैं ऐसे समाचार पत्र-पत्रिकाएँ जो छोटे-छोटे शहर, कस्बों और गाँवों से, ज़िला, ब्लॉक और तहसील स्तर पर निकलती हैं,उनकी भी विज्ञान संचार के राष्ट्रीय महत्व के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

हालाँकि इन समाचार पत्र पत्रिकाओं की प्रसार संख्या काफी कम होती है, लेकिन इनकी पहुँच समाज में काफ़ी गहराई तक होती है और इनका एक विशिष्ट पाठक वर्ग होता है। अतः वैज्ञानिक सूचनाओं, समाचारों और तत्सम्बन्धी जानकारियों को क्षेत्रीय स्तरों तक पहुँचाने में इस माध्यम का भरपूर इस्तेमाल किया जा सकता है।

अब बात आती है कि इन कम प्रसार संख्या वाले छोटे समाचार पत्रों के लिए वैज्ञानिक विषयों पर कौन लिखे। यह प्रश्न कई कारणों से महत्वपूर्ण है और लाभदायक भी। एक तो यह कि जो स्थापित विज्ञान लेखक हैं, वे प्रायः छोटे समाचार पत्रों की तुलना में बड़े समाचार पत्र-पत्रिकाओं हेतु लेखन को प्राथमिकता देते हैं, जबकि छोटे समाचार पत्रों को ज़्यादातर पिष्टपेषित सामग्री ही मिल पाती है, क्योंकि, उनके पास साधनों की कमी होती है और कई समाचार पत्र तो चाहकर भी अपने पत्र में विज्ञान को स्थान नहीं दे पाते हैं।

अब यहाँ ज़रूरी हो जाती है ऐसे उत्साही नये विज्ञान लेखकों वैज्ञानिकों की भूमिका, जो उसी जगह रहते हैं, काम करते हैं या पढ़ते हैं, जहाँ से कि ऐसे लघु समाचार पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होते हैं। देश भर में दूर दराज के कोने-कोने में शायद ही कोई ऐसा जिला हो जहाँ से कि कोई अखबार न निकलता हो। इसलिए स्थानीय स्तरों से निकलने वाले इन अखबारों के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वे बड़े विज्ञान लेखकों की ओर देखें और साथ ही नये उत्साही विज्ञान लेखकों के लिए भी यह उचित नहीं कि वे सिर्फ बड़े समाचार पत्र-पत्रिकाओं में ही अपनी रचनाएं छपवाना चाहें। बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि स्थानीय स्तरों पर ही नये क्षमतावान लेखकों को स्थानीय लघु समाचार पत्रों से जोड़ा जा सके। इस प्रकार इन समाचार पत्रों को स्थानीय स्थितियों, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप वैज्ञानिक रचनायें उपलब्ध हो सकेंगी और साथ ही नये रचनाकारों को अपनी लेखन शैली को निखारने, सँवारने और नये-नये प्रयोग करने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि मिल सकेगी और वे अपनी रचनाओं को अधिक सशक्त और स्तरीय बना सकेंगे और तब उनकी रचनाएं प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तरों पर निकलने वाले समाचार पत्रों में भी स्थान पा सकेंगी। इस प्रकार यदि सारे देश भर में इस शृंखला प्रक्रिया को मूर्त रूप दिया जा सके, तो न केवल स्थानीय स्तरों पर संचार माध्यमों में वैज्ञानिक जानकारी बढ़ सकेगी, बल्कि उनके माध्यम से उपयुक्त वैज्ञानिक जानकारी दूरदराज के उन लोगों तक कारगर ढंग से पहुँच सकेगी जिनको कि ऐसी जानकारी की बहुत आवश्यकता है, और साथ ही इस प्रक्रिया से नये विज्ञान लेखक और संचारक भी तैयार हो सकेंगे।

शृंखला प्रक्रिया की ओर

इस परियोजना के मुख्य अंश इस प्रकार हैं —इस परियोजना के अन्तर्गत क्षमतावान लेखकों, चित्रकारों वैज्ञानिकों

विशेषज्ञों और संचार माध्यमों में कार्यरत व्यक्तियों को लेकर स्थानीय स्तरों पर ज़िला या मंडल स्तर की कार्यशालाएँ/सम्मेलन आयोजित किए जाएँगे। ये कार्यशालाएँ 3-5 दिन की हो सकती हैं, जिसकी अवधि प्रशिक्षणार्थियों की क्षमताओं व अभिरुचि पर निर्भर करेगी। इस कार्यक्रम में विशेषज्ञों की सलाह के अनुसार और संसाधन व्यक्तियों के मार्ग-दर्शन में लेखकों/चित्रकारों को विज्ञान संचार के लिए प्रेरित और संवर्धित किया जा सकेगा और कार्यशाला के दौरान कुछ आलेख सामग्री भी तैयार करायी जाएँगी। इस प्रकार कार्यशाला के दौरान प्रतिभागी लेखकों/चित्रकारों द्वारा तैयार रचनाएँ समाचार पत्र-पत्रिकाओं तथा आकाशवाणी और दूरदर्शन केन्द्रों को इस अनुरोध के साथ सौंपी जाएँगी कि वे इनका इस्तेमाल अपने प्रकाशनों/प्रसारणों में कर सकें।

इस प्रकार संभावना है कि स्थानीय स्तरों पर स्थानीय लेखक, समाचार पत्र-पत्रिका तथा आकाशवाणी और दूरदर्शन का एक एक प्रतिनिधि-इन सबको जोड़कर ऐसी टीमें विकसित हो सकेंगी जो कि आपस में मिलकर संचार माध्यमों में विज्ञान का कवरेज बढ़ाने के लिए स्थानीय स्तर पर काम कर सकें। ये टीमें कम से कम एक वर्ष तक काम करेंगी और उसके बाद उपलब्धियों का मूल्यांकन किया जाएगा और चुने हुए लेखकों, चित्रकारों को स्थानीय/क्षेत्रीय स्तर के समाचार पत्र पत्रिकाओं के साथ ही राज्य स्तरीय संचार माध्यमों हेतु लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। इसी तरह अगले एक-दो वर्षों में राज्य स्तरीय विज्ञान लेखकों में से चुने हुए लेखकों को राष्ट्रीय स्तर के संचार माध्यमों के साथ जोड़ा जा सकेगा। इस प्रकार एक देशव्यापी वैज्ञानिक संचार माध्यम नेटवर्क के विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। इन विज्ञान पत्रकारिता कार्यशालाओं के लिए सभी भारतीय भाषाओं से दो तीन संसाधन व्यक्ति चुने जाएंगे जो कि अपने विषय क्षेत्र के विख्यात लेखक होंगे और जो कार्यशाला का तकनीकी पक्ष देखेंगे। कार्यशाला हेतु स्थानीय स्तर पर 25-30 ऐसे प्रतिभागी चुने जाएँगे जिनकी न्यूनतम योग्यता कम से कम इंटरमीडिएट (विज्ञान) हो और साथ ही जिनका किसी भी विषय पर एक लेख, कहानी, नाटक, कविता, रूपक किसी भी समाचार पत्र-पत्रिका, कालेज पत्रिका, किताब, संकलन में प्रकाशित अथवा आकाशवाणी/दूरदर्शन से प्रसारित हो चुका हो।

☐☐☐

श्रद्धांजलि

5 अगस्त को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के अवकाश प्राप्त अध्यक्ष प्रो. कृष्ण बहादुर का निधन हो गया। डॉ. बहादुर कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में अपने योगदान के लिए विख्यात थे किन्तु अंतर्राष्ट्रीय ख्याति उन्हें जीवन के संश्लेषण में शोध कार्य के लिए मिली थी। जीवन के संश्लेषण से संबंधित शोधपत्र उन्होंने विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक शोध पत्रिका "विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका" में ही प्रकाशित किए थे।

11 अक्टूबर 1936 को जन्में भाभा इंस्टीट्यूट के विकिरण भौतिकी प्रभाग में कार्यरत डॉ. जर्नादन स्वरूप का 19 फरवरी 1994 को स्वर्गवास हो गया। डॉ. स्वरूप परिषद् द्वारा आयोजित एक कार्यशाला में इलाहाबाद भी आये थे।

परिषद् के एक और हितैशी राजनीतिज्ञ लेखक, कवि फतेहपुर निवासी श्री ओम प्रकाश रावत के स्वर्गवास का भी दुःखद समाचार मिला। श्री ओम प्रकाश जी जब भी इलाहाबाद आते थे, परिषद् में अवश्य आते थे।

परिषद् के आजीवन सभ्य दिल्ली निवासी श्री जोगेन्द्र सक्सेना का निधन 26 जून, 1994 को हो गया। दिवंगत आत्माओं के प्रति परिषद् परिवार की भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

विज्ञान लेखन और पत्रकारिता पर कार्यशाला

□ *विजय जी*

लेखक एवं पत्रकार, घूरपुर,

इलाहाबाद-211003 (उ. प्र.)

गत् 18 जून से 21 जून तक 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के सभागार में विज्ञान लेखन और पत्रकारिता पर एक कार्यशाला सम्पन्न हुई। कार्यशाला राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी संचार परिषद् (राविप्रो. सं.प.), 'विकास' और विज्ञान परिषद् प्रयाग के संयुक्त तत्वावधान में हुई। आधुनिक संचार माध्यमों में विज्ञान का कवरेज बढ़ाने के उद्देश्य से नये विज्ञान लेखकों और विज्ञान पत्रकारों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये यह कार्यशाला आयोजित की गई।

कार्यशाला में इलाहाबाद और आसपास के ज़िलों के करीब पचास प्रतिभागियों ने हिस्सा लिया। भाग लेने वाले प्रतिभागी माध्यमिक स्तर के विज्ञान वर्ग के छात्र से लेकर विज्ञान के उच्च डिग्रीधारी और विश्वविद्यालय के शिक्षक तक थे। कार्यशाला का उद्घाटन प्रयाग विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष **डॉ० डी.डी. पन्त** ने किया। प्रथम सत्र के मुख्य वक्ता राविप्रो.सं.प. के वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी **श्री मनोज पटेरिया** ने हिन्दी में विज्ञान लेखन का इतिहास और संचार माध्यमों में विज्ञान की आवश्यकता पर विस्तार से प्रकाश डाला।

अन्य सत्रों में प्रसिद्ध चित्रकार **श्री मनकापुरे** ने विज्ञान लेखन में चित्रों की भूमिका पर विस्तार से चर्चा की। श्री मनकापुर ने चित्रकला की अनेक बारीकियों को प्रतिभागियों के सामने रखा। उन्होंने प्रत्येक प्रतिभागी को उसके चुने हुये विषय के अनुसार चित्र बनाने के लिये प्रोत्साहित किया। कार्यशाला के प्रत्येक प्रतिभागी ने अपनी रचना के अनुकूल चित्र बनाये। अनेक प्रतिभागी अपने ही बनाये चित्र से आश्चर्यचकित थे। ऐसे लोग कभी सोचते भी नहीं थे कि वे चित्र भी बना सकते हैं।

कार्यशाला में वैज्ञानिक **डॉ० प्रदीप श्रीवास्तव** ने विज्ञान में 'कार्टून' के बढ़ते महत्व पर प्रकाश डाला। डॉ० श्रीवास्तव ने साइंस और कार्टून को मिलाकर विज्ञान पत्रकारिता की एक नई विधा 'साइंटून' के आविष्कार का दावा किया। स्वयं डॉ० श्रीवास्तव इसीलिये साइंटूनिस्ट कहे जाते हैं। कार्यशाला में विषय विशेषज्ञ के रूप में पधारे 'विज्ञान अन्वेषण सन्देश' मासिक के संपादक **श्री आर. के. सहाय** ने प्रतिभागियों से विज्ञान पत्रकारिता के विविध आयामों की चर्चा की। प्रसिद्ध विज्ञान लेखक **डॉ० जगदीप सक्सेना** ने प्रतिभागियों द्वारा लिखी रचनाओं का अवलोकन करके उनमें सुधार किये। शीलाधर मृदा संस्थान के पूर्व निदेशक **डॉ० शिवगोपाल मिश्र** ने विज्ञान पत्रकारों के लिये आचारसंहिता प्रस्तुत की। प्रसिद्ध विज्ञान लेखक **श्री शुकदेव प्रसाद** ने प्रतिभागियों को विज्ञान लेखन के क्षेत्र में कठोर परिश्रम करने का आह्वान किया। कार्यशाला का संयोजन 'विकास' के निदेशक **श्री सत्येन्द्र कुमार सिंह** और विज्ञान लेखक तथा स्वतंत्र पत्रकार **विजय जी** ने संयुक्त रूप से किया।

कार्यशाला की सम्पूर्ण व्यवस्था में विज्ञान परिषद् के **डॉ० दिनेश मणि, डॉ० उमाशंकर मिश्र, डॉ० सुनील दत्त तिवारी** एवं **श्री सुनील कुमार पाण्डेय** आदि का सहयोग उल्लेखनीय रहा।

कार्यशाला के समापन के अवसर पर प्रतिभागियों को प्रमाण-पत्र वितरित किये गये।

जन-जन तक विज्ञान में प्रचार प्रसार के लिये चिन्तित राविप्रो.सं.प. हिन्दी भाषी क्षेत्रों में अनेक स्थानों पर इस तरह की कार्यशालाएँ आयोजित करवा रहा है। बाद में ऐसी ही कार्यशालाएँ अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी आयोजित की जायेंगी। कुल मिलाकर उद्देश्य यही है कि विज्ञान संचार माध्यमों में छा जाये।

□□□

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्नस्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पात्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं:

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० डी० डी० नौटियाल प्रधानमंत्री विज्ञान परिषद्, प्रयाग	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	शाकुन्तल मुद्रणालय 34, बलरामपुर हाउस इलाहाबाद-211002	विज्ञान परिषद् महर्षि दयानन्द मार्ग इलाहाबाद- 211002

ISSN 0373 – 1200
अक्टूबर 1994

विज्ञान

(कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च,
नई दिल्ली के आंशिक आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित)

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915

अक्टूबर 1994; वर्ष 80, अंक 7

प्रकाशक

डॉ. देवेन्द्र दत्त नौटियाल
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

■

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

■

सहायक सम्पादक
डॉ. दिनेशमणि

■

मुद्रक
शाकुन्तल मुद्रणालय
34, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद-211002

■

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002
फोन नं: 608498

मूल्य

आजीवन: 200 रु. व्यक्तिगत; 500 रु. संस्थागत
त्रिवार्षिक: 60 रु.
वार्षिक: 25 रु.
एक प्रति: 3.50 रु.

विज्ञान विस्तार

■■■

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

विज्ञान का अक्टूबर 1994 अंक आपके हाथों में है। हमारी अपनी कठिनाइयाँ चल रही हैं, पर साथ ही परिषद् की गतिविधियाँ भी अवाध रूप से चल रही हैं। 14 सितम्बर को 'हिन्दी दिवस' पर, 28 सितम्बर को 'फराडे: व्यक्तित्व और कृतित्व' पर, 3 अक्टूबर को 'महात्मा गाँधी और प्राकृतिक चिकित्सा: प्लेग के विशेष संदर्भ में' विषय पर और 7 अक्टूबर को 'इस धरती पर वन्य जीवन से जुड़ा है मानव अस्तित्व' विषय पर स्थानीय स्तर की विचार-गोष्ठियाँ सफलता पूर्वक सम्पन्न हुईं।

इसी बीच एक अत्यंत दुःखद समाचार मिला। प्रसिद्ध गणितज्ञ और दार्शनिक डॉ. रामधर मिश्र का 5 दिसम्बर 1993 को वाराणसी में निधन हो गया।

86 वर्षीय डॉ. मिश्र आजीवन अविवाहित रहे। उन्होंने एडिनबरा विश्वविद्यालय (लन्दन) से पीएच. डी. की डिग्री प्राप्त की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय के गणित विभाग में वे प्रवक्ता, रीडर और प्रोफेसर के पदों पर लम्बी अवधि तक कार्य करते रहे। उत्तर प्रदेश लोक सेवा आयोग के डॉ. मिश्र अध्यक्ष भी रहे। 'मानवता की सेवा ईश्वर की सेवा है' में उनका अटूट विश्वास था। संत विनोवा भावे के निकट सम्पर्क में आने के बाद डॉ. मिश्र ने भूदान आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाते हुए अनेक पदयात्राओं में भाग लिया। बाद में डॉ. मिश्र सारनाथ चले गए थे और बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था। अपने जीवन के कुछेक अंतिम वर्ष उन्होंने वाराणसी में कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, राजघाट द्वारा संचालित संजीवनी अस्पताल में रोगियों की सेवा में बिताए।

डॉ. मिश्र विज्ञान परिषद् के पूर्व सभापति (1967-1969) थे और आजीवन पदेन उपसभापति रहे। परिषद् के लिए की गई उनकी सेवायें चिरस्मरणीय रहेंगी।

दिवंगत आत्मा को 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' की भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय और महाविद्यालय पिछले काफी दिनों से बंद चल रहे थे। विजयदशमी की छुट्टियाँ भी हो गई हैं, फिर भी विचारगोष्ठियों में लोग आते रहे। 'प्लेग' पर इस अंक में अलग से लेख है इसलिए वन्यजीवन संरक्षण के विषय में आपसे बातचीत करना चाहूँगा।

यह सच है कि भारत में वनों के निरंतर कटने से जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की संख्या घट रही है। यह भी सच है कि भारत सरकार के 1991 के 'द स्टेट ऑव फारेस्ट्स रिपोर्ट' के अनुसार मात्र 19.44 प्रतिशत भू-क्षेत्र पर वन हैं। किन्तु वास्तविकता यह भी है कि स्वस्थ अथवा घने वन मात्र 8-10 प्रतिशत भू-क्षेत्र पर ही बचे हैं। यह चिंता की बात तो है, पर आतंक की नहीं।

विलुप्त होती जीव प्रजातियों को बचाने के लिए जनमानस में चेतना जाग्रत हो चुकी है। अपना देश जैविक विविधता की दृष्टि से आज भी काफी समृद्ध है। जो जीव जातियाँ नष्ट हो चुकी हैं, उनके विषय में तो कुछ किया नहीं जा सकता, किन्तु जो विलुप्त होने के कगार पर हैं, उन्हें अवश्य बचाया जाना चाहिए। और इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रतिवर्ष अक्टूबर माह के प्रथम सप्ताह में वन्य जीवन संरक्षण से संबंधित अनेक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। भारत सरकार और स्वयंसेवी संस्थायें जागरूक हैं।

अपने देश में 1970 में जहाँ मात्र 10 राष्टीय उद्यान, 127 अभयारण्य और 25,000 वर्ग किलोमीटर संरक्षित क्षेत्र था वहीं 1991 में बढ़कर 66 राष्टीय उद्यान, 421 अभयारण्य और 1,32,000 वर्ग किलोमीटर संरक्षित क्षेत्र हो गया है। एक ताजी सूचना के अनुसार इसका और विस्तार किया जा रहा है।

यदि सभी कुछ ठीक-ठाक चलता रहा तो राष्ट्रीय उद्यानों की संख्या बढ़ाकर 147 कर दी जायेगी। इसी प्रकार अभयारण्यों की संख्या बढ़ाकर 633 कर दी जायेगी और संरक्षित क्षेत्र 1,83,000 वर्ग किलोमीटर होगा यह देश के कुल भू-क्षेत्र का 5.6 प्रतिशत क्षेत्र होगा। यह अच्छी खबर है।

शेष फिर—

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

उड़न-राख एक महत्वपूर्ण व्यर्थ उपोत्पाद

☐ ज० प्र० सिन्हा
सम्पादक

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय
न०1, डी० आर० हास्टल,
एन० पी० एल०कॉलोनी, नई दिल्ली-110012

हमारे देश में आज भी 80 प्रतिशत से अधिक बिजली ताप-विद्युत-संयंत्रों द्वारा जनित की जाती है जिसमें कोयले का उपयोग किया जाता है। आमतौर पर ताप-विद्युत-संयंत्र के बॉयलरों (क्वथनित्रों) में ईंधन के रूप में पिसे हुए कोयलों (कणित कोयलों) का इस्तेमाल किया जाता है। ऐसा करने से SO_2, NO_2, उड़न-राख व अन्य प्रकार की प्रदूषक कणिकाएं भारी मात्रा में वायुमंडल में उगली जाती हैं। ये प्रदूषक न केवल मनुष्यों व अन्य जीव-जन्तुओं में स्वास्थ्य संकट पैदा करते हैं अपितु वनस्पतियों को भी व्यापक रूप से क्षति पहुंचाते हैं जिसमें नगदी, फसलें, वन, फलदार वृक्ष और सजावटी पौधे शामिल हैं। कणित कोयलों के दहन से अतिसूक्ष्म कणों के रूप में अवशेष 'उड़न-राख' प्राप्त होता है जिसे क्वथनित्रों से ईंधन-गैस द्वारा बाहर ले जाया जाता है और प्रदूषण की रोकथाम के तहत् यांत्रिक संग्राहकों (कलेक्टर) अथवा स्थिर-विद्युत-अवक्षेपित्रों द्वारा अथवा दोनों के सहयोग से संग्रह करके निष्कर्षित किया जाता है। अतः उड़न-राख बिजलीघरों का व्यर्थ उपोत्पाद है और इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है कि विश्व में इसके निपटान की गम्भीर समस्या बनी हुई है।

मोटे तौर पर उड़न-राख में लगभग 60 प्रतिशत SiO_2, 30 प्रतिशत Al_2O_3 और Fe_2O_3 पाया जाता है। अतः उड़न-राख के घटकों को देखते हुए देश-विदेश की प्रयोगशालाओं में इसके उपयोग से सम्बद्ध अनेक अनुसंधान किए जा रहे हैं तथा इससे विविध प्रकार की सामग्रियों का विकास किया जा रहा है, यथा:-उड़न-राख की ईंटें, पोज़लाना-सीमेंट, सीमेंट-कंक्रीट, मिलावा, हल्के भार वाले संश्लेषित संमिश्र, दीवार-टाइलें, निकास-पाइप आदि निर्माण-सामग्रियों के विनिर्माणार्थ उड़न-राख आति उपयोगी सिद्ध हुआ है।

उड़न-राख से ईंटों का निर्माण

उड़ान-राख का उपयोग करके प्रायः दो तरह की ईंटों का निर्माण किया जाता है– (1) मिट्टी उड़न-राख की ईंटें (क्ले-फ्लाई-ऐश ब्रिक्स) और (2) उड़न-राख-बालू-चूना की ईंटें (फ्लाई-ऐश ब्रिक्स)।

मिट्टी-उड़ान-राख की ईंटों के विनिर्माणार्थ मिट्टी (क्ले) के साथ उड़न-राख का उपयोग किया जाता है। ऐसा करने से ईंटों के भार में 15 से 25 प्रतिशत की कमी आती है तथा ईंटें भी बेहतर उष्मा-रोधी होती हैं। भारत में इस प्रौद्योगिकी का विकास केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान (सी बी आर आई), रुड़की ने किया है किन्तु ईट विनिर्माताओं ने इसे भली-भांति नहीं अपनाया।

उड़न-राख-बालू-चूना की ईंटें (फ्लाई-ऐश-ब्रिक्स) आटोक्लेव करके अथवा उष्मा जलीय उपचार द्वारा बनाई जाती हैं। इसके विनिर्माण प्रक्रम में तीन चरण सम्मिलित हैं: उड़न-राख, चूना और बालू का मिश्रण तैयार करना, (2) कच्ची ईंटों के निर्माणार्थ निपीडन और (3) भाप निस्तापन।

वैसे तो इस सम्बन्ध में अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोगाशालएं अनुसंधान कार्यरत हैं किन्तु हाल फिलहाल में ही विकसित केन्द्रीय ईंधन अनुसंधान संस्थान (कें० इं० अ० सं०-सी एफ आर आई), धनबाद की प्रौद्योगिकी सर्वाधिक सफल सिद्ध हुई है। कें० ई० अ० सं० ने बिजलीघरों के संदर्भ में कोयला दहन पर अपनी परियोजना के अन्तर्गत इस प्रौद्योगिकी का विकास किया जिसका पेटेन्ट 1970 में फाइल किया गया, 1973 में मुहरबन्द किया गया और इसमें भवन निर्माण के लिए ईंटों के विनिमाणार्थ उड़न-राख की उपयोगिता के लिए अत्यधिक आशा व्यक्त की गई। यह अत्यन्त सुखद बात रही कि पश्चिम

बंगाल सरकार ने अपने आवास बोर्ड के माध्यम से कें० ई० अ० सं० की प्रौद्योगिकी का अनुज्ञा-पत्र सबसे पहले प्राप्त करके 1977 में उड़न-राख से 1000 ईंटें प्रति दिन उत्पादन की तकनीकी-आर्थिक व्यवहार्यता का प्रदर्शन किया। इस प्रारम्भिक संयंत्र से लगभग 4.5 लाख ईंटें तैयार की गईं और आसनसोल सैटेलाइट शहर परियोजना के अन्तर्गत भवन-निर्माण के लिए उपयोग में लायी गईं तथा पिछले सोलह वर्षों के लिए उन्हें परीक्षण के अन्तर्गत रखा गया है।

इस प्रौद्योगिकी पर आधारित अन्य तीन अर्धस्वचालित विनिर्माण संयंत्र (20,000 ईंटें प्रतिदिन) स्थापित किए गए जिनमें से दो पश्चिम बंगाल में और तीसरा कर्नाटक में है।

उक्त परिणामों से प्रभावित होकर पश्चिम बंगाल सरकार के लघु उद्योग निगम ने पियरलेस, जेनेरल फाइनेन्स एण्ड इन्वेस्टमेन्ट कं० लि० के संयुक्त प्रयास से त्रिवेणी (पं० बंगाल) में कें० ई० अ० सं० की प्रौद्योगिकी पर आधारित पलवर-उड़न-राख परियोजना के अन्तर्गत उड़न-राख-ईट बनाने का एशिया में सबसे बड़ा संयंत्र स्थापित किया। द डिवेलपमेन्ट कन्सल्टेन्ट लि० ने इस उच्च प्रौद्योगिकी की अभिकल्पना में अपनी परामर्शी सेवाएं प्रदान की। यह संयंत्र पूर्णतः स्वचालित है और प्रतिवर्ष 2 करोड़ 40 लाख ईट बनाने की क्षमता रखता है। इस संयंत्र से बनी ईटों में 80 प्रतिशत बैन्डेल थर्मल पावर स्टेशन से प्राप्त किया जाता है। इस संयंत्र से बनी ईट भारतीय मानक बी आई एस 12894:1990 विनिर्देशनों के वर्ग 15 की पुष्टि करती है।

स्टेट ऑव द आर्ट द्रवचालित (हाइड्रालिक) प्रैस संयंत्र की जान है जिसे जर्मनी से प्राप्त किया गया है। इन ईटों के विनिर्माणार्थ सर्वप्रथम जल तथा त्वरित्र के साथ उड़न-राख और बालू-चूना का मिश्रण तैयार किया जाता है। तत्पश्चात कच्ची ईटों (ग्रीन ब्रिक्स) के विनिर्माणार्थ मिश्रण को 220 किग्रा/सेमी०^2 दाब पर द्रवचालित प्रैस में डाला जाता है। इस तरह बनी ईटों को चौबीस अथवा अड़तालीस घंटों के लिए हवा में सुखाया जाता है। ईट को अन्तिम रूप देने के लिए शुष्क ईटों को 3 से 4 घंटों के लिए स्टीम कैरिंग चैम्बर में पकाया जाता है। इस संयंत्र से प्राप्त ईंटें चिकनी, आकार में एक सामान, जलवायु रोधी और मिट्टी की पकी ईटों से कहीं अधिक मजबूत होती हैं। और तो और ईटों की गुणवत्ता भी एक समान बनी रहती है।

होपर से प्रैस के सांचों की भराई तक, कच्ची ईटों की ढलाई, निष्कासन, प्रैस से ईटों को निकालकर वाहक पट्टों (कन्वेयर बेल्ट) पर डालना, वाहक पट्टों से ईटों को पकाई की ट्रालियों पर लादना और प्रैस-क्षेत्र से लदी हुई ट्रालियों को हटाना जैसी सम्पूर्ण प्रचालन स्वचालित व कम्प्यूटरीकृत है।

पोज़लाना सीमेंट

अधिकांश भारतीय उड़न-राख में लेश-मात्र MgO और सल्फयूरिक एनहाइड्राइड पाया जाता है किन्तु इसकी मात्रा अनुमेय सीमा से बहुत कम होती है। अतः पोर्टलैंड पोज़लाना सीमेंट के निर्माण में उड़न-राख का उपयोग स्वीकृत किया गया है। इसकी बारीकी (फाइननेस) भी लगभग 3200 सेमी^{2}/ग्राम है। चूने के साथ इसकी सक्रियता भी अनुकूल पायी गई है।

पोर्टलैंड-पोज़लाना सीमेंट के निर्माणार्थ कारखानों में पोर्टलैंड क्लिकर और उड़न-राख को एक साथ मिलाकर पीसते हैं और पिसाई के दौरान इसमें थोड़ी मात्रा में जिप्सम भी मिलाई जाती है अथवा उड़न-राख को सीधे पोर्टलैंड सीमेंट के साथ मिलाकर भी उपयोग में लाया जा रहा है। चूंकि उड़न-राख और सीमेंट का विशिष्ट घनत्व भिन्न-भिन्न है अतः दोनों को पाउडर के रूप में एक साथ मिश्रित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। ऐसी दशा में मिश्रण की प्रक्रिया सघन और एक समान होनी चाहिए।

जब कार्य-स्थल पर गारे अथवा कंक्रीट तैयार करने में पोर्टलैंड सीमेंट के प्रतिस्थापी के रूप में उड़न-राख का उपयोग किया जाता है तो दोनों को मिलाने में कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि दोनों पाउडरों को निकट लाने तथा एक साथ बांधने का कार्य जल निभाता है।

उड़न-राख के मिश्रण से बने सीमेंट में अधजले कार्बन की मात्रा अधिक (15 प्रतिशत से अधिक) होती है। अतः इसे बिलगाने के लिए उड़न-राख को चालकर मोटे व बड़े अदग्ध कोयले को अलग कर दिया जाता है और उड़न-राख का पुनः परीक्षण करके अदग्ध व राख की मात्रा की जानकारी प्राप्त कर ली जाती है। फलतः इसकी गुणवता में अधिक अन्तर नहीं आता है। इसे सीधे पाउडर के रूप में काम में लाया जा सकता है। पीसने तथा निस्तापन की आवश्यकता नहीं है। इसे ज्यों-का-त्यों काम में लाया जा सकता है तथा इसके उपयोग से पर्यावरण सम्बन्धी समस्या हल हो जाती है।

मन-मोहक टाइलों का निर्माण

आमतौर पर टाइलों का उपयोग स्नान-गृहों, रसोई-घरों व अन्य स्थलों की दीवारों को सजाने में किया जाता है। कलकत्ता स्थिर केन्द्रीय कांच एवं सिरेमिक अनुसंधान संस्थान (कें० कां० सि० अ० सं० सी जी सी आर आई) ने उड़न-राख से अम्ल तथा अपघर्षण रोधी (खरोंच रोधी) टाइलों तथा सीवर पाइपों के निर्माणार्थ उल्लेखनीय अनुसंधान किया है।

दीवार की टाइलों के निर्माणार्थ उड़न-राख, प्लास्टिक क्ले, फैल्डस्पार और टेल्क का मिश्रण उपयोग में लाया जाता है। इस पर चमकदार पालिश चढ़ाने के लिए रेड-लेड, जिर्कोन, राजमहल क्ले, बेरियम कार्बोनेट, खड़िया चूर्ण (व्हाटिंग), सुहागा (बोरेक्स) और बेरिक अम्ल कच्चे-माल के रूप में उपयोग किया जाता है। स्थानीय बिजलीघरों से प्राप्त उड़न-राख की रचना (प्रतिशत में) निम्न पाई गई है: SiO_2–52.36; Al_2O_3–18-27; Fe_2O_3–12.64; TiO_2–1.47; CaO–2.16; MgO–1.09; K_2O–1.57; Na_2O–0.22 और L.O.I.–9.4। एक्स किरण तथा डी टी ए मापनों से ज्ञात हुआ है कि उड़न-राख की क्रिस्टलीय प्रावस्थाएं मुख्य रूप से क्वार्टजमलाइट और मैग्नेसाइट रहित है।

टाइल के निर्माणार्थ बाल-मिल में बैच संयोजनों को गीला करके मिलाया जाता है। टाइल की बाडी का ज़ल प्लास्टर ऑव पेरिस के माउल्डों द्वारा तथा धूप में सूखाकर दूर किया जाता है। तत्पश्चात बाडी को चलाया जाता है तथा 10, 000 साई (Psi) (700 किग्रा/सेमी.^{3}) दाब पर हस्तचालित टॉगल अथवा द्रवचालित प्रैस के अन्तर्गत दाब करके टाइलें तैयार की जाती हैं। सुखे टाइलों को 1050 से 1150 डिग्री सेल्सियस ताप पर दग्ध करके विद्युत-भट्टी में 850 से 950 डिग्री सेल्सियस ताप पर कांचित किया जाता है। इसके पश्चात फ्रिट को चायना-क्ले के साथ मिलाकर पॉट मिल में कुटाई-पिसाई की जाती है। कुटे-पिसे तथा छाने गए पदार्थों को जल के साथ मिलाकर वांछित घनत्व के अकांचित टाइलों का निर्माण किया जाता है और इस पर बेहतर किस्म का चमकदार पालिश चढाकर कांचित टाइलें प्राप्त की जाती हैं।

इस प्रकार उड़न-राख से बनी टाइलें भारतीय मानक आई एस: 777 अनुकूल होती है और ये शौचघरों, स्नान-गृहों, रसोईघरों आदि की दीवारों पर लगाने के काम में आती हैं।

अम्ल रोधी व अपघर्षण रोधी टाइलों के विनिर्माणार्थ आमतौर पर कच्चे-माल के रूप में क्ले, फैल्डस्पार, क्वार्टज और टेल्क का उपयोग किया जाता है; किन्तु केन्द्रीय कांच एवं सिरेमिक अनुसंधान संस्थान द्वारा विकसित टाइलों के निर्माणार्थ कच्चे-माल के रूप में क्ले, फेल्डस्पार, टेल्क और अल्प मात्रा में जिर्कोनियम लेड के साथ 50 प्रतिशत अंश उड़न-राख का उपयोग किया जाता है। ये टाइलें अम्लरोधी परीक्षण में आई एस 4457 विनिर्देशन को पूरा करती हैं। इन कांचित अम्लरोधी टाइलों का उपयोग अम्लीय स्वभाव के रसायनों के प्रति संक्षारण रोधी-फर्शों व टैंकों की लाइनिंग के निर्माण में किया जाता है। चूंकि ये अपघर्षण रोधी भी होती हैं। अतः इनका उपयोग क्लिकर टाइल के रूप में, कोयला धावनित्रों और अन्य प्रकार के उद्योगों के निर्माणार्थ किया जाता है जहां सम्भवतः अपघर्षण से फर्शों को नुकसान पहुंचता है।

मल-जल निकास व्यवस्था के लिए पाइपों का निर्माण

सामान्यतः ऐसे पाइपों के निर्माणार्थ क्ले अथवा क्ले-मिश्रण, जो लगभग 1200 डिग्री सेल्सियस ताप पर गलता है, को कच्चे-माल के रूप में काम में लाया जाता है। किन्तु केन्द्रीय कांच एवं सिरेमिक अनुसंधान संस्थान के अनुसार क्ले की रचना (प्रतिशत में) निम्न प्रकार पाई गई है: SiO_2–55.70; Al_2O_3–27.76; Fe_2O_3–6.37; TiO_2–2.1; CaO–2.77; MgO–1.03; K_2O–0.90; Na_2O–0.22 और L.O.I.–9.92।

सिकुड़न में कमी, शुष्कण तथा दहन गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए बाडी में ग्राग चूर्ण भी मिलाया जाता है। पाइप के व्यास के अनुकूल ग्राग के दाने का आकार और इसकी मात्रा घटाई-बढाई जा सकती है। उक्त प्रयोशाला द्वारा विकसित प्रक्रम में टूटे-फूटे पाइप को ग्राग के रूप में इस्तेमाल किया गया। प्रयोगशाला द्वारा विकसित विधि में सामान्य ढंग से बनाए गए पाइप को 1150 से 1200 सेल्सियस कांचिकरण ताप पर कांचित करने के लिए लवण का उपयोग किया गया।

उड़न-राख ईटों, टाइलों और अपवाहिका पाइपों तथा पोज़लाना सीमेंट के निर्माण में भारी मात्रा में उड़न-राख की खपत को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य में उड़न-राख के निपटान की समस्या अपने-आप हल हो जाएगी।

■■■

द्रव लेंस बतायेंगे अंतरिक्ष का हाल

□ *प्रकाश कुम्भारे*
वैज्ञानिक, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय
डॉ० के० एस० कृष्णन मार्ग
पूसा गेट, नई दिल्ली-110012

अनाथ राजू अनाथालय की दैनिक ज़िंदगी से निराश हो चुका था। अब उसे घुटन-सी महसूस होने लगी थी। वह हमेशा यही सोचता रहता था कि काश औरों की तरह उसका भी कोई अपना होता। जब रात आती तो वह चारपाई पर पड़े-पड़े खिड़की से चाँद-सितारों को निहारते हुए और खुदको कोसकर रोया करता था। किंतु अचानक एक रात उसके मन के आइने में न जाने कहाँ से एक खूबसूरत परी आयी। उसने राजू से कहा, "राजू बेटा क्या तुमने कभी दूरबीन से ब्रह्माण्ड देखा है ? देखों वहाँ ब्रह्माण्ड में तारों-सितारों से भरे संपूर्ण पिंड कितने खुश हैं। मानों वे अपने सभी गम भुलाकर पृथ्वी पर बसे लोगों के जीवन को प्रकाशमय करने में जुटे हुए हैं। इनके दर्शन कराने में दूरबीन नामक यंत्र बहुत सहायता करता है। यह विभिन्न संकटों से अंतरिक्ष के दर्शन कराती है। चाहे कितना भी आँधी-तूफान, गर्मी या सर्दी क्यों न हों, दूरबीन अपना कर्तव्य निभाती ही रहती है। फिर राजू तुम अपने कर्तव्यों को क्यों भुला रहे हो ? इस दुनिया को मन की दूरबीन से देखने की कोशिश करो। वैसे भी यह दुनिया बहुत बड़ी है, औरों के दुःख तुम से कहीं ज्यादा हैं। फिर भी वे ज़िंदगी से हार मानने के बजाय ज़िंदगी जी रहे हैं।" परी का यह सुझाव राजू को बहुत अच्छा लगा। इसलिये राजू मन के दूरबीन द्वारा संतुष्ट, भविष्य को भाँपने के लिये, अपने सारे गम भुलाने लगा और दूरबीन के बारे में जानकारी हासिल करने में जुट गया, जिससे वह कोई अच्छी बात सीख सके।

ठीक राजू की तरह आप भी कभी-कभी सोते-जागते, उठते-बैठते अचानक कहीं खो जाते होंगे, मन के आइने के जरिये आपकी आँखों के सामने भी कोई अनोखी छवि खड़ी हो जाती होगी, जिसे निहारते-निहारते आप ग़हराई में सोचने भी लगते हैं और इसी समय आप मन के दूरबीन द्वारा घर बैठे-बेठे स्थिति का निरीक्षण एवं जाँच-पड़ताल कर पाने में सफल हो जाते होंगे। किन्तु क्या कभी आपने अपने लक्ष्य को वास्तविक रूप में छूने की कोशिश की है ? अथवा दुनिया की वास्तविक दूरबीन के बारे में जानकारी हासिल करने का प्रयास किया है ? राजू के सपनों की परी दुनिया की तरह वास्तविक दुनिया देखने की वास्तविक दूरबीन भी हमें अनंत आकाश के दर्शन कराती रहती है।

सन् 1608 में **हस लिपशे** ने इसे अनोखे दूरबीन नामक यंत्र का आविष्कार किया। सभवतः आप जानते ही होंगे कि दूरबीन एक ऐसा प्रकाशीय संयंत्र है, जिसमें सुदूर आकाश में धुँधले या दूर के ब्रह्माण्डीय पिंड बड़े ही आसानी से साफ़ और नज़दीक देखे जा सकते हैं। इस कारण इन पिंडों का निरीक्षण और परीक्षण करना आसानी से संभव हो जाता है। पिछले लगभग चार शतकों से खगोल वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड के सफल परीक्षण हेतु दूरबीन का प्रयोग करते आ रहे हैं। दूरबीन की सहायता से उन्होंने बड़े ही रोचक आविष्कार कर, विज्ञान जगत् में तहलका मचा दिया है, तभी तो आज मनुष्य धरती को समझने के साथ-साथ आसमानी चाँद-सितारों को छूने की क्षमता भी रखता है।

यूं तो समूचे दूरबीनमें अनेक घटक होते हैं लेकिन दूरबीन में लैंस का उपयोग मुख्य भूमिका निभाता है। इसके द्वारा ही हमें स्पष्ट तस्वीर प्राप्त होती है। यह लेंस काँच का बना होता है। किन्तु इस आधुनिक युग में तापमान बढ़ने के साथ अनिश्चित रहने लगा है। इस कारण काँच से बने हुये इस लैंस के आकार में भी अनिश्चितता आने लगती है, तभी तो आज परावर्तन क्रिया अस्त-व्यस्त हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप इमें ठीक ढंग की तस्वीरें या चित्र प्राप्त नहीं हो पाते हैं। अतः दूरबीन का मज़ा ही किरकिरा हो जाता है। इस विकट स्थिति को ध्यान में रखते हुये वैज्ञानिकों ने काँच का प्रितस्थापन ढूंढने हेतु काफी प्रयास किये हैं और इसमें सफ़ल भी हो गए हैं।

दूरबीन में अब काँच से बने हुये लैंस के स्थान पर द्रव से बने लैंसों का उपयोग हो सकेगा। इसके लिये पहले चरण में पारे जैसे द्रव का इस्तेमाल किया गया है। पारे से शीशा बनाने की एक रचनात्मक विधि की भी खोज कर ली गयी है। उसके अंतर्गत द्रव को एक यंत्र में घुमाया जाता है, जिससे की वह आवश्यक लैंस की तरह अवतल और परवलयिक आकार धारण कर लेता है। इस परवलयिक आकार को दूरबीन का मूल आधार माना जाता है क्यों कि इसी के द्वारा संपूर्ण समांतर प्रकाशीय किरणें एक लक्ष्य पर केंद्रित होकर सुदूर अंतरिक्ष का चित्र या प्रतिमा तैयार करती हैं। अत: जितना चौड़ा परवलय अर्थात् द्रव से बना हुआ शीशा होगा,उतनी ही चौड़ी प्रतिमा हमें प्राप्त होगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए तीन मीटर व्यास का पारे का शीशा प्रयोग में लाया गया है। यह तकनीक पहले से कई गुणा अधिक लाभकारी साबित हुयी है। इससे दूरबीन के आर्थिक लागत में कमी आ गयी है। फिलहाल यह दूरबीन लगभग सभी ब्रह्माण्डकीविदों को उपलब्ध करा दी गयी है।

द्रव लैंस से बनी हुयी यह दूरबीन अंतरिक्ष में आधे इंच तक के पिंड का निरीक्षण एवं परीक्षण करने में सक्षम है। साथ ही साथ यह पृथ्वी से लगभग 30 से 110 किमी० पर बसे वायुमंडल का भी निरीक्षण करती है।

कभी-कभी इस द्रव लैंस दूरबीन से धूलीय कण शीशे से चिकट (चिपक) कर रह जाते हैं,जिससे दूरबीन -दर्शकों को अंतरिक्ष में देखने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये ऐसे कंप्यूटर का निर्माण किया गया है, जिसमें एक सुधारक यंत्र होता है। यह यंत्र इस दूरबीन में होने वाली छोटी-मोटी त्रुटियों के अस्तित्व को ही नष्ट करता रहता है। तभी तो आज हम द्रव लैंस दूरबीन से अंतरिक्ष के उत्तम चित्र या प्रतिमा पाने में सफल हो चुके हैं।

पारे के भारी होने के कारण खोजकर्ता अब इसके स्थान पर दूसरे हल्के द्रवों को प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। इस सफलता के लिये वे कठोर प्रयासों में जुटे हुये हैं। भविष्य में ब्रह्माण्डकीवि दों के लिये कई तरह के द्रवों से तैयार किये गये दूरदर्शक यंत्र उपलब्ध कराये जा सकेंगे और तब इस तकनीक से विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में पर्याप्त उन्नति होगी। हमें ब्रह्माण्ड-जगत की नयी-नयी जानकारियां मिलेगी, जिनसे मानव जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो सकेंगे।

अनाथ राजू के स्वप्नों में आई परी की बातें किल्पत हो सकती हैं, लेकिन इस नई खोज से राजू ही क्या हम और आप सब काल्पनिक मन की दूरबीन से ब्रह्माण्ड में पहुंचने के बजाय वास्तविक रुप से अंतरिक्ष की गुत्थियों को निहार सकेंगे। मेरा विश्वास है कि विज्ञान-जगत् की इस सफलता से जो संरचनात्मक मार्ग बनेगा वह निश्चय ही अनेक राजुओं सहित हमारे जीवन में नयी रोशनी ला सकेगा।

■■■

डॉ० अजित राम वर्मा और डॉ० रमेश दत्त शर्मा को वर्ष 1994 का "डॉ० आत्माराम पुरस्कार"

*वर्ष 1994 का 'डॉ० आत्माराम पुरस्कार' दिल्ली के **डॉ० अजितराम वर्मा** और दिल्ली के ही **डॉ० रमेश दत्त शर्मा** को प्रदान किया गया है। यह पुरस्कार 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा' द्वारा हिन्दी विज्ञान लेखन में विशिष्ट योगदान के लिए दिया जाता है। प्रशस्ति-पत्र के साथ 15 हज़ार रूपयों की राशि भी प्रदान की जाती है।*

डॉ० वर्मा और डॉ० शर्मा पिछले अनेक वर्षों से 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' से ग़हरे जुड़े हुए हैं। दोनों ही पुरस्कार विजेताओं को विज्ञान परिषद् परिवार की हार्दिक बधाई।

वर्मी कम्पोस्ट अपनाइये मृदा को उर्वर बनाइये

□ *डॉ० उमाशंकर मिश्र*
शोध सहयोगी, मृदा विज्ञान विभाग,
चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय,
चित्रकूट, सतना, मध्य प्रदेश

हमारे देश की जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है, ठीक उसी अनुपात में अवशिष्ट पदार्थों का भूमि पर दबाव भी बढ़ता जा रहा है। इन अवशिष्ट पदार्थों से बहुत सी भयानक बीमारियों के फैलने की आशंका बनी रहती है। इसलिए इन अवशिष्ट पदार्थों को व्यवस्थित करने के लिए वैकल्पिक विधियों को खोजने की आवश्यकता है। प्राचीन काल से एवं आज भी ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में निचले स्थानों एवं गड्ढों को कूड़े-करकट एवं कचरे भरने के काम में लाया जाता है। यह विधि बहुत ही ख़तरनाक है, क्यों कि इससे दुर्गन्धपूर्ण अस्वास्थ्यकर स्थिति उत्पन्न होती है तथा इनकी निचली सतहों में पानी एकत्रित हो जाने के कारण सड़न पैदा होती है। इससे विषैली गैसें भी उत्पन्न होती हैं। दूसरी वैकल्पिक विधि कूड़े-करकट को जलाकर तापीय ऊर्जा पैदा करने की है। अमेरिका में तो कुछ तापीय संयन्त्रों में अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग करके बिजली पैदा करते हैं। लेकिन इससे भी बहुत अधिक मात्रा में अनुपयोगी गैसें निकलती है जो अम्ल-वर्षा में मदद करती हैं। साथ ही तमाम तरह की राखें भी उत्पन्न होती हैं। अन्तिम ताप विघटन प्रक्रिया में 900-1100 सेन्टीग्रेट से अधिक ताप पर गैसीकरण होता है और इन गैसों का ऊर्जा में उपयोग किया जाता है। तीसरी वैकल्पिक विधि में सड़ी-गली पत्तियों एवं समस्त अवशिष्ट पदार्थों को विभिन्न कम्पोस्टिगं विधियों द्वारा कार्बनिक खादों में परिवर्तित कर देते हैं। इन पुरानी विधियों में समय अधिक लगता है, इसलिए एक आधुनिक तकनीक 'वर्मी कम्पोस्टिंग' खोज निकाली गयी है, जिसमें केंचुओं की सहायता से बेहतरीन किस्म का कम्पोस्ट तैयार किया जाता है। इस विधि से सम्पूर्ण अवशिष्ट पदार्थों के भार में 50-70% की कमी आ जाती है।

मृदा जीव विज्ञान एक अत्याधुनिक विज्ञान है। मृदा विज्ञान के जन्मदाता वी०वी०डाकुशेव ने अकशेरुकी प्राणियों के विषय में विचार प्रस्तुत किये थे, किन्तु कास्टीच्यू ने प्रयोगों द्वारा वनस्पतियों के विघटन में कीटों के महत्व को सिद्ध किया। लगभग इसी समय अंग्रेज़ प्रकृति वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने केंचुओं के महत्व के बारे में लिखा कि— "केंचुए ज़मीन की जुताई मनुष्य द्वारा पहली फ़सल उगाने के पूर्व से करते आ रहे हैं। मैं कई बार इस बारे में सोचता हूं कि केंचुओं ने दुनिया के इतिहास में जितनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, उतनी किसी अन्य प्राणी ने भी की है या नहीं।"

केंचुओं के सम्भावित महत्व को सर्वप्रथम गिल्बर्ट व्हाइट ने सन् 1789 ई० में दर्शाया। उसने पाया कि ये केंचुए मिट्टी को भुरभुरी एवं पोली बनाते हैं तथा ये सूखी पित्यों एवं टहनियों को भोजन के रूप में ग्रहण करके मल (Worm cast) के रूप में उत्सर्जित करते हैं। इस प्रकार ये वनस्पतियों की वृद्धि में सहायक होते हैं तथा साथ ही साथ मृदा को वायु संचारयुक्त एवं उर्वर बनाते हैं।

आम आदमी दिन प्रतिदिन कुछ अवशिष्ट पदार्थों को इधर-उधर फेंकता रहता है। घरों में यह अपशिष्ट सब्ज़ियों के छिलके, कूड़ा-करकट, काग़ज़, अण्डों एवं फलों के छिलकों के रूप में होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में ये अवशिष्ट जानवरों के मल-मूत्र,कृषि फ़सलों के बचे अवशिष्ट पदार्थ, जानवरों को खिलाये जाने वाले पदार्थ यथा भूसा, पुआल, अनाज और खेतों में, जंगलों में बिखरी सूखी पत्तियों के रूप में पाये जाते हैं। इन सभी चीजों के पुनर्चक्रीकरण से अवशिष्ट पदार्थों को फेंकने की समस्या से छुटकारा मिल सकता है तथा इन अवशिष्ट पदार्थों को बेहतरीन किस्म की जैविक खाद में परिणित किया जा सकता है। यही नहीं, इस तरह प्रदूषण से भी बचा जा सकता है।

जनसंख्या बढने के साथ कृषि एवं व्यवसाय तो प्रभावित हुए हैं ही, साथ ही साथ बड़े-बड़े शहरों से लेकर नगरों, महानगरों,

गांवों एवं झुग्गी-झोपड़ियों के आस-पास कूड़ा-करकट भी अधिक मात्रा में इकट्ठा होने लगा है। किसानों का मित्र केंचुआ आज इस समस्या का एकमात्र समाधान प्रतीत होता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार केंचुए सड़े-गले पदार्थों तथा कूड़े-करकट को, फलों के अवशिष्ट ,फ़सलों के उत्पाद आदि को आहार के रूप में लेकर उसे मिट्टी में पुनः चक्रित करते रहते हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि केंचुए 1,000 टन कार्बनिक पदार्थ को 300 टन जैविक खाद के रूप में परिवर्तित कर देते हैं।

सम्प्रति जब कि उर्वरकों के मूल्य आसमान छू रहे हैं, किसानों के लिए फ़सलों की उत्पादकता को नियंत्रित करना अपने आप में एक विकट समस्या है। इसी सन्दर्भ में वैज्ञानिकों का कहना है कि कृषि की वह विधि जिसमें सूक्ष्मतत्वों को मिट्टी में संजोकर रखा जा सकता है, सृष्टि के छोटे सुकुमार प्राणी केंचुए द्वारा सम्पन्न की जा सकती है। इनसे बनी खाद 'वर्मी कम्पोस्ट' कहलाती है।

वर्मी कम्पोस्ट उत्तम किस्म की सस्ती तथा पोषक तत्वों से भरभूर खाद है,जिसमें 0.92% नाइट्रोजन,0.45% फास्फोरस, 2.74% पोटाश पाया जाता है। वर्मी कम्पोस्ट सूक्ष्म जीवाणुओं के लिए भी सन्तुलित आहार है। "वर्मी कल्चर" वह विधि है, जिससे वर्मी कम्पोस्ट तैयार की जाती है। वर्मी कल्चर में साधारण तकनीक द्वारा देशी जाति के केंचुओं की संख्या बढ़ाते हैं। केंचुओं की संख्या सभी प्रकार के व्यर्थ कार्बनिक पदार्थ, फ़सलों के अवशिष्ट तथा घरों से निकलें व्यर्थ अपशिष्ट पदार्थों द्वारा बढ़ाई जाती है।

वर्मी कम्पोस्ट बनाने के लिए उपयुक्त जगह जैसे घर के पिछवाड़े में 2.5 मीटर लम्बा और 1.5 मीटर चौड़ा तथा 15 मीटर गहरा गड्ढा बनाते हैं और गड्ढे की सतह को 5 सेमी. तक टूटी हुई ईट या बारीक रेत से भरते हैं। रेत या ईट गड्ढे में एकट्ठा हुए पानी को सोखने में सहायक होती है। रेत या ईट के बाद 15 सेमी. तक गडढे को दोमट मिट्टी से भरने के बाद उसके ऊपर ताज़े गोबर का छिड़काव किया जाता है। यह गड्ढा केंचुओं के लिए शयन-कक्ष का कार्य करता है।

प्रारम्भ में 100 केंचुए इकट्ठा करके तैयार गड्ढे में डाल दिये जाते हैं और ध्यान रखा जाता है कि गड्ढे में नमी बनी रहे। समय- समय पर पानी का हलका छिड़काव किया जाता है। केंचुए डालने के बाद गड्ढे में 5 सेमी. तक भूसा, पत्तियों की टहनियों, जानवरों के गोबर को डालकर हल्का पानी छिड़क कर सूखी घास से ढ़ँक दिया जाता है।

एक महीने के बाद गड्ढे के ऊपर की घास हटाकर 5 सेमी. तक गड्ढे को कार्बनिक व्यर्थ पदार्थ से भरते हैं एक दिन छोड़कर हर बार गड्ढे को भरने के बाद उसमें पानी छिड़काते हैं। जैसे ही गड्ढा भर जाता है, उसे लकड़ी के पाँचे से उलटते-पलटते हैं। लगभग 45 दिनों के बाद यह गड्ढा केंचुओं द्वारा तैयार किये गये भुरभुरे पदार्थ से भर जाता है।

गड्ढे से निकले ढेर को किसी खुले स्थान में डाल दिया जाता है। जैसे ही केंचुए निचली सतह पर चले जायें, ऊपर की मिट्टी की सतह को निकाल कर उसे छान लेते हैं। यही 'वर्मी कम्पोस्ट' है। खेतों में डालने के पूर्व इसे भली भाँति सुखा लेते हैं।

इस खाद की विशेषता है कि इसमें कार्बनिक पदार्थ अधिक होता है, जिसके कारण यह मिट्टी के भौतिक गुणों में निश्चित रूप से सुधार लाती है। अधिक उपज के लिए आवश्यकता है वर्मी कम्पोस्ट के कृषकों द्वारा उपयोग की।

■■■

प्राकृतिक विष एवं उनका प्रभाव

□ *देवी दयाल पाण्डेय*
शोध छात्र, शीलाधर
मृदा विज्ञान संस्थान, रसायन विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकृति में कुछ विषों की उत्पत्ति स्वतः होती है। अनेक खाद्य पदार्थ जो प्रयोग किये जाते हैं—उनमें कुछ मात्रा में विषाक्ता रहती है। इस विषावता का प्रभाव जीव पर विषाक्त खाद्य पदार्थों के अति उपयोग से हानिकारक होता है। इस लेख में कुछ खाद्य पदार्थों में प्राकृतिक रूप से उपस्थित विषाक्तता का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

1. आलू में सोलेनीन

सोलेनीन उन विषैले यौगिक समूहों का एक सामान्य नाम है जो अनेक पौधों में पाया जाता है। सामान्यतः आलुओं में यह 75 पी. पी. एम. तक पाया जाता है। कटे-फटे कन्दों में या धूप में पड़े कन्दों में सोलेनीन बड़ी तेज़ी से बढ़ता है। आलू के छिलके एवं अंकुरित आलुओं को भी नहीं खाना चाहिये।

2. विनौला में गौसीपोल

विनौले के आटे में **गौसीपोल** नामक विषैला रंग द्रव्य रहता है। वह फीनोल यौगिक समूह का द्रव्य है। गाय-भैसों आदि जानवरों का पेट इनकी विषाक्तता से अप्रभावित रहता है, लेकिन दूसरे जीवों पर इसका ज़हरीला प्रभाव पड़ता है। आदमी, सुअर, भेड़, चूहे, मछली पर इसका दुष्प्रभाव पाया गया है।

3. हरी पत्तीदार शाकों में आक्जेलिक एसिड

आक्जेलिक एसिड सामान्यतः तिल, चौलाई, पालक, हरे केले, बादाम, काले चने में होता है। भोजन में आक्जेलिक अम्ल की सूक्ष्म मात्रा भी कैल्शियम, मैग्नीशियम लोहे और ताँबे जैसे आवश्यक पोषकों के अवशोषण में बाधक हो सकते हैं। अधिक मात्रा में आक्जेलिक एसिड विषाक्तता से ऐंठन रोग होता है। यह रक्त को गाढ़ा नहीं होने देता है। इसमें रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। खाद्यों में इसकी अनुमेय मात्रा 0.5 प्रतिशत तक है।

4. सरसों के तेल में एरूसिक एसिड

सरसों एवं तोरिया के तेल में एरूसिक अम्ल 45 प्रतिशत तक रहता है। यह वसा अम्ल दिल की मांसपेशी में ज़्यादातर दिल के दाहिने कोष्ठ में सूजन पैदा करता है। विदेशों में एरूसिक एसिड मुक्त तेल बना लिया गया है, जिसे बिना ख़तरे के प्रयोग करते हैं।

5. सोयाबीन में विषाक्त तत्व

सोयाबीन में वनस्पति प्रोटीन का प्रचुर भण्डार है, परन्तु कच्ची अवस्था में उसमें अनेक विषैले तत्व होते हैं। कच्चे एवं आंशिक पकाये गये दानों एवं आटे में ट्रिप्सीनरोधी तत्व हीमेग्लुटिनिन्स होते हैं। ये विषैले प्रोटीन तत्व हैं।

हीमेग्लुटिनिन्स रक्त की लाल कोशिकाओं को नष्ट कर डालते हैं। इनके अतिरिक्त कच्चे सोयाबीन में विटामिन-डी का प्रतिरोधी तत्व भी पाया जाता है। यह कुक्कुटों में सूखा रोग पैदा करता है।

6. बंदगोभी में गलगंडजनक तत्व

अधिक मात्रा में बंदगोभी, सोयाबीन आदि के प्रयोग से गलगन्डजनक तत्व के शरीर में प्रवेश से थायराइड ग्रन्थि कार्य नहीं कर पाती है। इसके कारण यह ग्रन्थि आयोडीन प्राप्त नहीं कर पाती जो थायराइड हार्मोन उत्पादन के लिये आवश्यक है। इस हार्मोन की कमी से गलगंड रोग होता है।

7. खेसारी दाल में लैथीरस विषाक्त तत्व

सूखी खेसारी दाल में एन आक्जेलिक अमीनो एलेनाइन, अमीनो अम्ल एलेनाइन विषाक्त तत्व पाये जाते हैं। इसके प्रभाव से 5-45 वर्ष तक के मनुष्यों को पैरों के निचले भागों में एक प्रकार का लकवा मार जाता है।

मसालों तथा स्वाद बढ़ाने वाले एजेंटों में अनेक प्रकार के विषाक्त तत्व पाये जाते हैं। पहाड़ी मिर्च में **कैप्सीसिन** होती है, जो विषैली एवं नशीली होती है। भिगोकर पीसी गई सरसो में एलिक आइसोथायोसाइनेट होता है, जो चमड़ी पर छाले पैदा करता है। जायफल के नशे के कारण अनेक दुर्घटनायें होती हैं। अत्यधिक मात्रा में माइरिस्टीसीन के प्रयोग से सिरदर्द, चक्कर, चेहरे पर लाली, सूजन एवं पेट का दर्द होता है।

8. मछलियों में विद्यमान विषाक्त तत्व

माकरेल, सार्डीन, तूना जैसी मछलियों में विषैला सौरीन यौगिक पाया जाता है। यह तत्व जीवाणु के प्रभाव से बढ़ता है। सौवसीटॉक्सिन या अपंगकारी शंखमीन विष मुसेल (सीपी) ऑइस्टर आदि में कतिपय क्षेत्रों में गर्मियों में पाया जाता है। यह विष पेट में पहुँचने के दस से बीस मिनट के बाद होठ, चिबुक, गाल और उंगलियों के पोरों को सुन्न कर देता है, तथा ऊंघ एवं चक्कर आता है, तथा जबान लड़खड़ाने लगती है और अंततः पेट संबंधी गड़बड़ी हो जाती है। संगीन मामलों में श्वास-प्रश्वास वाली मांसपेशियाँ बेकार हो जाती हैं तथा मरीज़ की मृत्यु हो जाती है।

9. अनाजों में आर्गोटॉक्सिन विषाक्त तत्व

अनाज में खासतौर से बाजरा, राई, मकई, गेहूँ में खड़ी फ़सल में धान्य फफूंद, परजीवी, क्लेवीसेप्सजन्य जामुनी फफूंद लग जाती है। फफूंद वाले अनाज को उपयोग करने से अर्गोट रोग हो जाता है। ये विषैले तत्व एल्कलाइड रसायन समूह के होते हैं। अनुमानतः 100 ग्राम ख़ाद्य सामग्री में अर्गोटी एल्कलाइड तत्वों की अधिकतम निरापद सीमा 0.05 मिलीग्राम होनी चाहिए।

10. खाद्य सामग्री में एफ्लाटॉक्सिन विषाक्त तत्व

एस्परजिलस फ्लेवस की कुछ प्रजातियाँ और **एस्परजिलस** की अन्य प्रजातियाँ खाद्यों में जैसे मूंगफली और बिनौले पर उगती हैं और पनपते समय एफ्लाटॉक्सिन नामक जटिल कुमारिन यौगिकों को पैदा करती हैं। इनमें सर्वाधिक विषैले एफ्लाटॉक्सिन बी-1 हैं। ये जिगर तथा अन्य अंगों में घातक गाँठें पैदा करते हैं। सामान्यतः एफ्लाटॉक्सिन तत्वों की अधिक मात्रा रक्त की लाल कोशिकाओं तथा दिमाग़ को काफी हानि पहुँचा सकती है, और कोशिकाओं को नष्ट कर सकती है।

इन विष तत्वों के अलावा खनिजों एवं धातुओं में भी विषाक्त तत्व होते हैं जो विभिन्न भूमि-संसाधनों के माध्यम से मानव और जीव तक पहुँचते हैं। इन विषैले तत्वों का वर्णन निम्नवत है–

1. फ्लोराइड

यह चट्टानों से निकल कर भूमिगत जल में मिलकर अन्ततः पेय जल में पहुँच जाता है। फ्लोराइड से फ्लोरोसिस नामक दाँत की बीमारी हो जाती है। इसमें दाँत शुरू में बदरंग होकर काले या चितकबरे हो जाते हैं तथा बीमारी का अन्त हड्डियों से संबंधित ऐसी असामान्यताओं में होता है, जिससे अपंगता तक हो सकती है। अत्यधिक प्रकोप होने पर रीढ़ एकदम कठोर हो जाती है, और कमर कमान जैसी हो जाती है। भारत जैसे गर्म देश में लोग ठंडे देशों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में पानी पीते हैं। अतः फ्लोराइड के 0.4-1 पी. पी० एम० स्तर वाले जल से भी यह रोग पैदा हो जाता है।

सूखी चाय की पत्तियों में फ्लोराइड 50-70 पी० पी० एम० तक पाया जाता है। लेकिन तैयार चाय में केवल तीन पी० पी० एम० तक फ्लोराइड पाया जाता है। गेहूँ के आटे की चपातियों में भी 0.8-1.0 पी. पी. एम. तक फ्लोराइड रहता है। कच्चे पदार्थों की अपेक्षा संसाधित एवं पके हुये पदार्थों में फ्लोराइड की मात्रा अधिक होती है।

2. सेलेनियम

सेलेनियम-प्रधान खारी भूमि में उगाई जाने वाली कुछ वनस्पतियों में सेलेनियम पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। सामान्य प्रकार की भूमि से पौधों को लगभग 2 पी. पी. एम. तक सेलेनियम मिलता है। कुछ विशेष प्रकार के घास-पात चरने वाले घरेलू पशु इससे प्रभावित होते हैं। उनकी बढ़वार रुक जाती है, बाल झड़ने लगते हैं एवं आमाशय तथा आँत सम्बन्धी गड़बड़ी पैदा होती है।

3. नाइट्रेट

नाइट्रेट द्वारा प्रदूषित जल विशेषतः शिशुओं के लिये अति विषाक्त होता है। शिशुओं के पेट में अम्ल की इतनी अधिक मात्रा नहीं उत्पन्न होती कि वह नाइट्रेट को नाइट्राइट में परिवर्तित होने से रोक सके। इसका परिणाम यह होता है कि नाइट्राइट ऑक्सीकरण द्वारा हीमोग्लोबिन को मिथियोग्लोबिन में बदल देता है, जिससे रक्त आवश्यक जीवनदायी ऑक्सीजन नहीं ले पाता है। रक्त में ऑक्सीजन की कमी से बच्चे का शरीर नीला पड़ जाता है, और उसकी मृत्यु हो जाती है। इस रोग को 'ब्लू बेबी' (Blue Baby) रोग कहते हैं। एक लीटर पानी में 45 मिलीग्राम नाइट्रेट की मात्रा आमतौर से विषाक्तता उत्पन्न कर सकती है। नाइट्राइट तत्व कैंसरजनक भी होता है। माँस-मछली जैसे खाद्य पदार्थों में विद्यमान कतिपय सेमाइनों के प्रतिक्रियास्वरूप नाइट्रेट, नाइट्रोसोमाइन बना सकते हैं जो कैंसरकारी होता है।

इस तरह हम उपरोक्त उदाहरणों के आधार पर कह सकते हैं कि खाद्य पदार्थों के अनुचित उपयोग से जीव-जगत् के सदस्यों में विभिन्न प्रकार के रोग पैदा हो सकते हैं। इसमें

से कुछ रोग महामारी का रूप भी ले सकते हैं। अतः विषाक्त उपयोग में लाना चाहिये। पेयजल के मामले में काफी सावधानी बरतनी चाहिये, क्योंकि अधिकांश रोग दूषित पेयजल के उपयोग के कारण ही पैदा होते हैं। अतएव पेयजल के उपयोग में विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है।

■■■

विज्ञान परिषद् में हिन्दी दिवस

14 सितम्बर को 'हिन्दी दिवस' के अवसर पर विज्ञान परिषद् में श्री दर्शनानन्द, अवकाश प्राप्त उपनिदेशक, उद्यान विभाग की अध्यक्षता में "विज्ञान साहित्य में हिन्दी का प्रयोग कितना सफल कितना असफल" विषय पर एक परिचर्या सम्पन्न हुई। इस परिचर्चा में अपने विचार व्यक्त करने वालों में डॉ० दिनेश मणि, डॉ० जगदीश सिंह चौहान, डॉ० आर. एस. डी. दुबे, डॉ० अशोक महान, डॉ० सुप्रभात मुकर्जी, प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, डॉ० सुनील कुमार पाण्डेय, डॉ० बी. पी. त्रिपाठी, हरिओम सिंह प्रमुख थे।

इस परिचर्चा में जो बात उभर कर सामने आई वह यह कि हिन्दी भाषा का प्रयोग शत प्रतिशत सफल रहा है। किसी भी देश की राष्ट्रभाषा में सृजित साहित्य ही किसी साहित्य का मुकुट हो सकता है। हिन्दी भाषा में विज्ञान संबंधी विचारों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। ढेरों पुस्तकें हैं, पत्रिकायें हैं। हाँ विश्वविद्यालय एवं शोध स्तर की सामग्री की कमी अवश्य खटकती है। इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। अंत में विचार-विनिमय से एक और बात सामने आई और वह यह कि शोध प्रबंध भी हिन्दी भाषा में लिखे जाने चाहिए और जब तक कि हिन्दी अंग्रेज़ी का स्थान न ग्रहण कर ले, शोधार्थी के लिए शोध प्रबंध लिखने के साथ ही साथ हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाये जैसा कि एक विदेशी भाषा का ज्ञान अनिवार्य है।

इस परिचर्चा का संचालन डॉ० दिनेश मणि और धन्यवाद ज्ञापन प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने किया।

फैराडे: व्यक्तित्व एवं कृतित्व, गोष्ठी सम्पन्न

विज्ञान परिषद् में 22 सितम्बर को प्रसिद्ध रसायनज्ञ माइकेल फैराडे के जन्म दिन के अवसर पर 'फैराडे: व्यक्तित्व एवं कृतित्व' विषय पर एक विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई। गोष्ठी की अध्यक्षता डॉ० रामसुरंजन धर दुबे ने की।

इस अवसर पर रसायन विभाग के अध्यक्ष प्रो. हनुमान प्रसाद तिवारी, प्रो. जगदीश सिंह चौहान, डॉ० एम.एम. वर्मा, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, सुनील कुमार पाण्डेय, देवीदयाल पाण्डेय, प्रेमनाथ पाण्डेय तथा चन्द्रभूषण पाण्डेय ने अपने विचार व्यक्त किये।

सभी वक्ताओं ने फैराडे की महत्वपूर्ण खोजों, विद्युत अपघटन सम्बन्धी नियमों तथा डायनेमो के सिद्धान्त के महत्व पर प्रकाश डाला। वक्ताओं ने कहा कि सर हम्फ्री डेवी की प्रयोगशाला में प्रयोगशाला सहायक के रूप में कार्य प्रारम्भ कर इस महान विज्ञानी ने अपने उत्कृष्ट कार्य से सारे विश्व को अचम्भित कर दिया।

अंत में विज्ञान परिषद् के संयुक्त मंत्री तथा गोष्ठी के संचालक डॉ० दिनेशमणि ने अध्यक्ष समेत सभी वक्ताओं, श्रोताओं के प्रति आभार व्यक्त किया।

□ ***('दैनिक जागरण' से साभार)***

आवेश विहीन, द्रव्यमान विहीन कण-न्यूट्रिनो

□ डॉ. सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव
भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद-211002 (उ. प्र.)

शीतकाल में सूर्य की धूप किसे सुखद नहीं लगती ? पर यही धूप ग्रीष्म काल में शरीर को झुलसा देती है। बचपन में कहीं पढ़ा या सुना था कि सूर्य एक आग का गोला है। बाल्यकाल की बुद्धि ने इसे सहज ही ग्रहण भी कर लिया था। कुछ वर्ष व्यतीत होने पर कहीं पढ़ा कि सूर्य इतना तप्त है कि उसमें कोई पदार्थ जल ही नहीं सकता। पृथ्वी पर तो रसायनिक क्रियाओं द्वारा ही प्रायः अग्नि उत्पन्न की जाती है और उसका उपयोग किया जाता है, जैसे कोयला, लकड़ी, ईधन, गैस आदि जला कर। पर बहुत ही उच्चताप पर, ऐसी क्रियायें संभव ही नहीं अतः यह कथन भी सत्य है कि सूर्य इतना अधिक गर्म है कि वह जल ही नहीं सकता। यहाँ जलने का अभिप्राय साधारण रसायनिक क्रियाओं से ही है। सूर्य की ऊर्जा का स्रोत वास्तव में हाइड्रोजन के चार परमाणुओं से एक हीलियम परमाणु में परिवर्तित होने के द्वारा है। यह प्रक्रिया 'नाभिकीय संलयन' (Nuclear Fusion) कहलाती है तथा इसके पूर्ण होने में द्रव्यमान में कुछ कमी आ जाती है जो आइंस्टीन के समीकरण $E = mc^2$ के अनुसार ऊर्जा उत्पन्न करती है। और सूर्य तो मुख्यतः हाइड्रोजन का ही बना एक पिण्ड है, अतः इस क्रिया के होने में सूर्य के पास पर्याप्त मात्रा में हाइड्रोजन के रूप में ईंधन की कोई कमी नहीं है। पर चाहे कितना ही बड़ा खजाना क्यों न हो, यदि निरंतर उसे खाली किया जाये तो अंततः वह भी एक न एक दिन समाप्त हो ही जायेगा। सूर्य तो लगभग पाँच अरब वर्षों से चमक रहा है, तो और कितने वर्षों तक इसकी हाईड्रोजन चल सकेगी ? चलिये कुछ गणना ही हो जाये।

वर्तमान् काल में सूर्य से प्राप्त ऊर्जा उत्पन्न करने की गति के लिये इसके द्रव्यमान में 4,200, 000,000 किलोग्राम का ह्रास प्रति सेकेण्ड होना चाहिये। इतना अधिक द्रव्यमान प्रति सेकेण्ड हो तो एक वर्ष में कितना होगा ? एक वर्ष में लगभग 31,557,000 सेकेण्ड होते हैं तथा यदि यह माना जाये कि यह लगभग पाँच अरब वर्षो से इसी तीव्रता से चमक रहा है तो अब तक कोई 158,000,000,000,000,000 सेकेण्डों में सूर्य का लगभग $6x10^{26}$ किलोग्राम द्रव्यमान का ह्रास हो चुका है। ऐसा होने पर यह अभी भी कैसे चमक रहा है ? इसके अभी तक चमकने का कारण यह है कि सूर्य का कुल द्रव्यमान इससे कहीं अधिक है। समाप्त हुई ऊर्जा तो सूर्य के कुल द्रव्यमान $2x10^{31}$ किग्रा० का केवल लगभग लाखवाँ भाग रही है।

हाइड्रोजन से हीलियम के परिवर्तन में हाइड्रोजन का केवल 0.727 प्रतिशत द्रव्यमान ही ऊर्जा में परिवर्तित होता है। यह गणना कुछ इस प्रकार है। चार प्रोटॉनों (वस्तुतः हाइड्रोजन के एक परमाणु में एक प्रोटॉन तथा एक इलेक्ट्रॉन होता है, तथा इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान प्रोटॉन का लगभग दो हजारवां भाग ही है अतः हाइड्रोजन के स्थान पर प्रोटॉन लिखना अनुचित नहीं है। सूर्य के तापमान पर परमाणुओं के नाभिकीय ही महत्व रखते हैं। अतः हीलियम परमाणु से भी अभिप्राय प्रायः हीलियम के नाभिक से ही होता है, जिसे-कण भी कहते हैं।) का द्रव्यमान 4.03188 AMU होता है तथा हीलियम परमाणु का द्रव्यमान केवल 4.00260 AMU है। अतः द्रव्यमान का ह्रास हुआ 0.0293 का जो कि 0.727% होता है। इस प्रकार सूर्य का समस्त द्रव्यमान तो ऊर्जा में परिवर्तित नहीं होगा वरन् उसका केवल 0.727% द्रव्यमान ही परिवर्तित होगा। अनुमानतः सूर्य केवल सात अरब वर्षो तक ही चमकता रहेगा, तत्पश्चात् उसका केन्द्र अधिक तप्त हो जायेगा तथा फैलकर वह एक लाल दानव (Red giant) में परिवर्तित होने के पश्चात् अन्ततः फिर सिकुड़ने लगेगा।

सूर्य अपने जीवन काल में कैसे चमकेगा और कब इसकी चमक बढ़ेगी तथा कब समाप्त होगी, इन प्रश्नों को अभी छोड़ें और इस बात की ओर ध्यान दें कि वर्तमान् में सूर्य के अंदर जो प्रक्रियायें हो रही हैं वे कैसी हैं।

चार प्रोटॉनों से हीलियम का नाभिक (जिसमें दो प्रोटॉन तथा दो न्यूटॉन होते हैं) बनाने के लिये यह आवश्यक है कि दो प्रोट्रॉनों का परिवर्तन दो न्यूट्रॉनों में हो जावे। सूर्य में प्रत्येक सेकेण्ड, $5.8x10^{11}$ क्रि.ग्रा. हाइड्रोजन हीलियम में परिवर्तित होता

रहता है और इसके आधे अर्थात् $2.9 x 10^{11}$ किग्रा. प्रोट्रॉन प्रति सेकेण्ड न्यूट्रॉन में परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार 2.9×10^{11} किग्रा. हाइड्रोजन में लगभग $1.75 x 10^{38}$ प्रोटॉन हुये।

इसके अर्थ हुये कि सूर्य के केन्द्र में प्रति सेकेण्ड $1.75 x 10^{38}$ प्रोटॉन इतने ही न्यूट्रॉनों में परिवर्ति होते हैं। इसी प्रक्रिया के द्वारा सूर्य की ऊष्मा की प्रचण्डता का अनुभव हमें ग्रीष्म काल में प्रतीत होता है तथा इसी के द्वारा पृथ्वी पर समस्त जीवन आधारित है।

प्रोटॉन जब न्यूट्रॉन में बदलता है तो एक कण पाजीट्रॉन भी उत्पन्न हो जाता है। पाजीट्रॉन का द्रव्यमान प्रोट्रॉन के द्रव्यमान का केवल 1/1811 होता है। प्रोटॉन के धन विद्युत् आवेश होता है जो एक इलेक्ट्रॉन के आवेश के बराबर तथा विपरीत होता है। इलेक्ट्रॉन का विद्युत् आवेश ऋणात्मक होता है जब कि प्रोटॉन का आवेश धन होता है। न्यूट्रॉन के कोई विद्युत् आवेश होता नहीं अतः प्रोटॉन जब न्यूट्रॉन में बदलता है तो विद्युत् आवेश को समान रखने के लिये एक पाजीट्रॉन भी पैदा हो जाता है जो विद्युत् आवेश का समायोजन कर लेता है।

परन्तु पाजीट्रॉन भी यूँ ही नहीं उत्पन्न हो सकता। पाजीट्रॉन कण ऐसे परिवार का है जो दो प्रकार के होते हैं। एक लेप्टॉन और दूसरे ऐन्टी-लेप्टॉन। यदि एक प्रकार का कण उत्पन्न होता है तो दूसरे प्रकार का कण भी उत्पन्न होना चाहिये ताकि लेप्टॉन परिवार के कणों की संख्या के स्थिर रहने का नियम खंडित न हो। पाजीट्रॉन ऐन्टी-लेप्टॉन कण है, अतः एक लेप्टॉन कण और उत्पन्न होना आवश्यक है और इस लेप्टॉन कण को विद्युत् आवेश रहित होना चाहिये तथा द्रव्यमान रहित (लगभग शून्य के ही) होना चाहिये। परन्तु इसमें ऊर्जा भी हो तथा इसका कोणीय संवेग भी हो। इस प्रकार जो लेप्टॉन कण उत्पन्न होता है वह द्रव्यमान रहित, आवेश रहित न्यूट्रिनो होता है। अतः सूर्य के भीतर प्रति सेकण्ड $1.75 x 10^{38}$ न्यूट्रिनो का निर्माण होता रहता है।

पाजीट्रॉनों के विषय में हमें कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि वे सूर्य के भीतर ही रहते हैं, दूसरे कणों से टकराते हैं, सोख लिये जाते हैं, तथा फिर उत्पन्न होते हैं और सदा क्रिया करते रहते हैं।

परन्तु न्यूट्रिनो, जो आवेश रहित तथा द्रव्यमान रहित होते हैं, दूसरे कणों से आसानी से प्रभावित नहीं होते। इनमें तीव्र प्रक्रिया (Strong interaction), विद्युत-चुम्बकीय प्रक्रिया (electromagnetic interaction) गुरुत्वाकर्षण प्रक्रियाओं (gravitational interaction) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। न्यूट्रिनो केवल अल्प-प्रक्रिया (weak interaction) से ही प्रभावित होते हैं। अल्प-प्रक्रिया किसी भी कण से दूरी के ऊपर बहुत ही शीघ्रता से घटती है, अतः अल्प-प्रक्रिया से प्रवाहित होने के लिये न्यूट्रॉन को दूसरे कण से बिल्कुल सटा ही होना चाहिये। न्यूट्रॉन कण का व्यास लगभग 10^{-21} सेमी० होता है जो प्रोटॉन या न्यूट्रॉन के अर्धव्यास का दस करोड़वाँ भाग ही है, और जिसके फलस्वरूप न्यूट्रॉन पदार्थ के बीच होकर बड़ी सरलता से सरक जाता है और पदार्थ से निकलने पर कोई प्रक्रिया भी नहीं होने पाती। न्यूट्रॉन की गति भी लगभग प्रकाश की गति के बराबर होती है, जिसके कारण न्यूट्रॉन या प्रोटॉन के सम्पर्क में आने पर भी यह केवल उसके समीप 10^{-23} से० के लिये ही रहता है। इन सब तथ्यों के कारण न्यूट्रिनो ठोस पदार्थ के बीच से होकर वैसे ही चले जाते हैं जैसे कि वह ठोस पदार्थ में न होकर निर्वात में चल रहे हों। न्यूट्रिनो की एक पंक्ति एक प्रकाश वर्ष मोटे सीसे के अंदर से होकर बिना किसी अधिक ह्रास के आरपार हो जायेगी।

इस कारण सूर्य के मध्य में भी उत्पन्न न्यूट्रिनो बिना किसी ह्रास के तीन सेकेण्ड के समय में सूर्य की सतह तक आ जाते हैं। अतः सूर्य से लगभग $1.75 x 10^{38}$ न्यूट्रिनों प्रत्येक दिशा में प्रति सेकेण्ड उत्कर्षित होते रहते हैं तथा आठ मिनटों के पश्चात् पृथ्वी की कक्षा में पहुँच जाते हैं। यदि यह मान लें कि यह न्यूट्रिनो समान रूप से सब दिशाओं की ओर चल रहे हैं तो पृथ्वी के अंदर से गुजरने वाले न्यूट्रिनो की संख्या लगभग $8 x 10^{28}$ प्रति सेकेण्ड होगी, जो निरंतर दिन-रात सदियों से जारी है।

इसी दर से गणना करने पर हमें सरलता से ज्ञात हो जायेगा कि मनुष्य के शरीर से भी प्रति सेकेण्ड लगभग $2 x 10^{14}$ न्यूट्रिनो गुजरते रहते हैं और हमको इसका पता भी नहीं चलता।

वैसे यह समझ लेना भी ठीक नहीं कि कोई भी न्यूट्रिनो कोई क्रिया नहीं कर पाता। न ही, जब तक कोई न्यूट्रिनो

नाभिक से क्रिया करता है। यह क्रिया न्यूट्रिनो की उत्पत्ति की क्रिया के ठीक विपरीत होती है। अर्थात् एक प्रोटॉन को एक न्यूट्रॉन में परिवर्तित होने में एक न्यूट्रिनो निकलता है तथा एक पाजीट्रॉन भी। जबकि न्यूट्रिनो के क्रिया करने पर एक इलेक्ट्रॉन निकलता है, जो पाजीट्रॉन के विपरीत कण हैं। अपने शरीर में पचास वर्षों में एक न्यूट्रिनो सोख लिया जाता है। कुछ तत्व न्यूट्रिनो को सोखने में अधिक सक्षम होते हैं। क्लोरीन Cl-37 (17 प्रोटॉन्+20 न्यूट्रॉन) द्वारा एक न्यूट्रिनों की क्रिया होने पर आरगन A-37 (18 प्रोटॉन + 19 न्यूट्रॉन) बन जाता है तथा एक इलेक्ट्रॉन बाहर निकल आता है। इस क्रिया को देखने के लिए बहुत काफी मात्रा में क्लोरीन की आवश्यकता होगी और चूंकि क्लोरीन गैस होती है, अतः बहुत अधिक मात्रा दाब व काफी कम तापक्रम पर रखना पड़ेगा ताकि यह द्रव रूप में आ जाये। इससे भी आसान युक्ति होगी यदि परक्लोरोइथीलीन का उपयोग क्लोरीन के स्थान पर किया जाये। परक्लोरोइथीलीन साधारण ताप पर द्रव होती है तथा इसके प्रत्येक अणु में दो कार्बन तथा चार क्लोरीन परमाणु होते हैं। न्युट्रिनो से क्रिया कराने में कार्बन बाधा नहीं डालते और परक्लोरोइथीलीन काफी सस्ती भी होती है। तब पर भी इसकी एक लाख गैलेन की आवश्यकता होती है। सूर्य के न्यूट्रिनो को देखने के लिये यह आवश्यक है कि क्रियी दूसरे स्रोतों से न हो और इसके लिये साउथ डैकोटा में एक मील गहरी सोने की खान के तल पर यह प्रयोग किया गया। इतने गहरे में केवल न्यूट्रिनो ही पत्थर की चट्टानों से होकर परक्लोरोइथीलीन तक पहुँच पाते हैं क्योंकि न्यूट्रिनो के लिये इतनी चट्टानें बाधक नहीं होती, जबकि अन्य विकरण इन चट्टानों से ढँक जाते हैं।

सूर्य से निकलने वाले न्यूट्रिनो का अनुसंधान **रेमन्ड डेविस जूनियर** (Raymond Davis Jr.) ने 1968 में किया। दो-तीन दिन में एकाध न्यूट्रिनो से क्रिया हो ही जाती थी। यह संख्या कुछ अधिक तो नहीं। परन्तु गणना के अनुसार यह पाया गया कि यह दर केवल संभावित क्रिया करने वाले न्यूट्रिनो की संख्या का केवल छटवाँ भाग ही है।

कहाँ त्रुटि हो गई ? तमाम प्रकार की संभावनाओं पर विचार किया गया। अंततः यह तथ्य निकला कि हाइड्रोजन का हीलियम में परिवर्तन एक ही क्रिया द्वारा नहीं होता वरन् बीच में कई क्रियायें होती हैं और इन सबके उपरांत ही हाइड्रोजन का हीलियम में परिवर्तन होता है। प्रत्येक प्रकार की क्रिया में जब न्यूट्रिनो निकलते हैं तो उनकी ऊर्जा अलग-अलग क्रियाओं में अलग-अलग होती है। किसी में अधिक ऊर्जा वाले न्यूट्रिनें निकलते हैं तो अन्य क्रियाओं में न्यूट्रिनो की ऊर्जा कम होती है। अधिक ऊर्जा वाले न्यूट्रिनो ही क्लोरीन के नाभिकों से क्रिया कर पाते हैं। इतनी अधिक ऊर्जा वाले न्यूट्रिनो ही क्लोरीन बोरन-8 (Boron-8) से बेरीलियम-8 (Berylium-8) के परिवर्तन में होता है। सूर्य द्वारा दिये गये न्यूट्रिनो की, **डेविस** द्वारा गणना की, कमी का कारण यही निकला कि बोरन से बेरीलियम की प्रक्रिया के द्वारा न्यूट्रिनो की कम संख्या का प्राप्त होना ही है।

विभिन्न ऊर्जा वाले न्यूट्रिनो के आपेक्षित संख्याओं को ज्ञात करने के लिये अन्य तत्वों का उपयोग किया जा सकता है। एक प्रक्रिया में न्यूट्रिनो द्वारा गैलियम-71 (Gallium-71, 31 प्रोटॉन+40 न्यूट्रॉन) का रेडियोधर्मी जरमेनियम-71 (Germanium-71, 32 प्रोट्रॉन+39 न्यूट्रॉन) में बदलने पर होता है। सूर्य द्वारा उत्कर्षित एक न्यूट्रिनो प्रति दिन देखने के लिये पचास टन गैलियम-71 की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया में कम ऊर्जा वाले न्यूट्रिनो को भी देखा जा सकता है।

बेल अनुसंधानशाला के **रामास्वामी एस० राघवन** (Ramaswamy S. Raghawan) ने 1977 में एक और संभावना बताई। इंडियम-115 (Indium-115) न्यूट्रिनो द्वारा रेडियोधर्मी टिन-115 (Tin-115) में परिवर्तित हो जाता है, जिससे गामा किरणों के दो फोटॉन निकलते हैं। अतः एक इलेक्ट्रॉन के निकलने के साथ-साथ गामा किरणों के दो फोटॉन का निकलना इस बात को सिद्ध करता है कि न्यूट्रिनो द्वारा प्रक्रिया हुई है। इसके अलावा उत्कर्षित इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा से हमें टकराने वाले न्यूट्रिनो की ऊर्जा का अनुमान भी लगता है तथा इस इलेक्ट्रॉन की गति की दिशा से न्यूट्रिनो की दिशा भी मालूम हो जाती है, क्योंकि इलेक्ट्रॉन उसी दिशा में चलता है जिस दिशा से न्यूट्रिनो ने आकर इंडियम-115 के नाभिक में क्रिया की थी। और इस प्रकार हमें ज्ञात हो जाता है कि आने वाले न्यूट्रिनो सूर्य से ही आ रहे हैं। इसके लिये लगभग

चार टन इन्डियम-115 की आवश्यकता होगी जो बहुत आसानी से सुलभ नहीं है। फिर भी आशा की जा सकती है कि इस प्रकार के उपकरण न्यूट्रिनो दूरबीन की तरह कार्य कर सकते हैं और जो भविष्य में ब्रम्हाण्ड के विषय में हमारे विचारों में क्रांति ला सकते हैं।

[आइज़क ऐसीमोव की पुस्तक 'द सन शाइन्स ब्राइट' पर आधारित]

■■■

वन्य जीवन संरक्षण सप्ताह पर

बेशकीमती अमानत को नासमझी निगल गयी

17 सितम्बर को मंदाकिनी विहार में कुछ लोगों ने विवेकहीनता और अज्ञानता के चलते तीन घंटे तक बर्बरता से जिस विचित्र लेकिन एकदम सीधे-सादे और निरीह जन्तु को मार डाला वह वैज्ञानिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण और लगभग लुप्त हो चुकी एवं अत्यंत दुर्लभ प्रजाति का था। इस समय सिर्फ न्यूयार्क जूलोजिकल सोसाइटी में इसका एक जोड़ा उपलब्ध है। 25 लाख वर्ष पुराने सरीसृप जाति व डायनासोर प्रजाति के इस स्तनपायी का वैज्ञानिक नाम मेनिस है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार अफ्रीका के अलावा एशिया में यह सिर्फ भारत में देखा गया है। इसे पैंगोलिन भी कहते हैं। जीवविज्ञान शास्त्री डॉ. विजय चन्द्र चटर्जी के अनुसार जीवाश्म के रूप में फिलीस्टोसीन युग में इसके अवशेष मिलते हैं। इसके कारण इसे शोध की दृष्टि से अति महत्व का एक पुरातन जीव माना जाता है। इसकी उम्र बारह साल तक होती है।

इसका विशेष लक्षण इसके शरीर पर पाये जाने वाले भूरे रंग के शल्क और कुछ बाल भी उनके बीच में मिलते हैं। शरीर के नीचे की सतह पर भी बाल पाये जाते हैं। इसका सिर लम्बे थूथन के आकार का होता है, जिसमें लम्बी जीभ होती है, किन्तु दांत बिल्कुल नहीं होते। शरीर और पूंछ मिलाकर उसका आकार 5 फुट और वजन 27 किलोग्राम तक हो सकता है। चार पैरों पर चलने वाले इस जीव के पंजों में पांच उंगलियां होती हैं और नाखून मुड़े होते हैं। इस कारण इसकी कुछ प्रजातियां बहुत तेज़ी से किसी भी उंची सतह पर चढ़ सकती हैं। यदि इसे कोई ख़तरा होता है तो यह अपने शरीर को पूर्ण गोलाकार घुमाकर गेंद की तरह चुपचाप लेट जाता है।

यह ज़मीन बहुत ही तेज़ी के साथ खोदता है, पूंछ के सहारे किसी चीज को पकड़ कर लटकने में माहिर होता है। एसी प्रजाति पेड़ पर पायी जाती है। वनस्पति विज्ञान शास्त्री डॉ. एस. के. उपाध्याय के अनुसार अंग्रेज़ी भाषा में इसे आन्टईटर (चींटीखोर) भी कहा जाता है। अपनी दस इंच लम्बी केचुएं जैसी जीभ को यह चींटी और दीमक की बांबी में डालकर उन्हें अपने जबड़े में भर लेता है और फिर खाता है। इसके मुंह में दांत नहीं होते।

सहारनपुर में पिछले 60 वर्षों में यह तीसरी बार देखा गया है। जीव विज्ञान शास्त्री श्री चटर्जी के अनुसार लगभग 25 वर्ष पूर्व यह बाजोरिया अस्पताल के टी. वी. सेनिटोरियम में घुस आया था, तब भी लोगों ने इसे मार डाला था।

डॉ. उपाध्याय का मानना है कि सहारनपुर में मेनिस रिमाउंट डिपो के जंगल में हो सकता है। उनका कहना है कि कीटनाशकों व पेस्टिसाइड्स के खेती में उपयोग के कारण चींटी व दीमक खेतों में नहीं रही हैं और यही मेनिस का भोजन है। अनुमान है कि भूखा होने की स्थिति में अपने भोजन की तलाश में मेनिस जंगल से भटक कर मंदाकिनी विहार (निकट जैन डिग्री कालेज) निवासी अब्दुल रहमान के घर आ पहुंचा जहां लोगों ने अपनी अज्ञानता के कारण उसे कोई भयानक जीव समझकर मार डाला। चिड़ियाघर के निदेशक डी. एम. सिंह का कहना है कि भारत में दो प्रकार के पैंगोलिन पाये जाते हैं, एक भारतीय तथा दूसरा चीनी। चीन का पैंगोलिन उत्तर पूर्वी राज्यों में पाया जाता है जबकि भारतीय पैंगोलिन उत्तरी भारत में पाया जाता है।

श्री सिंह के मुताबिक यह जानवर किसी भी चिड़ियाघर में नहीं है क्योंकि चिड़ियाघरों में इसके लिए चीटियों का इंतजाम करना मुश्किल हो जाता है।

□ [राष्ट्रीय सहारा से साभार]

वाहनों के नये ईंधन
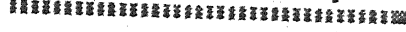
□ डॉ० सुरेन्द्र मोहन सरीन, सुरेन्द्र मोहन एवं बसन्त लाल
पर्यावरण एवं सड़क सुरक्षा विभाग,
केन्द्रीय सड़क अनुसंधान संस्थान,
नई दिल्ली-110020

प्रस्तावना

प्रचलित वाहनों के ईंधनों (पेट्रोल व डीज़ल) का स्थान लेने के लिये नये ईंधनों की खोज के लिये बड़े ज़ोर-शोर से प्रयास चल रहे हैं। इन प्रयत्नों का मुख्य कारण बिगड़ती हुई आर्थिक दशा व पर्यावरण को बढ़ता हुआ ख़तरा है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इक्कीसवीं सदी के शुरू तक हमारी कारें सौर ऊर्जा या हाइड्रोजन गैस पर चलने लगेंगी। वाहन निर्माता ऐसे इंजनों के निर्माण पर कार्य कर रहे हैं जो कि द्रवित पैट्रोलियम गैस, बिजली, एथनोल गैस, मैथनोल गैस व हाइड्रोजन गैस पर कार्य करने की क्षमता रखेंगे।

पर्यावरण की दृष्टि से सौर ऊर्जा व हाइड्रोजन गैस आधारित इंजन अत्यधिक उत्तम है क्योंकि शेष सभी प्रकार के इंजन कम या अधिक मात्रा में पर्यावरण को हानि पहुँचाते हैं परन्तु यह हानि प्रचलित ईंधनों के द्वारा होने वाली हानि से बहुत कम होती है। स्वीडेन के कार निर्माता (वोल्वो) ने प्रचलित व नये ईंधनों के लिये पर्यावरण प्रभाव सूचांक की गणना की है। इस गणना के अनुसार यदि मैथनोल को वाहनों के ईधन के रूप में प्रयोग किया जाये तो पर्यावरण पर पेट्रोल व डीज़ल की अपेक्षा कम प्रभाव पड़ेगा जबकि एथनोल को ईधन के रूप में प्रयोग करने से पैट्रोल से होने वाले पर्यावरण प्रभाव से दुगना प्रभाव पड़ेगा व डीज़ल द्वारा होने वाले प्रभाव का 60 प्रतिशत अधिक प्रभाव पड़ेगा। यदि इन ईंधनों के प्रयोग करने से निकलने वाले प्रत्येक प्रदूषक की गणना की जाये तो यह पाया गया है कि मैथनोल के प्रयोग से नाइट्रोजन ऑक्साइड, सल्फर ऑक्साइड व महीन कणों की मात्रा प्रचलित ईंधनों से निकलने वाले प्रदूषकों की मात्रा से कम पायी गयी जबकि एथनोल के प्रयोग से कार्बन डाइऑक्साइड की उत्पन्न मात्रा बहुत अधिक होती है जोंकि 'ग्रीन हाउस प्रभाव' को बढ़ाने में मदद करती है।

नये ईधनों का चुनाव व पर्यावरण समस्या

आज के युग में भविष्य में प्रयोग में आने वाले ईधनों के गुणों में अत्यधिक अन्तर होता है इसलिये इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न वाहनों के लिये प्रयोग में लाये जाने वाले ईधन के गुणों व दोषों के आधार पर किया जाता है तथा भिन्न-भिन्न स्थानों की पर्यावरण परिस्थितियों के लिये इनका चुनाव उनके गुणों व दोषों के आधार पर किया जाता है।

स्वीडन के एक अन्य शोध कार्य के अनुसर यह सुझाव दिया गया है कि पेट्रोल, डीज़ल व अन्य किसी नये ईधन का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिये कि वह उस स्थान की पर्यावरण समस्या को कम या हल कर सकने की क्षमता रख सके। उदाहरण के तौर पर अकार्बनिक ईधनों (biomass fuel) का प्रयोग करने से "ग्रीन हाऊस प्रभाव" कार्बनिक ईधन (fossilfuel) के प्रयोग से लगभग आधा होता है। इसके विपरीत अकार्बनिक ईधन के प्रयोग से नाइट्रोजन ऑक्साइडों की मात्रा कार्बनिक ईधन की अपेक्षा अधिक होती है। अधिक मात्रा में नाइट्रोजन ऑक्साइड के निकलने से वातावरण में होने वाले अम्लीयकरण प्रभाव को बढ़ावा मिलता है। ऐसा पाया गया है कि नाइट्रोजन ऑक्साइड की निकलने की मात्रा वनस्पति तेल व डीज़ल के ज्वलन में अधिक होती है तथा इनकी मात्रा वाहनों में कैटलीक कन्वेंटरों का प्रयोग करके कम की जा सकती है। कैंसर को बढ़ावा देने वाले प्रदूषकों की मात्रा सबसे अधिक डीज़ल व पेट्रोल जैसे ईधन में होती है व सबसे कम मैथनोल व बिजली को वाहनों के ईधन के रूप में प्रयोग करने से होती है।

(1) पेट्रोल की वाहनों के ईधन के रूप में पुनः स्थापना

एक नये पेट्रोल के मिश्रण को वाहनों के लिये इस प्रकार तैयार करना चाहिये कि दहन-क्रिया पूर्ण रूप से हो सके। पेट्रोल

व additive के मिश्रण का और अधिक सुधार किया जाये। इसके लिये पेट्रोल में मिलाये जाने वाले additives में कुछ सुधार किये गये हैं। सन् 1959 में सर्वप्रथम अमेरिका की एक तेल उत्पादित करने वाली कम्पनी ने सुधारित पैट्रोल का प्रयोग किया तथा ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इक्कीसवीं सदी तक प्रचलित ईधन द्वारा प्रदूषण उसके निर्धारित मानक मानों की सीमा में ही रहेगा।

इसके फलस्वरूप सुधारित पेट्रोल का प्रयोग अमेरिका में आजकल बढ़ गया है। ऐसी आशा है कि सन् 1995 तक अमेरिका उन सभी शहरों में जहाँ कार्बन मोनोऑक्साइड व धुँए की समस्या है, इस प्रकार के पेट्रोल का प्रयोग करना अनिवार्य कर देगा। इस नये विकसित पेट्रोल का नाम EC-X रखा गया है और नयी कम्पनी ने तो इसका उत्पादन भी प्रारम्भ कर दिया है। केलिफोर्निया में तो इसका प्रयोग शुरू हो गया है। इस नये पेट्रोल के मिश्रण में 15 प्रतिशत मैथनोल होगा तथा शेष पेट्रोल होगा। यह नया मिश्रण वायु प्रदूषण के सभी मानक मानों को मान्य होगा जो कि 1996 से केलिफोर्निया में प्रारम्भ किये जायेंगे।

(2) एथनोल का ईधन के रूप में प्रयोग

एथनोल गैस का उत्पादन आर्कबानिक ईधन द्वारा होता है अतः इसके प्रयोग से हमारी तेल पर निर्भरता भी कम हो जायेगी। इसके प्रयोग से वायु प्रदूषण का वातावरण पर प्रभाव भी कम हो जायेगा क्योंकि इससे निकलने वाली उन गैसों की मात्रा जो ग्रीन हाऊस प्रभाव, ओज़ोन प्रभाव बढ़ाने में मदद करती है, की मात्रा पेट्रोल द्वारा निकलने वाली गैसों की अपेक्षा कम होती है। प्रचलित ईधन से उत्पन्न होने वाले प्रदूषक कार्बन मोनोऑक्साइड व नाइट्रोजन ऑक्साइड की मात्रा इस नये ईधन से उत्पन्न होने वाले प्रदूषकों से कम होते हैं परन्तु एथनोल ईधन के रूप में प्रयोग करने से होने वाला खर्चा प्रचलित ईधन की अपेक्षा दुगुना होता है। अधिक खर्चा होने का मुख्य कारण यह है कि इससे कम ऊर्जा उत्पत्र होती है।

(3) मैथनोल का ईधन के रूप में प्रयोग

मैथनोल वाहनों में ईधन के रुप में दो विधियों द्वारा प्रयोग किया जा सकता है। प्रथम वाहनों में इसका सीधा प्रयोग करके, द्वितीय पेट्रोल व मैथनोल के मिश्रण को वाहनों में प्रयोग किया जा सकता है। इसका उत्पादन मुख्य रूप से प्राकृतिक गैस, कोयले और अकार्बनिक (biomass) ईधन द्वारा किया जा सकता है तथा इसका उत्पादन द्रव के रूप में भी किया जा सकता है। साधारणतया ऐसा पाया गया है कि मैथनोल की शक्ति द्वारा चलने वाले वाहनों से उत्पन्न CO और NOx की मात्रा लगभग पैट्रोल द्वारा चलने वाले वाहनों के बराबर होती है परन्तु हाइड्रोकार्बन की मात्रा, जो कि ओज़ोन बनाने में मदद करती है, 35 प्रतिशत कम होती है। महीन कणों की उत्पन्न मात्रा भी इस नये ईधन के प्रयोग से बहुत कम हो जाती है। इस ईधन के प्रयोग से मुख्य लाभ यह है कि अत्याधिक उत्पन्न होने वाले महीन कणों में भारी कमी हो जायेगी।

(4) प्राकृतिक गैस का ईधन के रूप में प्रयोग

संसार के लगभग सभी देशों में प्राकृतिक गैस प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। अमेरिका में तो प्राकृतिक गैस के वितरण के लिये पाइप लाइनों के जाल का निर्माण कर लिया गया है। इसके अलावा गैस का वाहनों तक वितरण करने के लिये तकनीकी विधि भी ढूँढ ली गयी है। प्रचलित वाहनों के इंजनों को इस प्रकार बदल दिया गया है कि वे गैस के आधार पर चल सकें। इस प्रकार की प्रक्रिया द्वारा यह पाया गया है कि ओज़ोन का निर्माण करने वाले प्रदूषकों की 50% मात्रा कम हो जायेगी। यह ऐसा इसलिये सम्भव है क्योंकि इस प्रकार के इंजनों से हाइड्रोकार्बन गैस बहुत कम मात्रा में निकलती है और प्राकृतिक गैस का प्रयोग करने से प्रचलित ईधन में वाष्पीकरण द्वारा फैलने वाला प्रदूषण नगण्य हो जाता है। अमेरिका में हुए शोध कार्य से यह जानकारी मिलती है कि हल्के वाहनों को यदि प्राकृतिक गैस की शक्ति द्वारा चलाया जाये तो वह सिर्फ 0.03 से 0.06 gm/km कार्बन मोनोऑक्साइड (CO) और O से 0.25 gm/km नाइट्रोजन ऑक्साइड (NOx) निकालेंगे। भारी वाहनों में भी निकलने वाले प्रदूषकों की मात्रा डीज़ल द्वारा चलने वाले इंजनों से भी कम होती है। इसके अलावा प्राकृतिक गैस का प्रयोग स्वास्थ्य के लिये डीज़ल व पेट्रोल की अपेक्षा कम हानिकारक है।

(5) द्रवित पैट्रोलियम गैस का ईधन के रूप में प्रयोग

द्रवित पेट्रोलियम गैस प्रोपेन व ब्यूटेन गैसों का मिश्रण है। इस समय संसार में यह वाहनों के लिये एक अत्यधिक प्रयोग किये जाने वाला ईधन है जो कि प्रचलित ईधन का स्थान ले रहा है। संसार भर में लगभग 3.9 करोड़ द्रवित पेट्रोलियम

गैस की शक्ति द्वारा चलने वाले वाहन हैं जिसमें कि इंजन की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। ऐसा पाया गया है कि द्रवित पेट्रोलियम गैस व पेट्रोल वाले वाहन वातावरण को लगभग समान ही प्रदूषित करते हैं।

(6) हाइड्रोजन गैस का ईंधन के रूप में प्रयोग

एक लम्बे समय से ही हाइड्रोजन को प्रचलित ईंधन के स्थान पर वाहनों के लिये प्रयोग करने के बारे में सोचा जा रहा है क्योंकि इसका प्रयोग वाहन सेल में बिजली उत्पन्न करके कर सकते हैं। पृथ्वी पर हाइड्रोजन तत्व अत्यधिक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, परन्तु इसे हाइड्रोजन गैस के रूप में उत्पन्न करने की तकनीकी विधि महंगी है। सबसे अधिक प्रचलित विधि इसको उत्पन्न करने की fossil fuel, कार्बनिक ईंधन द्वारा है जो कि कोयले या प्राकृतिक गैस के दहन द्वारा निकलती है। तथापि सौर सैल का विकास का एक नया अविशकार है, जिसका तात्पर्य है कि ऐसी तकनीकी विधि का प्रयोग करना जो कि पानी का विद्युतीय अपघटन (electrolysis) करके हाइड्रोजन गैस के निर्माण के लिये आवश्यक बिजली पैदा कर सके। हाइड्रोजन गैस को ईंधन के रूप में प्रयोग करने से वह fossil fuel की अपेक्षा बहुत कम प्रदूषण करती है। इसमें अपशिष्ट पानी व नाइट्रोजन ऑक्साइड ही है। आने वाले समय में हाइड्रोजन की शक्ति द्वारा चलने वाले सेल उपलब्ध होंगे जो कि बिजली का उत्पादन करेंगे। यह बिजली वाहनों के इंजनों को चलायेगी। इस प्रकार के कारखानों का निर्माण हो चुका है जो कि सौर सेल द्वारा हाइड्रोजन गैस को उत्पन्न करते हैं। ऐसा अनुमान है कि संसार की संपूर्ण पेट्रोल की खपत के बदले 530,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में सौ सेलों को लगाना पड़ेगा, जिनके द्वारा उत्पन्न हाइड्रोजन गैस संसार के सारे वाहनों को चलाने की क्षमता रखेगी। यह क्षेत्र पृथ्वी पर स्थित रेगिस्तान का सिर्फ 2 प्रतिशत ही है।

(7) बिजली से चलने वाले वाहनों का प्रयोग

बिजली से चलने वाले वाहन स्वयं में किसी प्रकार कोई प्रदूषण नहीं करते, दूसरी तरफ इन वाहनों के लिये आवश्यक बिजली का उत्पादन करने के लिये निर्मित कारखाने अत्यधिक प्रदूषकों को निकालते हैं, जो कि वातावरण को प्रदूषित करते हैं। यदि यह मान लें कि इन वाहनों के लिये आवश्यक बिजली का 50% कोयले द्वारा 18% प्राकृतिक गैस व 32% आणविक शक्ति पानी या सौर ऊर्जा द्वारा उत्पन्न होती है और यदि पेट्रोल से चलने वाले सभी वाहनों को बिजली के वाहनों में बदल दें तो प्रदूषण के स्तर में हुई गिरावट इस प्रकार है-98.9 प्रतिशत हाइड्रोकार्बन कम निकलेगें, 98.7 प्रतिशत CO का स्तर गिर जायेगा, 60.9 प्रतिशत नाइट्रोजन ऑक्साइड गैस कम निकलेगी। इसके विपरीत सल्फर डाइऑक्साइड का स्तर 95.8 प्रतिशत बढ़ जायेगा और महीन कणों का स्तर 51.05% बढ़ जायेगा।

इस प्रकार बिजली के वाहन या बिजली से चलने वाली गाड़ियाँ प्रदूषण को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर सकतीं, परन्तु किसी विशेष स्थान पर प्रदूषकों की मात्रा को गिरा सकतीं है और कुछ सीमा तक उत्पन्न हुए प्रदूषकों की प्रकृति को बदल सकती हैं जैसे CO, तथा NOx को कम करके SO_2 व महीन कणों की मात्रा को बढ़ा देंगी।

उपसंहार

प्रस्तुत निबन्ध में वाहनों के लिये प्रयुक्त किये जा सकने वाले विभिन्न ईंधनों का वर्णन किया गया है तथा उनसे होने वाले पर्यावरण पर दुष्प्रभावों का भी वर्णन किया गया है। विभिन्न ईंधनों से होने वाले पर्यावरण पर दुष्प्रभावों का मूल्यांकन किया जाना चाहिये। इस आधार पर वाहनों के लिये उपयुक्त ईंधन व उनके स्रोतों को देश में असानी से ढूँढा जा सकेगा। इस प्रकार प्रचलित ईंधन के स्थान पर नया ईंधन वाहनों के लिये प्रयोग कर सकेंगे।

(1) डा० सुरेन्द्र मोहन सरीन, अध्यक्ष, पर्यावरण एवं सड़क सुरक्षा विभाग, केन्द्रीय अनुसंधान केन्द्र, नई दिल्ली

(2) श्री सुरेन्द्र मोहन, वैज्ञानिक, केन्द्रीय सड़क अनुसंधान केन्द्र, नई दिल्ली

(3) श्री बसन्त लाल, वरिष्ठ तकनीकी सहायक, केन्द्रीय सड़क अनुसंधान केन्द्र, नई दिल्ली

■■■

विज्ञान की नवीनतम खोजें

□ डॉ० सुशीला राय
वैज्ञानिक ऑफिसर,
रक्षा प्रयोगशाला,
जोधपुर-342011 (राजस्थान)

(1) विशालकाय जीवाणु

प्रकृति आश्चर्यों से भरी पड़ी है। मानव कुछ से वाक़िफ है तथा कुछ खोजें अभी जारी हैं। ऐसी ही एक खोज के फलस्वरूप **इपुलोपीशियम फिशेलमोनी** जीवाणु की खोज हुई। यह जीवाणु एक प्रकार की मछली **अकानथूरस निग्रो** की आहार-नाल में पाया जाता है।

यह जीवाणु लगभग 1/2 मिलीमीटर लम्बा तथा 1/5 मिलीमीटर चौड़ा होता है। यह आकार में मनुष्य की आँत में पाये जाने वाले जीवाणु **इश्रशिया कोलाई**, जिसे संक्षिप्त में **इ० कोलाई** भी कहते हैं, से लगभ 10 लाख गुना अधिक बड़ा होता है।

यह विशालकाय जीवाणु पहले से ही ज्ञात था, परन्तु इनके बड़े आकार के कारण इसे प्रोटोज़ोआ माना जाता रहा है। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इलेक्टॉन सूक्ष्मदर्शी द्वारा इसकी कोशिका भित्ति व नाभिकीय अम्ल (Nucleic acid) की जाँच से अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि **इपुलोपीशियम** जीवाणु ही है।

इस नवीनतम खोज ने वैज्ञानिकों के समक्ष कई प्रश्न खड़े कर दिए हैं। वैसे तो जीवाणु व प्रोटोज़ोआ दोनों ही एककोशीय जीव होते हैं. परन्तु दोनों की कोशिका संरचना में बहुत अंतर होता है। जीवाणु कोशिका की संरचना अत्यन्त सरल होती है। इसमें दोहरी झिल्लियों का आवरण नहीं पाया जाता, जबकि प्रोटोज़ोआ व अन्य सभी जीवों की कोशिका संरचना दोहरी झिल्लियों के आवरण के कारण जटिल होती है। पहले यह माना जाता रहा कि जीवाणु का आकार अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सरल कोशिका संरचना से ही उसका काम चल जाता है, किन्तु अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि झिल्ली तंत्र के बिना इस विशालकाय कोशिका का कार्य कैसे चलता है ? इसके एक भाग से दूसरे भाग में पदार्थों का संवहन कैसे होता है ? आदि-आदि।

विशेष बात यह है कि अब इस खोज के कारण कई धारणाओं को बदलना पड़ सकता है। अब तक ज्ञात सूक्ष्मजीवाश्मों (माइकोफॉसिल्स) का भी पुनमर्मूल्यांकन करना होगा क्योंकि कई जीवाश्मों को तो उनके सूक्ष्म आकार के कारण जीवाणु मान लिया गया है। दैत्याकार जीवाणु **इपुलोपीशियम फिशेलमोनी** के सामने तो कई प्रोटोज़ोआ बौने नज़र आने लगे हैं।

(2) लहसुन की गंध

लहसुन में दुर्गन्ध होती है या सुगन्ध, इसमें लोगों की राय भिन्न-भिन्न मिलेगी, परन्तु हाल की खोजों के अनुसार लहसुन की गंध को सुगंध मानने वालों की संख्या निश्चित रूप से बढ़ेगी। वर्तमान में बुखार तथा दर्द के उपचार हेतु 'पैरासिटामोल' दवा का प्रयोग बहुतायत से किया जाता है। कई अलग-अलग व्यापारिक नामों से यह दवा बाज़ार में उपलब्ध है। पैरासिटामोल का अधिक प्रयोग लिवर (यकृत) को नुकसान पहुंचता है। शराब के आदी लोगों पर भी इसका बुरा प्रभाव अधिक होता है। वैसे यदि पैरासिटामोल के इस अवगुण को दूर कर दिया जाये तो यह एक बहुत अच्छी ओषधि है।

वैज्ञानिक लंबे समय से किसी ऐसे प्राकृतिक पदार्थ की तलाश में थे जो पैरासिटामोल के इस अवगुण से मुकाबलाकर सके। अब यह पदार्थ डाइ एलिल सल्फाइड के रूप में प्राप्त हुआ है। यह डाइ एलिल सल्फाइड लहसुन में पाया जाता है, तथा लहसुन में गंध इसी पदार्थ की उपस्थिति के कारण होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में हुए एक अनुसंधान के अनुसार डाइ एलिल सल्फाइड में पैरासिटामोल के दुष्प्रभाव को कम करने की क्षमता है। अब इसका उपयोग मेथियोनिन के स्थान पर

किया जायगा। मेथियोनिन एक रसायनिक पदार्थ है, जिसमें पेरासिटामोल के दुष्प्रभाव को कम करने की क्षमता विद्यमान है। और तो और, लहसुन से प्राप्त रसायन प्राकृतिक पदार्थ होने के साथ-साथ सस्ता भी होगा।

(3) बुराई के साथ अच्छाई भी

एक कहावत है कि कोई भी इतना बुरा नहीं होता कि हम उसमें कोई अच्छाई न ढूँढ सकें। इस कहावत को चरितार्थ किया है कार्बन मोनोऑक्साइड ने। वाहनों से उत्सर्जित धुएँ में पाई जाने वाली कार्बन मोनोऑक्साइड एक तीव्र विष है। वायु में एक प्रतिशत से भी कम मात्रा में उपस्थित होने पर यह जानलेवा हो सकती है।

परन्तु अब वैज्ञानिक खोज से एक चौंकाने वाला तथ्य यह सामने आया है कि कार्बन मोनोऑक्साइड मानव तंत्र में संदेशवाहक का कार्य करती है तथा अन्य संदेश वाहकों की मात्रा का नियमन कर मानव तंत्रिका तंत्र की व्यवस्था बनाए रखने में मदद करती है।

■■■

विज्ञान परिषद् के पदाधिकारियों का चयन

'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के वर्ष 1994–95 के लिए निम्न पदाधिकारियों का चयन किया गया।

1. डॉ. एस. के. जोशी	सभापति
2. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती	पदेन उपसभापति
3. डॉ. रामधर मिश्र (दिवंगत)	"
4. श्री राम सहाय	"
5. प्रो. कृष्ण जी	"
6. डॉ. रामचरण मेहरोत्रा	"
7. डॉ. रामदास तिवारी	"
८. प्रो. यशपाल	"
९. श्री गजानन्द आर्य	"
10. डॉ. राम गोपाल	उपसभापति
11. प्रो. पूर्ण चन्द्र गुप्ता	"
12. डॉ. डी. डी. नौटियाल	प्रधान मन्त्री
13. डॉ. अशोक कुमार गुप्ता	मन्त्री (भवन)
14. डॉ. एम. एम. वर्मा	संयुक्त मन्त्री
15. डॉ. दिनेश मणि	"
16. डॉ. अशोक महान	कोक्षाध्यक्ष
17. श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	सम्पादक, विज्ञान
18. डॉ. दिनेश मणि	सहायक सम्पादक, विज्ञान
19. डॉ. ईश्वर चन्द्र शुक्ला	पुस्तकालयाध्यक्ष
20. डॉ. रामसुरंजन धर दुबे	आय-व्यय निरीक्षक
21. डॉ. चन्द्रिका प्रसाद	स्थानीय अंतरंगी
22. प्रो. हनुमान प्रसाद तिवारी	"
23. प्रो. शिवगोपाल मिश्र	"
24. प्रो. जगदीश सिंह चौहान	"
25. डॉ. श्रवण कुमार तिवारी, वाराणसी	बाह्य अंतरंगी
26. डॉ. रमेश दत्त शर्मा, दिल्ली	"
27. डॉ. ओम प्रभात अग्रवाल, रोहतक	"
28. डॉ. आई. सी. गुप्ता, जोधपुर	"
29. डॉ. निरंजन पन्डा, भुवनेश्वर	"
30. श्रीमती डॉ. बी. अनुराधा, मैसूर	"
31. श्री नारायण दत्त, बम्बई	"
32. डॉ. राजशेखर भूसनूरमठ, धारवाड़	"
33. डॉ. देश दीपक, बैलाडीला	"

■■■

प्लेग का इलाज है, डरें मत

□ *प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव*
संपादक, 'विज्ञान', विज्ञान परिषद् प्रयाग,
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

ताऊन या प्लेग का नाम सुनते ही कँपकपी छूट जाती है। कुछ दशक पूर्व तो प्लेग का मतलब ही मृत्यु था। इससे गाँव के गाँव 'साफ' हो जाते थे। प्लेग को ईश्वर द्वारा दिया गया दण्ड माना जाता था। हाँ, प्रतिजैविकों की खोज के बाद मृत्यु का भय कुछ कम अवश्य हुआ है, किन्तु आज भी इस रोग का आतंक बना हुआ है। अब तक यदा-कदा लोग इस रोग की चपेट, में आ जाते हैं पर अब इस रोग की भयंकरता इस कारण कम हो गई है क्योंकि समय पर चिकित्सक के पास पहुँच जाने पर प्लेग का पूरी तरह से उपचार संभव हो गया है।

वास्तविकता तो यह है कि 1966 के बाद भारत में प्लेग के रोगी नहीं पाये जाते थे और ऐसा लगने लगा था कि यह रोग विदा हो चुका है, किन्तु पिछले दिनों गुजरात के सूरत शहर में और महाराष्ट्र के कुछ स्थानों पर इसके महामारी के रूप में फैलने से आश्चर्यचकित रह जाना पड़ा।

चूँकि भारत में पिछले करीब 40-45 वर्षों से प्लेग के रोगी देखने में नहीं आते थे इसलिए नये डॉक्टरों को तो इसके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। हाँ, मात्र पुस्तकीय ज्ञान रहता है। और सम्भवतः यही कारण है कि जब सूरत में प्लेग प्रारंभ हुआ तो डॉक्टरों को इस पर नियंत्रण पाने में कुछ समय लगा और बस इसी बीच रोग ने सूरत में महामारी का रूप ले लिया।

भारत के अन्य जगहों में वहीं-वहीं रोग फैला है जहाँ सूरत से कोई संक्रिमत व्यक्ति आया है। अतएव यदि ऐसे व्यक्तियों का परीक्षण और इलाज कर दिया जाये तो रोग पर नियंत्रण पाया जा सकता है।

प्लेग का कारण **येरसीनिया पेस्टिस (Yersenia pestis)** नामक जीवाणु (Bacteria) हैं। सारे संसार में जंगली चूहों (Rodents) की 200 प्रजातियाँ (सपीशीज़) प्लेग जीवाणु के वाहक का कार्य करती हैं। किन्तु इससे इन जंगली चूहों की मृत्यु नहीं होती। वस्तुतः इन चूहों के शरीर पर रहने वाले पिस्सुओं (Fleas) में प्लेग जीवाणु उस समय प्रवेश कर जाते हैं जब पिस्सू जंगली चूहों के शरीर से रक्त चूसता है। रक्त के माध्यम से प्लेग जीवाणु जंगली चूहों से पिस्सुओं के शरीर में प्रविशिष्ट हो जाता है। पिस्सू के शरीर के आहार नाल में ही जीवाणु का जीवन-चक्र पूरा होता है। यहीं ये जीवाणु संख्या में वृद्धि करते हैं।

पिस्सू मच्छर से थोड़े बड़े होते हैं। इनका रंग गहरा सिलेटी या काला होता है। इनके पंख नहीं होते और इस कारण ये उड़ नहीं पाते। किन्तु यह अपनी टाँगों की मदद से लगभग डेढ़ फुट ऊँचा कूद सकता है। इसमें एक से दूसरे मेज़बान तक चलकर जाने की क्षमता होती है। यह अपने मुँह के अग्रभाग से मेज़बान के शरीर की त्वचा में सुराख करके रक्त चूसता है। बस, रक्त चूसने के दौरान ही प्लेग के जीवाणु मनुष्य के शरीर मे प्रवेश कर जाते हैं।

प्लेग रोग के फैलने का समय आमतौर से बरसात के बाद (सितम्बर से मई) का होता है। चूहों के बिलों में पानी भर जाने के कारण चूहे अधिक संख्या में बिलों से बाहर आ जाते हैं।

इसके अतिरिक्त किलनी (ticks), जूँ (lice) और खटमल (bed bug) भी प्लेग जीवाणु के वाहक का कार्य करते हैं। वैसे घरों में पाये जाने वाले चूहे **(Xenopsylla cheopis)** इस रोग को सर्वाधिक फैलाते हैं।

प्लेग जीवाणु सूर्य के प्रकाश की गर्मी से मर जाते हैं किन्तु पिस्सुओं और चूहों की अनुपस्थिति में भी चूहों की बिलों में मिट्टी में जीवाणु महीनों तक जीवित रहते हैं।

जंगली चूहों से सीधे आमतौर से यह रोग मनुष्यों में नहीं फैलता है, किन्तु जंगली चूहों के शरीर में रोग के जीवाणु सुरक्षित रहते हैं। गंदगी, अस्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ और घरेलू

चूहों की संख्या में अनियंत्रित वृद्धि महामारी को जन्म देती हैं।

जंगली चूहों के शरीर से पिस्सू जब घरेलू चूहों के शरीर पर बसेरा कर लेते हैं, जब घरेलू चूहे भी इस रोग की चपेट में आ जाते हैं और मरने लगते हैं।

प्लेग के जीवाणुओं से मरने वाले चूहों के गर्दन के चारों ओर गुलाबी धारियां दिखती हैं, गिल्टियों में सूजन आ जाती है, मुंह के ऊपर खून दिखाई देता है। ऐसे मृत चूहों को जला देना चाहिए अथवा ज़मीन में गड्ढे खोद कर नीचे मिट्टी में दबा देना चाहिए।

पिस्सू मरे हुए चूहे के शरीर को छोड़कर स्वस्थ चूहे पर आक्रमण करते हैं और जब वे चूहे भी मर जाते हैं तो पिस्सू मानव शरीर को भोजन और आवास का माध्यम बनाते हैं। फिर तो पिस्सूओं के द्वारा मानव शरीर में प्लेग जीवाणु घर कर लेते हैं और मनुष्यों में यह रोग महामारी का रूप धर लेता है। रोग के जीवाणु कटी-फटी त्वचा अथवा घाव या चोट के रास्ते शरीर में पहुँच जाते हैं और रक्त नलिकाओं द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों में घुस जाते हैं।

प्लेग दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमें काँख अथवा हाथ-पैर के जोड़ों की गिल्टियों में सूजन जा जाती है। एक से बारह दिनों की अवधि में मनुष्य को तेज़ ज्वर हो आता है। सिर दर्द, उल्टी, हृदय गति का तेज़ होना, सांस लेने में तकलीफ और जोड़ों की गिल्टियों में सूजन रोग के अन्य लक्षण हैं। बाद में मवाद का आना और फिर मुँह, नाक अथवा मूत्र मार्ग से रक्त भी आने लगता है। रोग का प्रथम सप्ताह अत्यधिक ख़तरनाक होता है। इसे 'बुबोनिक प्लेग' (bubonic plague) कहते हैं।

दूसरे प्रकार के प्लेग को 'न्यूमोनिक प्लेग' (pneumonic plague) कहते हैं। इसमें मनुष्य का फेफड़ा प्रभावित होता है। प्लेग जीवाणु मनुष्य के थूक में अत्यधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। रोगी के छींकने या खाँसने से भी रोग फैलता है। इससे डॉक्टर, नर्स अथवा रोगी की सेवा-सुश्रूषा करने वाले व्यक्ति भी रोग ग्रस्त हो जाती हैं। जीवाणु मानव शरीर की त्वचा के नीचे कहीं-कहीं अत्यधिक मात्रा में एकत्र हो जाते हैं और इस प्रकार शरीर में फोड़े निकल आते हैं। और तो और, कभी-कभी मनुष्य का मस्तिष्क भी प्रभावित हो जाता है।

प्रतिजैविकों (Antibiotics) की खोज के पूर्व 50 से 90 प्रतिशत रोगी काल के गाल मे समा जाते थे, किन्तु अब मरने वालों का प्रतिशत मात्र 5 से 10 है। यदि संक्रमण के 15 से 20 घंटे के अंदर ही इलाज शुरू कर दिया जाये तो रोग पर पूरी तरह से नियंत्रण पाया जा सकता है। न्यूमोनिया अथवा सेप्टीसीमिया हो जाने के बाद भी स्ट्रेप्टोमाइसिन (Streptomycin) और टेट्रासाइक्लिन (Tetracyclin) की मदद से प्लेग रोगियों को नीरोग किया जा सकता है।

टेट्रासाइक्लिन की जगह डाक्सीसाइक्लिन अधिक कारगर है। टेट्रासइक्लिन के प्रयोग से हर्निया का ख़तरा रहता है।

एलोपैथी अथवा अंग्रेज़ी दवाओं के अलावा वैद्यक और होमियोपैथी में भी प्लेग रोग का उपचार है।

भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा के निजी चिकित्सक (वैद्य) वेदव्रत शर्मा के अनुसार गोबर के उपलों को नीम और शीशम की पत्तियों और डण्डियों (लकड़ी) के साथ जलाने से उत्पन्न धुयें के प्रभाव से 'न्यूमोनिक प्लेग' को फैलाने वाले पिस्सू और जीवाणु दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। 'आयुर्वेद' में घरों के प्रवेश द्वार पर नीम की टहनियाँ लटकाने का भी उल्लेख है। तुलसी की पत्तियों के साथ अदरक, काली मिर्च, लहसुन का सेवन रोग से बचने और उपचार दोनों में लाभप्रद है। तुलसी की पत्तियों को पानी में थोड़ी देर पड़ा रहने देने के बाद ऐसे पानी के सेवन से शरीर में जीवाणु रोधी क्षमता का विकास होता है। जावासा और पोहकर मूल जैसे ओषधीय पादपों के सेवन से भी प्लेग रोग में लाभ पहुँचता है।

अदरक, तुलसी की पत्ती और लौंग की चाय प्लेग में लाभकारी है। साथ ही अश्वगंधमूल, ऑवला, निम्बादबटी, अर्क पुष्पाद्वटी का सेवन भी प्लेग रोग से बचने में कारगर है। काली तुलसी की पत्ती और काली मिर्च के दाने प्रतिदिन चबाने से प्लेग से बचा जा सकता है। कपूर मिला सरसों का तेल 5-6 बूंद नाक में डालने से प्लेग के विषाणु श्वास द्वारा शरीर में नहीं पहुँचेंगे।

भोजन में हर व्यक्ति को आँवला, परवल और साबूत मूंग की दाल का नियिमित सेवन करना चाहिए। अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन ने वैद्य समुदाय के सलाह महाविरे के बाद आयुर्वेदिक दवाइयों और उपायों की सिफारिश की है।

होमियोपैथिक दवाओं द्वारा भी प्लेग का इलाज संभव है। रोग से बचाव के लिए टेरेंटूला, इग्नीशिया एक हज़ार पावर, अपर कूलिनम-टी दो सौ पावर, या आर्सेनिक एक हज़ार पावर की एक खुराक निरंतर एक हफ्ते तक ली जा सकती है। बायोकेमिक दवाओं में कैलीफास, फेरमफास, मैगनिशियमफास, नेट्रमम्यूर (थ्री एक्स एवं सिक्स एक्स), साइलिसिया सिक्स एक्स एवं थर्टीएक्स लिया जा सकता है।

भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय के अंतर्गत 'सेन्ट्रल काउन्सिल फॉर रिसर्च इन होमियोपैथी' के निदेशक डॉ. डी.पी. रस्तोगी के अनुसार 'फास्फोरस' 30 एक्स पावर की चार दिनों तक प्रतिदिन दो खुराक अथवा 200 पावर की पहली खुराक के बाद चार दिनों के अंतराल पर पुनः दूसरी खुराक प्लेग से सुरक्षा प्रदान करती है।

किन्तु सबसे अच्छा यही होगा कि रोग के लक्षण प्रगट होते ही समीप के चिकित्सक अथवा अस्पताल से अविलम्ब संपर्क करें।

प्लेग रोग के संबंध में यह आशंका भी व्यक्त की जा रही है कि यह विषाणुजन्य (caused by Virus) रोग हो सकता है। यह शोध का विषय है। वैसे प्लेग के टीके की खोज भी अनुसंधान का विषय है। इस दिशा में कार्य करने की संभावनायें भी हैं और आवश्यकता भी।

इतिहास साक्षी है कि इस घातक रोग के महामारी का रूप धारण करने के बाद तो सैकड़ों-हज़ारों लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा है, किन्तु कुछ छोटी-छोटी आम सावधानियां बरतने से प्लेग रोग से बचा जा सकता है। फिर क्यों न हम आप सभी कुछेक सावधानियां बरतकर रोग की चपेट में आने से बचें।

अपने घर और आस-पास की जगह को साफ़-सुथरा रखें। ध्यान रहे गंदगी इस रोग को फैलाने में मदद करती है।

चूना, डी डी टी, गैमेक्सीन से पिस्सू, मर जाते हैं। गंदी जगहों, कूड़े के ढेरों और घरों में इनका छिड़काव करें। कीटनाशक दवाओं का भी छिड़काव घरों में करें। मलिन बस्तियों में रोग के फैलने की आशंका अधिक रहती है अतएव ऐसी जगहों की सफ़ाई पर विशेष बल दें।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि पिस्सू रोग फैलाते हैं इसलिए पिस्सुओं से बचने के लिए नंगे पैर न घूमें। मोजे-जूतों का इस्तेमाल करें। मोजे घुटनों तक ऊँचे रहें तो ज्यादे अच्छा होगा। ज़मीन पर न सोयें। सोने के लिए डेढ़-दो फीट ऊँचे तखत, चारपाई या पलंग का इस्तेमाल करें।

खाने-पीने की चीजों को खुला न रखें, हमेशा ढँक कर रखें। पीने के पानी में पहले से तुलसी की पत्तियाँ डाल दें। अदरक, काली मिर्च और लहसुन का सेवन बढ़ा दें।

चूहे अधिक मर रहे हों अथवा किसी व्यक्ति में प्लेग के लक्षण दिखें तो इसकी सूचना स्वास्थ्य कार्यकर्ता को दें और रोगी को जल्दी से जल्दी किसी चिकित्सक के पास ले जायें। हाँ, रोगी को चिकित्सक के पास अथवा अस्पताल ले जाने के लिए सार्वजनिक वाहन का प्रयोग न करें।

प्लेग के रोगी व्यक्तियों की सेवा करने वाले व्यक्तियों को अपना मुँह मोटे कपड़े से भीली भाँति ढंककर रखना चाहिए। ध्यान रहे पतला रूमाल अथवा नम कपड़ों का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। उपरोक्त सभी बातें ऐसी हैं जिनका हम आसानी से पालन करके रोग को फैलने से रोक सकते हैं। ध्यान रहे कि प्लेग का पूरी तरह से इलाज संभव है और इससे भयभीत होने की ज़रूरत नहीं है।

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्नस्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पात्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं:

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु0, आधा पृष्ठ 100.00, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु0।

मूल्य

आजीवन : 200 रु0 व्यक्तिगत : 500 रु0 संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु0 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ0 डी0 डी0 नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	शाकुन्तल मुद्रणालय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री	सहायक सम्पादक	34, बलरामपुर हाउस	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद्, प्रयाग	डॉ. दिनेशमणि	इलाहाबाद–211002	इलाहाबाद- 211002

उष प्रताप कुमार

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915

नवम्बर 1994; वर्ष 80, अंक 8

प्रकाशक

डॉ० देवेन्द्र दत्त नौटियाल
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

■

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

■

सहायक सम्पादक
डॉ. दिनेशमणि

■

मुद्रक
शाकुन्तल मुद्रणालय
34, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद-211002

■

सम्पर्क
विज्ञान परिषद् , महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002
फोन नं: 608498

मूल्य

आजीवन: 200 रु. व्यक्तिगत; 500 रु. संस्थागत
त्रिवार्षिक: 60 रु.
वार्षिक: 25 रु.
एक प्रति: 3.50 रु.

विज्ञान विस्तार

■■■

हमें गंदगी से प्यार है, फिर महामारी से डर क्यों ?

प्रिय पाठकगण !

इन दिनों समाचार पत्र, आकाशवाणी और दूरदर्शन से मिले समाचारों से आपने भी राहत की सांस ली होगी। प्लेग जैसी महामारी पर भारत ने काबू पा लिया है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इस बात के लिए भारत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भारत सरकार के साथ-साथ अनेक देशों ने संतोष और प्रसन्नता व्यक्त की है। पर जरा सोचिए हम भारतवासी क्या वास्तव में इसके पात्र हैं ?

कहते हैं प्लेग रोग को गंदगी फैलाती है। और वास्तविकता यह है कि हमें गंदगी से प्यार है। अपना देश कूड़े-कचरे के ढ़ेर और बजबजाती नालियों का देश है। वैसे यह लिखते हुए मेरी गर्दन शर्म से झुकी हुई है। पर क्या करें, सच्चाई तो सच्चाई ही रहेगी। सूरत शहर, जहाँ से यह रोग फैलना शुरू हुआ, देश का सर्वाधिक गंदा शहर है। सूरत ही क्या कमोवेश सभी भारतीय शहरों का यही हाल है।

सो प्लेग पर एक बार फिर से काबू पा लिया गया है, यह सोचना भारी भूल होगी। 28 वर्षों के लम्बे अंतराल के बाद प्लेग की वापसी इस बात का संकेत है कि महामारियाँ वापस आ रही हैं। मलेरिया, निमोनिया, काला आज़ार और क्षय जैसे रोगों की विभीषिका भारत में निरंतर बढ़ती जा रही हैं। 1977 में काला आज़ार के 18,689 मामले सामने आये थे, पर 1991 में 50,745 मामले ज्ञात हुए। 1961 में मलेरिया ने जहाँ 50,000 लोगों को अपनी चपेट में ले लिया था वहीं 1993 में मलेरिया के 80 लाख रोगी थे। और तो और प्रतिवर्ष 11 लाख लोग क्षय रोग से ग्रस्त पाये जाते हैं। मलेरिया वाहक **एनोफेलीज़** मच्छरों पर डी डी टी प्रभावी नहीं रहा। 'कछुए', 'मुर्गे' जैसी मच्छरमार दवाओं के धुयें में अब मच्छर 'मटरगश्ती' करते देखे जा सकते हैं। रोग पैदा करने वाले अनेक प्रकार के जीवाणुओं पर प्रतिजैविकों (एन्टीबायोटिक्स) का अब असर कम या समाप्त हो गया है। जीवाणुओं ने प्रतिरोध क्षमता विकसित कर ली है। और हम हैं कि गंदगी को निरपेक्षा भाव से बढ़ाते ही जा रहे हैं।

शहरों में हर ओर गंदगी ही गंदगी दिखती है। मल-मूत्र और कूड़ा-करकट सभी जगह बिखरा रहता है। दुर्गन्ध आती रहती है। इन कूड़े के ढ़ेरों पर सुअर और बीमार मवेशी 'आराम फर्माते' देखे जा सकते हैं।

चौकिए नहीं, हर रोज़ दिल्ली शहर के 17 से अधिक नाले यमुना नदी में 170 करोड़ लीटर गंदा और विषैला पानी डालते हैं। बम्बई महानगर की हालत तो और भी चिंतनीय है। लगभग 2 वर्ष पूर्व विज्ञान लेखन की एक कार्यशाला में मुझे बम्बई (भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, ट्राम्बे) जाने का अवसर मिला था। मैं बांद्रा में कार्टर रोड पर फिल्म अभिनेता राजेश खन्ना के बंगले के बगल में वेस्टर्न रेलवे स्टेट (पिन-400050) में अपने मित्र श्री बलदाऊ जी श्रीवास्तव के निवास पर ठहरा था। प्रतिदिन बांद्रा से ट्राम्बे जाना होता था। रास्ते में लगभग 4 किलोमिटर मार्ग में मलिन बस्तियों से ऐसी दुर्गंध आती थी कि बिना नाक पर रूमाल रखे वह रास्ता पार नहीं किया जा सकता था।

जून 1993 में इलाहाबाद में आये बम्बई के तत्कालीन मेयर श्रीरामचरिस रामभजन सिंह की सूचना तो और भी चौकाने वाली है। बम्बई शहर की सड़कों और गलियों का 4000 टन कचरा, जिसे प्रतिदिन 7,000 सफ़ाई मज़दूर एकत्र करते हैं, सीधे सागर में झोंक दिया जाता है। इससे आप सहज ही सागर प्रदूषण का अनुमान लगा सकते हैं।

हमें अस्पतालों की गंदगी तो खराब लगती है, पर अपने घर का कूड़ा हम पड़ोसी के पिछवाड़े फेंककर प्रसन्न होते हैं। चलो अपना घर तो साफ़ हो गया। हम सफ़ाई की बात तो करते हैं, पर सफ़ाई से संबंधित छोटी-छोटी हिदायतों को

नज़रअंदाज़ कर देते हैं। वैसे यह एक सच्चाई है कि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में हम चाहे जितनी भी प्रगति कर लें, जब तक सफ़ाई से हमें प्यार नहीं होगा, हम उन्नत देशों की तुलना में पिछड़े ही रहेंगे, क्योंकि सफ़ाई से मिलता अच्छा स्वास्थ्य। और किसी भी देश की वास्तविक ताक़त होती है, उस देश के निवासियों का अच्छा स्वास्थ्य।

अतएव आवश्यकता है दैनिक जीवन में साफ़-सफ़ाई का पालन। कूड़े-कचरे का सही निपाटान, भूमिगत सीवेज व्यवस्था, वैज्ञानिक ढंग से बने शौचालय, कचरा संशोधन संयंत्र स्थापित करने की योजनाओं का कार्यान्वयन। और सफ़ाई की जगह यदि हमें गंदगी से ही प्यार है, तो महामारियों से डरना क्या?

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

■■■

नई किरणें

□ *डॉ० अशोक रंजन सक्सेना*
अध्यक्ष
शहरी एवं ग्रामीण पर्यावरण सभा 'क्योर'
छाया-स्मृति 148-बी, बाघम्बरी गृह योजना
इलाहाबाद-211006

नई किरणें रोशनी जैसी बनी हैं,
तीव्र तापन ज्योति पुंजों से घनी हैं,
सूर्य की किरणें धरा पर फैलती हैं,
नई किरणें चन्द्रमा तक दौड़ती हैं,
भेजतीं उत्तेजना परमाणुओं को,
फेंकतीं संसक्त एकवर्णी किरण वो,
सूक्ष्मता से सतह में जा छिद्र करतीं,
धातुओं को काट देतीं-जोड़ देतीं,
धुंध में ये बादलों की टोह लेतीं,
रास्ते में यान को भी मोड़ देतीं,
उपग्रह से नए अनुपम चित्र लेतीं,

हर तरफ़ उपयोगिता अपनी बतातीं,
वर्णक्रम की सूक्ष्मता बिखराव का अब,
रोशनी के अरैखिक फैलाव को अब,
अनवरत स्पन्द में समझा गया है,
ज्ञान का अध्याय ये अद्‌भुत नया है,
वस्तुओं के नए होलो चित्र होंगे,
चित्र भी आकार लेकर के चलेंगे,
मेमोरी, लिडार, कोलिडार होंगे,
दूर तक बेतार के संचार होंगे,
नव सदी में नेत्रहीन समर्थ होकर,
आँख में लेसर लगा पुस्तक पढ़ेंगे।

■■■

परमाणु की क़िलेबंदी
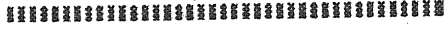
□ *वीरेन्द्र कुमार पाण्डेय*
स्नातक, अन्तिम वर्ष, सांख्यिकीय आनर्स
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–5

परमाणु राजसी ठाट-बाट वाला है। जिस प्रकार राजा अपनी सुरक्षा के लिए किले के भीतर रहता है उसी प्रकार परमाणु भी। इसका दीवानयेख़ास बहुत छोटे स्थान में भीतरी भाग में व्यवस्थित होता है, जिसमें राज-पुरुष प्रोटॉन और न्यूट्रॉन निवास करते हैं। बाहर की ओर सुरक्षा के सैनिक-इलेक्ट्रॉन नित्य एक विशेष मार्ग में चक्कर लगाया करते हैं, और आक्रमण के समय आवेशित द्रुतगामी कणों से टक्कर लिया करते हैं। इस प्रकार राज-परिवार के सदस्य सुख की गहरी नींद सोते हैं। इस क़िलेबन्दी की व्यवस्था परमाणु की बाह्य रचना में सहायक होती है। यह व्यवस्थ बड़ी ही जटिल है, और परमाणु के विभिन्न गुणों– रासयनिक स्पेक्ट्रमीय और चुम्बकीय विशेषताओं के द्योतक हैं। इस व्यवस्था को प्रकृति के द्वैतवाद सिद्धान्त से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

परमाणु जगत् में बड़ी विभिन्नताएँ हैं, फिर भी उनमें समानताएँ भी पायी जाती हैं। इस भूतल पर लगभग एक सौ तत्वों का अस्तित्व है, और प्रत्यके तत्व का परमाणु भी अलग-अलग अपने किस्म का अनोखा है। फिर भी कुछ समानताओं के आधार पर विशेष वर्गों में बाँटा गया है। एक वर्ग के परमाणुओं की क़िलेबन्दी भी एक समान होती है। इस प्रकार इनमें सहयोग का बोल-बाला है और विरादराना रिश्ता चलता है। उदाहरणार्थ, ताँबा, चाँदी और सोना-इन सबसे बाहरी पंक्ति में दस इलेक्ट्रॉन, "डी" श्रेणी के हैं। यह श्रेणी क्या चीज़ है ? सभी इलेक्ट्रॉन बाह्यजगत् में एक जैसे, किन्तु जब परमाणु राज्य की सेवा में नियुक्त होते हैं तो उन्हें श्रेणी-एस, पी, डी, एफ नाम की दी जाती है। उनकी आज़ादी जाती रहती है, वे अपनी श्रेणी के अनुरूप व्यवहार करते सतत् सेवा में केवल हाज़िर ही नहीं रहते, गश्त लगाया करते हैं, सो भी विशेष पथ पर। तनिक क्विचलित नहीं होते। यह है उनकी सेवा वृत्ति। प्रहार एवं उत्पीड़न के फलस्वरूप मज़बूर हो कभी-कभी पथ-भ्रष्ट भी हो जाते हैं, और तब मुक्त एवं स्वतंत्र, स्वतंत्र नागरिक की तरह जो चाहें करें। इन सेवक इलेक्ट्रॉनों की एक कमज़ोरी है, ऋण आवेश के कारण धन आवेश वाले कणों के प्रति उनकी स्पृहा। जहाँ कहीं फिर धन आवेश के निकट आये, फिर सेवा-रत। अर्थात् ऋण-धन आकर्षण-धर्म परमाणु-जगत् को संभाले हुए हैं।

परमाणु की इस क़िलेन्दी को समझने के लिये पहले छोटे परमाणुओं का अध्ययन ठीक होगा। हाइड्रोजन का परमाणु सबसे हल्का और साधारण कोटि का होता है। इसके राजमहल में केवल एक सदस्य प्रोटॉन होता है। वास्तव में प्रोटॉन ही राजपुरुष होता है, क्योंकि प्रत्येक राजपुरुष का एक सेवक इलेक्ट्रॉन होता है, जो बाहर पहरेदारी पर रहता है। इस इलेक्ट्रॉन की श्रेणी "एस" होती है, जो इसके पथ को नियंत्रित करती है। अकेले एक सेवक के लिए पहरेदार का काम बड़ा कठिन है–सभी दिशाओं में समान रूप से इसे गश्त लगाना पड़ता है, वह भी बड़ी तेज़ रफ़्तार से एक वक्राकार मार्ग का अनुसरण करते हुए, किन्तु धरातल परिवर्तित करते हुए। आकाश-यात्रा करते हुए जिस प्रकार की कलाबाज़ियाँ दिखाई जाती हैं, उसका सूक्ष्म रूप इस इलेक्ट्रॉन में देखा जा सकता है। "एस" इलेक्ट्रॉन के कक्ष में एक स्थान और रिक्त रहता है, क्योंकि 'पाउली-सिद्धान्त' द्वारा बोधित केवल दो ही इलेक्ट्रॉन इस कक्ष में समावेश पा सकते हैं। यह एक अलग पहेली है। इसी प्रकार "पी" कक्ष में छः, "डी" कक्ष में दस और "एफ" कक्ष में अधिक से अधिक चौदह इलेक्ट्रॉन रह सकते हैं। हाइड्रोजन के बाद का तत्व भार के अनुसार "हीलियम" है। इसमें इसी "एस" कक्ष में दो इलेक्ट्रॉन पाये जाते हैं। इस प्रकार कक्ष भरा पूरा दीखता है, और इलेक्ट्रॉन पूर्ण साहचर्य प्राप्त कर संतुष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार हीलियम संतोषी परमाणु है, जिसके सेवक इधर-उधर भटकने का लोभ नहीं करते। परिणाम यह होता है कि अन्य तत्वों से मिलने-जुलने की चाह भी जाती रहती है

और तत्व "अकर्मण्य" हो जाता है। जब कभी इलेक्ट्रॉन-कक्ष में भरा-पूरा परिवार हो जाता है तो "अकर्मण्यता" आ जाती है। उसे अब दूसरों से क्या मतलब ? नीऑन, आरगॉन, जीनांन, गैसें भी इसी बिरादरी में हैं। अन्तर केवल इतना है कि बाहरी श्रेणी इनमें "पी" इलेक्ट्रॉन की होती है, जिसमें छः इलेक्ट्रॉन पाये जाते हैं। हीलियम का द्रव्यमान हाइड्रोजन के द्रव्यमान का चौगुना होता है, जो केवल दो प्रोटॉन से पूरा नहीं पड़ता इसलिए दो न्यूट्रॉन भी राज-महल में द्रव्यमान बढ़ाने के लिये निवास करते हैं। इन्हें सेवकों की ज़रूरत नहीं और न इनमें बिजली का तेज ही होता है। 'सबके दाता राम' में इनका विश्वास होता है। ये चुपचाप पड़े रहते हैं, किन्तु वक्त आने पर ये बड़ी करामात दिखाते हैं, और कभी-कभी चोला बदल "प्रोटॉन" का रूप भी धारण कर लेते हैं। प्रोटॉन और न्यूट्रॉन का आपसी सम्बन्ध भी आज तक रहस्य बना हुआ है। राजमहल में इनमें भेद-भाव नहीं होता अर्थात् न्यूट्रॉन की न्यूट्रॉन के साथ या प्रोट्रॉन के साथ समान व्यवहार। प्रोट्रॉन का प्रोट्रॉन के साथ या न्यूट्रॉन के साथ वही व्यवहार। वास्तव में इन्हें "न्यूक्लियॉन" की संज्ञा मिली है, जिसमें प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन दोनों शामिल हैं। एक दूसरे पर न्योछावर होने वाले ये न्यूक्लियॉन त्याग और बलिदान के मूर्त रूप हैं। राज-महल की सुदृढ़ दीवारें उनकी हड्डियों से निर्मित हैं। तभी तो उन्मुक्त दो प्रोटॉन और दो न्यूट्रॉन का द्रव्यमान हीलियम के द्रव्यमान से अधिक होता है। यह क्या बड़ी विडम्बना है। यदि हीलियम के न्यूक्लियस को तोड़कर इन चार जवानों को बाहर कर देखें तो द्रव्यमान बढ़ जायेगा। इस प्रकार यह आंशिक द्रव्यमान प्रकट हो शक्ति में रूपान्तरित हो हीलियम के न्यूक्लियस को संभालता है। इसीलिए तो 'दधीचि' के समान इनकी हड्डियों से राज-महल का निर्माण हो पाया है। यही क्रम जारी रहता है। राज महल का निर्माण और सेवकों द्वारा बाहरी क़िलेबन्दी। तब कहीं जाकर राज-परिवार के सदस्य सुख की नींद सो पाते हैं।

परमाणु की रचना में दो प्रकार के कण पाये जाते हैं– न्यूक्लियॉन और इलेक्ट्रॉन। न्यूक्लियॉन तो केन्द्र में राजमहल में रहते हैं और बाहरी भाग में इलेक्ट्रॉन सेवक की तरह विभिन्न मार्गों से गश्त लगाते रहते हैं। भार के अनुसार सबसे हल्का हाइड्रोजन तत्व और फिर हीलियम होता है। उनके परमाणुओं की किलेबन्दी हम देख चुके हैं। उनमें पाई जाने वाली व्यवस्था ही जारी रहती है, केवल उत्तरोत्तर राजमहल में निवास करने वाले सदस्यों की संख्या तथा बाहरी गश्त लगाने वाले सेवकों की संख्या में वृद्धि होती है। इस प्रकार अन्य तत्वों के परमाणुओं की बनावट होती चलती है। इसमें मुख्य बात यह है कि जैसे संख्या बढ़ती है, राजमहल का आकार-प्रकार और सेवकों के मार्गों की जटिलतायें बढ़ती हैं। परमाणु की बनावट का यह रूप सन् 1913 ई. में **बोर** नामक वैज्ञानिक द्वारा प्रतिपादित किया गया। बोर एक ऋषितुल्य व्यक्ति थे। वर्षों पहले वे वाराणसी भी आये थे। ज्ञानगरिमा ने बड़ा नम्र एवं सौम्य बना रखा था। वह युवावस्था में प्रोफेसर **रदरफोर्ड** के साथ शोधकार्य करने गये। रदरफोर्ड ने ही परमाणु-रचना की ग्रह जैसी कल्पना कर रखी थी, किन्तु एक बाधा थी। इलेक्ट्रॉन जब एक वृत्ताकार मार्ग से अथवा दीर्घ वृत्ताकार मार्ग से घूमता है तो उसमें त्वरण पैदा होता है, जिसके कारण ऊर्जा उत्सर्जित करेगा और फलस्वरूप अपने स्थिर मार्ग पर टिक नहीं पायेगा। क्रमशः वह न्यूक्लियस के समीप आता जायेगा और वहाँ तक जाकर परमाणु का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा। इस दुर्घटना को कैसे रोका जा सकता है? यही प्रश्न समझना था। परमाणु जगत् में यह दुर्घटना नहीं घटित होती, क्यों ? इसी का उत्तर 'बोर सिद्धान्त' द्वारा मिला था, जो हाइड्रोजन के परमाणु के वास्ते 1913 में बोर ने प्रतिपादित किया और अन्य परमाणुओं की रचना की आधारशिला खड़ी की। उसने बताया कि केवल शास्त्रीय भौतिकी परमाणु-रचना की गुत्थी सुलझाने में समर्थ नहीं है, क्वान्टम भौतकी का भी उपयोग करना चाहिये। उसने मान लिया कि जब तक इलेक्ट्रॉन अपने स्थिर कक्ष में रहता है, वह ऊर्जा उत्सर्जित नहीं करता है। यह धारणा बड़ी कठिन है, किन्तु ठीक बैठती है। बाद में चलकर नूतन क्वान्टम यांत्रिकी के आधार पर इसकी यथार्थता भी देखी जा सकी। बोर की दूसरी बिप्लवकारी धारणा है कि जब बाहर ऊर्जा मिलती है तो एक कक्ष से दूसरे कक्ष में इलेक्ट्रॉन ऊर्जा प्राप्त कर उत्तेजित स्थित में आ जाता है, फिर ऊर्जा विसर्जित कर स्थिर कक्ष में आ जाता है। इस प्रकार विसर्जित ऊर्जा प्रकाश के रूप में प्रगट होती है।

हाइड्रोजन परमाणु द्वारा जो प्रकाश विसर्जित होता है उसका सामंजस्य इस सिद्धान्त से बैठ जाता है। जब प्रायोगिक परिणाम

द्वारा किसी सिद्धांत की पुष्टि होती है तो उसमें विश्वास हो जाता है। यही बात 'बोर सिद्धान्त' के बारे में भी है। सन् 1926 में जब इन इलेक्ट्रॉन से संबंधित तरंगों का पता चला तो उसके आधार पर इन स्थिर कक्षों का अस्तित्व समझा जा सका, क्योंकि एक पक्ष में तरंगों की पूर्ण संख्या होनी चाहिये।

इस क्वान्टम-भौतिकी के आधार पर हम इलेक्ट्रॉन की श्रेणियों- एस, पी, डी, एफ, पर विचार करेंगे। जैसा कि कहा जा चुका है, इलेक्ट्रॉन परमाणु राज्य के सेवक मात्र हैं। सेवा में श्रेणियाँ होती ही हैं, कोई हवलदार कोई सूबेदार। जिस प्रकार विभिन्न सैनिकों की पहचान उनकी पोशाक और तमगे आदि से होती है, उसी प्रकार इलेक्ट्रॉनों की पहचान विभिन्न क्वान्टम संख्याओं से होती है, जो प्रत्येक परमाणुवीय इलेक्ट्रॉनों को दी जाती है। यह संख्यायें चार हैं, प्रत्येक इलेक्ट्रॉन का परिवेश उसकी दी गई चार क्वान्टम संख्याओं से निश्चित होता है। सेना में भी सैनिकों को संख्या से जाना जाता है, जैसे राजपूत रेजिमेंट 3578। इसी प्रकार यहाँ पर भी रेजिमेंट की जगह कक्ष संख्या और तल श्रेणी एस, पी, डी, आदि हैं। जैसे प्रत्येक सैनिक की संख्या अलग होती है, उसी प्रकार प्रत्येक इलेक्ट्रॉन की संख्या अलग है। दो इलेक्ट्रॉन समान संख्या वाले नहीं होते। यहाँ पर चार प्रकार की संख्याओं में से विभाजन होता है, पहली पूर्ण क्वान्टम संख्या है जो कक्ष की द्योतक है, फिर श्रेणी की द्योतक और तब फिर दो अन्य की। यह दो अन्तिम संख्यायें इलेक्ट्रॉन के मार्ग को कक्ष मे निर्धारित करती हैं। इतनी फौज़ी ज़ाब्ता उन्हें बरतनी होती है, कड़ा नियंत्रण कठिन कार्य, तब कहीं परमाणु की सुरक्षा हो पाती है। संख्याओं के विभाजन की इसी व्यवस्था के फलस्वरूप जिसे "पाउली सिद्धान्त" कहते हैं, किसी भी कक्ष में इलेक्ट्रॉन की अधिकतम संख्या निश्चित होती है। संक्षेप में परमाणु के क़िलेबन्दी की यही कहानी है।

आइये ! अब इसके आधार पर हीलियम के बाद वाले तत्वों के परमाणुओं पर विचार करें। तत्व का परमाणु इसके बाद आता है जिसके केन्द्र में चार न्यूट्रॉन और तीन प्रोटॉन है, इसलिये तीन इलेक्ट्रॉन बाहरी भाग में होने चाहिये, जिन्हें 1 एस, 2 एस के द्वारा व्यक्त करेंगे। इस प्रकार 2 एस कक्ष में फिर अकेला इलेक्ट्रॉन है, जबकि दो के लिए स्थान है। इसी प्रकार सोडियम, पोटेशियम आदि में, जिन्हें क्षारीय तत्व कहते हैं यही स्थिति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो तत्वों में विरादराना है, वास्तव में इलेक्ट्रॉन के विभाजन की समतापर अवलम्बित है। जिस प्रकार विभिन्न देश शासन-प्रणाली के आधार पर एक जैसे कहे जाते हैं उसी प्रकार एक वर्ग में आने वाले सभी तत्वों के परमाणुओं की क़िलेबन्दी एक जैसी होती है। क्रमशः क़िले के बाह्य भाग में इलेक्ट्रॉन रूपी सैनिकों की संख्या और तत्सम्बन्धी राज-महल के भीतर प्रोट्रॉन-न्यूट्रॉन रूपी राज-पुरुषों की संख्या बढ़ती जाती है, जिससे अन्ततोगत्वा परमाणु का क़िला भारी भरकम हो जाता है। यूरेनियम परमाणु इतना भारी है कि इसमें न्यूक्लियॉन की संख्या 233, 234 या 238 तक पहुँच जाती है। जिस प्रकार साम्राज्य बहुत बढ़ जाने पर सुरक्षा का प्रश्न जटिल होता जाता है, वही बात यहाँ पर भी है। षड्यन्त्र प्रमाद, द्वेष आदि भीतराग्नि भी ऐसे समय प्रज्वलित हो उठती हैं और साम्राज्य विघटन की दिशा की ओर उन्मुख हो जाता है। परमाणु क़िले की भी यही बात है। 1939 में **हैन, स्ट्रैसमैन, माइटनर** आदि वैज्ञानिकों ने न्यूट्रॉन के द्वारा आघात पहुँचाकर यूरेनियम परमाणु का विघटन कर दिया, और इस प्रकार एक क़िले के दो भाग हो गये। इसमें एक बेरियम का परमाणु था जिसमें 139 न्यूक्लियॉन थे। साथ ही 20 करोड़ इलेक्ट्रॉन बोल्ट ऊर्जा भी प्राप्त हुई। "घर का भेदी लंका ढाहे" वाली कहावत चरितार्थ हुई। क़िलेबन्दी दो जगह अलग-अलग हो गयी, फर्क इतना ही था। इसी क्रिया ने आगे चलकर ऐटम बम को जन्म दिया, और आजकल परमाणु शक्ति के कई शान्तिमय उपयोग इसी के आधार पर हो रहे हैं।

■■■

कृषि में रिमोट सेंसिंग का योगदान
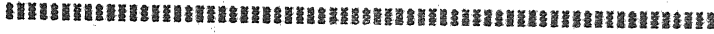
□ *आदेश कुमार श्रीवास्तव*
शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान,
इलाहाबाद-21 002

भारत एक कृषि प्रधान देश है। इसकी आबादी अट्ठासी करोड़ है। भारत की दो तिहाई जनता किसी न किसी प्रकार से कृषि से जुड़ी हुई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कृषि में सुधार को भारत सरकार ने प्रमुख उद्देश्य रखा। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में अपने उद्देश्यों को कुछ हद तक प्राप्त किया, परन्तु तृतीय पंचवर्षीय योजना में मूल विकास में उल्लेखनीय प्रगति हुई और परिणामस्वरूप 'हरित क्रान्ति' प्रकाश में आई। भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा उच्च तकनीक और रिमोट सेंसिंग तकनीक के प्रयोग से 'हरित क्रान्ति' में आश्चर्यजनक बदलाव आया और लोगों को स्वरोज़गार की ओर आने के लिए प्रेरित किया। मौसम संबंधी जानकारी इकट्ठा करना, भविष्य में आने वाली प्राकृतिक आपदाएँ अकाल, बाढ़ की पूर्व सूचना प्राप्त करने, अनुपयोगी भूमि का पता लगाने जैसी अनेकानेक सूचनायें रिमोट सेंसिंग द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं।

रिमोट सेंसिंग

रिमोट सेंसिंग का अर्थ विज्ञान की उस शाखा से है जिसके अन्तर्गत् मनुष्य की प्राकृतिक क्षमता से परे अध्ययन किया जाता है, अर्थात् किसी ऐसे स्थान के संबंध में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना, जो अत्यधिक दूर हो और मानव की पहुँच से परे हो। वैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने गुणों के कारण एक निश्चित प्रकार की विकिरण उत्पन्न करती है। अलग-अलग वस्तुओं से अलग-अलग प्रकार की तरंग दैर्ध्य की विकिरण निकलती है और सभी के अपने अलग-अलग रंग होते हैं। इन विकिरणों को उपग्रह में लगे फोटोग्राफिक प्लेट द्वारा सीधे चित्रित किया जाता है। यह अवधारणा ही रिमोट सेंसिंग का मुख्य आधार है।

भारत में सर्वप्रथम भास्कर-I और भास्कर-II जो कि क्रमशः 1979 और 1981 में छोड़े गये थे, को छोड़कर इस दिशा में उल्लेखनिय प्रगति की, परन्तु कई वर्षों बाद 1988 में IRS-1A तथा 1991 में IRS-1B नामक रिमोट सेंसिंग उपग्रहों को कक्षा में स्थापित कर चुका है, जिसकी रिसल्यूशन क्षमता 36 m और 72 m के कोटि की है। ये प्रति ग्यारह दिन पर आँकड़े भेजते हैं। भारत द्वारा छोड़े गये रिमोट सेंसिंग उपग्रहों द्वारा पिछले दो वर्षों में महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिली हैं।

रिमोट सेंसिंग तकनीक से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं–

(1) इन उपग्रहों से प्राप्त आँकड़े, आंकिक और चित्रात्मक दोनों ही रूप में होते हैं।

(2) इन उपग्रहों से भू-धरातल से सम्बन्धित किसी भी भाग से आँकड़े, अतिशीघ्र प्राप्त किये जा सकते हैं।

(3) इन उपग्रहों द्वारा उस भाग से आँकड़े प्राप्त करने में सहायता प्राप्त होती है जहाँ मानव को पहुँचने में कठिनाई होती है।

(4) इसके द्वारा प्राप्त मानचित्र से भू-धरातल के किसी भी भाग की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त हो सकती है।

कृषि में रिमोट सेंसिंग का उपयोग

फ़सल के संबंध में अनुमान लगाने एवं बीमारियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने हेतु

फ़सल के संबंध अनुमान लगाने हेतु किसी खेत की परावतर्तन क्षमता को सेंसरों द्वारा प्लाट कर दिया जाता है और इसकी तुलना स्वस्थ पौधों की परावर्तन क्षमता से की जाती है। इसके पश्चात् अनुमान लगाया जाता है कि फ़सल किस प्रकार की है। प्रायोगिक तौर पर, अन्तरिक्ष उपयोग केन्द्र, अहमदाबाद, इन्स्टीट्यूट ऑव रिमोट सेंसिंग ऑव अन्ना यूनिवर्सिटी तथा तमिलनाडु सरकार के कृषि मंत्रालय ने संयुक्त रूप से तमिलनाडु में चावल उत्पादन वाले क्षेत्रों का अध्ययन किया, जिसके काफ़ी अच्छे परिणाम देखने को मिले हैं। पंजाब व हरियाणा के कुछ

ज़िलों में भी गेहूँ उत्पादक क्षेत्र के आँकड़े उपग्रहों द्वारा प्राप्त किये गये। इसके भी परिणाम उत्साहवर्धक रहे।

भारत में अधिकांश किसान अशिक्षित हैं, जिसके कारण पौधों पर रोग के पूर्व लक्षण का पता नहीं चल पाता। कृषक को तो तब पता चलता है, जबकि पौधा पूर्ण रूप से रोगग्रसित हो जाता है। किन्तु रिमोट सेंसिंग तकनीक द्वारा रोग का शीघ्र पता लगाया जा सकता है। वैज्ञानिकों द्वारा उपग्रहों से प्राप्त सूचनाओं को एकत्र कर कीटों और बिमारियों से छुटकारा पाने की युक्ति निकाली जा रही है।

वन संरक्षण हेतु

वन कृषि-उद्योग में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जंगलों में वृक्षों के अवैध विनाश को रोकने के लिए रिमोट सेंसिंग तकनीक काफी हद तक सफल हुई है।

मौसम संबंधी जानकारी

कृषि, मौसम पर आधारित है। यह मालूम होना आवश्यक है कि किस मौसम में कौन सी फ़सल उगाई जाये। लेकिन भारत में सभी स्थानों पर मौसम एक समय में समान नहीं रहता है। यही नहीं, मौसम की अनिश्चितता के कारण, तूफ़ान और चक्रवातों के कारण अपार धन-जन की हानि होती है। रिमोट सेंसिंग उपग्रहों द्वारा अब मौसम संबंधी जानकारी समय से पहले प्राप्त हो जाती है और संभावित हानि कम से कम होती है।

■■■

नदी की व्यथा

□ चन्द्र भूषण पाण्डेय
हिन्दुस्तान इनवायरनमेंट प्रोटेक्शन ग्रुप 167,
पुराना ममफोर्डगंज, इलाहाबाद–211002

मुझे मत रोको, मैं आगे जाऊँगी।
अपनी जिद छोड़ो, मेरी भी कुछ सुनो,
मुझे रोको मत, मैं आगे जाऊँगी।
क्यों पगलाते हो, क्यों होश गँवाते हो ?
क्या तुमने कभी अपनी धमनी के बहते खून को रोका है ?
नहीं तो आखिर तुम मुझे क्यों छेड़ते हो ?
मैं इस देश के भूमण्डल की धमनी हूँ,
प्राणवाहिनी हूँ मैं।
मैं तुम्हारे नित निरंतर भविष्य की जननी हूँ।
क्या तुम कल नहीं देखना चाहते हो ?
क्या तुम्हें अपनी संतानों से प्यार नहीं है ?
होश में आओ, झूठे विकास का जोश हटाओ।
बिजली से कब तक जिओगे ? भुजाओं की ऊर्जा लगाओ।
क्या तुम अपने इतिहास का उपसंहार लिखना चाहते हो ?
क्या तुम प्रकृति का संहार करना चाहते हो ?
हे मुनवंशियों क्यों विकास के नशे में चूर हो,
पहले अपने जीवन को बचाओ।
हम तुम्हारी जीवन संगिनी हैं, हमारा तुम्हारा सदियों का साथ है।
यही ऐसी बात है, जिसके चलते तुम्हारा इतिहास है।
बहुत हुआ, अब भी चेतो।
अभी तुम्हारे प्राण शेष हैं।
मुझे मत रोको, मैं आगे जाऊँगी।

■■■

मल-जल
मिट्टी के लिए अभिशाप नहीं बशर्ते ?
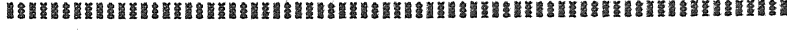
□ *सुनील कुमार पाण्डेय*
शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

पर्यावरण अनन्त तथा असीम है, जबकि मिट्टी उसका अंग। जीवन जिन चार महाभूतों के पारस्परिक प्रभाव पर निर्भर है, वे हैं- वायु, जल, अग्नि और मिट्टी। मिट्टी से ही भोजन तथा अनेक प्रकार का कच्चा माल मिलता है। क्या आपने कभी इस ओर भी ध्यान दिया है कि यदि मिट्टी न होती तो इस भूमण्डल पर निवास करने वाले अनेकानेक प्रकार के जीवों के भोजन की पूर्ति कैसे होती ? मिट्टी प्रकृति की एक ऐसी अमूल्य धरोहर है, जिसे संजोकर रखना इस धरा पर निवास करने वाले सर्वाधिक बुद्धिमान प्राणी मानव का नैतिक कर्तव्य है। परन्तु आज जैसे-जैसे हम विकास के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, मिट्टी की ओर उपेक्षापूर्ण व्यवहार अपनाते जा रहे हैं।

वर्तमान में हमारे देश की जनसंख्या 92 करोड़ के लगभग पहुँच गयी है। बढ़ती जनसंख्या के कारण घरेलू अपशिष्टों की मात्रा में लगातार वृद्धि हो रही है। शहरों में मानव द्वारा उत्सर्जित पदार्थ घरेलू नालियों से होकर सीवर लाइनों में पहुँच जाते हैं।

वह जल जिसमें मल-मूत्र मिला हो, मल-जल कहलाता है। यह मल-मूत्र किसी भी प्राणी का हो सकता है। शहर के गन्दे नालों का पानी वाहित मल-जल के नाम से जाना जाता है। इन नालों में घरेलू अपशिष्टों के अतिरिक्त औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा उत्सर्जित पदार्थ भी छोड़े जाते हैं। इन उत्सर्जित पदार्थों में भारी धातुएँ, जैसे-कैडमियम, क्रोमियम, लेड, आर्सेनिक, मरकरी आदि पाये जाते हैं, जो कि मृदा के लिए काफी हानिकारक होते हैं।

मल-जल का लगभग 90% भाग जल होता है, अतएव इसका उपयोग शहरों के निकट स्थित खेतों में फ़सलों की सिंचाई के लिए व्यापक स्तर पर किया जाता है। फलस्वरूप मल-जल में पायी जाने वाली भारी धातुएँ विभिन्न प्रकार के हानिकारक जीवाणु आदि भी खेतों में पहुँच जाते हैं। जल तो वाष्पीकरण, वाष्पोत्सर्जन आदि क्रियाओं द्वारा भाप बन कर उड़ जाता है। परन्तु उसमें पाये जाने वाले ठोस पदार्थ मृदा में संचयित हो हैं। इन पदार्थों के कारण मृदा के भौतिक, रसायनिक एवं जैविक क्रियाओं पर बुरा प्रभाव पड़ता है और मिट्टी 'बीमार' हो जाती है।

थोड़े समय तक तो ऐसा देखा गया है कि घरेलू मल-जल से सिंचाई करने पर तो मृदा-उत्पादकता पर प्रभाव अच्छा पड़ता है, परन्तु दीर्घकाल में यह काफी नुकसानदायक होता है। प्रायः लोग यह सोचते हैं कि मिट्टी में व्यर्थ पदार्थ डालने पर वह उसे विघटित करके उपयोगी रूप में बदल लेती है। परन्तु ऐसा सोचने से पूर्व हम यह भूल जाते हैं कि अपशिष्टों को विघटित करने की मिट्टी की अपनी एक सीमा है। मिट्टी यह कार्य सूक्ष्मजीवों की सहायता से कार्यान्वित करती है। सूक्ष्मजीव अपने कार्य का कुशल संचालन एक निश्चित परिवेश में ही कर पाते हैं। इसके लिए उचित पी एच (pH) मान, ताप व गैसों के उचित सान्द्रण की ज़रूरत होती है। वायुमण्डल के प्रदूषण के गिरफ़्त में कसते जाने के कारण मिट्टी के वायुमण्डल का संघटन भी बदल रहा है। फ़लस्वरूप मिट्टी में होने वाली जैव-रासायनिक क्रियाएँ प्रभावित हो रही हैं। यह स्वाभाविक ही है कि इससे मिट्टी प्रदूषण के गिरफ़्त में आने को बाध्य है। इतना ही नहीं, मिट्टी के प्रदूषित होने से बढ़ती जनसंख्या के समक्ष एक गम्भीर चुनौतीपूर्ण संकट आ रहा है।

ऐसा नहीं है कि मल-जल में केवल संदूषक ही पाये जाते हैं। इनके साथ ही, इनमें कुछ उपयोगी तत्व, जैसे- नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटाश, मैग्नीशियम, ज़िंक आदि भी पाये जाते हैं, जिनका मृदा उत्पादकता को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका

होती है। यही कारण है कि अल्पावधि में मृदा उत्पादकता में वृद्धि होती है। निम्न सारणी में मल-जल में पाये जाने वाले पोषक-तत्वों की सान्द्रता दर्शायी गयी है–

सारणी– मल-जल में पोषक तत्वों की औसत सान्द्रता

पोषक तत्व	औसत सान्द्रता (मिग्रा/लीटर)	
	अनुपचारित मल-जल	उपचारित मल-जल
कुल N	66.2	57.2
कुल P_2O_5	22.6	37.0
K_2O	42.1	17.6
Ca	182.0	–
Mg	568.0	–
Na	132.0	–
Fe	1273.0	856
Mn	344.0	205
Zn	685.0	89
Ni	87.0	50
Cu	112.0	68
Cr	87.0	25
Co	87.0	50
Cd	12.0	10
B	295.0	135

स्रोत : भारत सरकार की एक रिपोर्ट, 1981

उपचारित मल-जल में पोषक-तत्वों की सान्द्रता उपयोग में लाये गये उपचारक प्राविधि के अनुसार बदलता रहता है।

मल में उपस्थित प्रदूषक तत्वों की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है, कि उसमें डाले गये उपशिष्ट पदार्थों के स्रोत कौन-कौन से हैं तथा वह कितनी दूरी से आ रहा है। विभिन्न शोधों से यह ज्ञात हुआ है कि मल-जल जितना ही दूर से आता है, उसमें पाये जाने वाले प्रदूषक तत्वों की मात्रा भी उसी के अनुसार कम होती जाती है। अतएव यह आवश्यक है कि मल-जल का प्रयोग दूरस्थ क्षेत्रों में किया जाये।

मल-जल का प्रयोग प्राय: सिंचाई के लिए किया जाता है, किन्तु इसको सिंचाई के कार्य में लाने से पूर्व यह आवश्यक है कि उसकी गुणवत्ता की जाँच की जाय और तदनुसार उसको उपचारित किया जाये। शहरों में घरेलू मल-जल व उद्योगों द्वारा वाहित अपशिष्ट पदार्थों को समाप्त करने के लिए उपचारक संयन्त्र लगाना आवश्यक है। मल-जल का तनुकरण इस दिशा में एक सार्थक प्रयास है, क्योंकि 1:1000 तक की तनुता मिट्टी के लिए सुरक्षित रहती है।

मल-जल, सूर्य के प्रकाश में शैवालों की वृद्धि को काफी प्रोत्साहित करता है। इसके लिए नील-हरित शैवाल की अनेक

जातियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं। नील-हरित शैवाल अपनी संख्या में वृद्धि करके नाइट्रोजन स्थिरीकरण का कार्य करने के साथ ही मल-जल में व्याप्त भारी धातुओं की सान्द्रता को भी कम करते हैं। इस प्रकार, इनका प्रयोग जैव-उर्वरक के रूप में तथा मल-जल को सिंचाई के कार्य में उपयोगी बनाने हेतु उपचारक के रूप में कर सकते हैं।

जलकुम्भी (Eichhonia crassipes, Faily Pontederiaceae) एक जलीय पौधा है। यद्यपि यह पर्यावरण की दृष्टि से हानिकारक माना गया है, तथापि यह मल-जल को उपचारित करने में काफी उपयोगी पाया गया है। यह मल-जल में विद्यमान प्रदूषक तत्वों का अवशोषण करने में काफी हद तक सक्षम होता है। उपचार के पूर्व तथा उपचार के बाद मल-जल में प्रदूषक तत्वों में कमी जलकुम्भी की विलक्षण अवशोषण क्षमता को प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त जलकुम्भी को वायोगैस ऊर्जा, खाद तथा काग़ज़ के मिलों में कच्चे माल के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार, जलकुम्भी को लाभदायक पादप के रूप में बदलकर हानिकारक पादप (खरपतवार) की अवधारणा को निर्मूल सिद्ध किया जा सकता है।

मल-जल को उपचारित करने में कार्बनिक पदार्थों का ऑक्सीकरण एक महत्वपूर्ण तरीका है। इसके लिए जैविक उपचार प्रक्रिया विधि प्रयोग में लायी जाती है। इस विधि में कार्बनिक पदार्थों के ऑक्सीकरण के लिए सूक्ष्मजीवों को प्रयोग में लाया जाता है। ऑक्सीजन की उपस्थिति में वायुजीवी उपचार तथा ऑक्सीजन की अनुपस्थिति में अवायुजीवी उपचार किया जाता है। वायुजीवी सूक्ष्मजीवों को ऑक्सीजन की ज़रूरत होती है, अतएव ये जल के सतह पर रहकर ऊपरी गन्दगी पर निर्वाह करते हैं। इसके विपरीत अवायुजीवी सूक्ष्मजीव, जिनको ऑक्सीजन की ज़रुरत नहीं होती, जल की तली पर रहकर भारी होने के कारण तली में बैठ जाने वाले गन्दगी पर निर्वाह करते हैं।

इन सभी के अतिरिक्त मल-जल को उपचारित करने के लिए अन्तः स्राव विधि, सेप्टिक टैंक विधि तथा उत्प्रेरित अवमल विधि भी प्रयोग में लायी जाती है। उत्प्रेरित अवमल विधि से उपचारित मल-जल सामान्य जल की तरह स्वच्छ होता है, परन्तु उसमें नाइट्रेट की मात्रा अधिक होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपचारित मल-जल, मिट्टी के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसके लिए आवश्यकता यह है कि प्रत्येक शहर में मल-जल को उपचारित करने की व्यवस्था हो, जिससे कि इसे बिना किसी सोच विचार के खेतों में सिंचाई के लिए प्रयोग किया जा सके। इससे एक लाभ यह भी है कि इससे सिंचाई करने पर खेतों में अलग से खाद अपेक्षाकृत कम मात्रा में देनी पड़ती है।

■■■

'क्योर' संस्था का गठन

नवगठित 'क्योर' (CURE) नामक समाजसेवी संस्था (शहरी एवं ग्रामीण पर्यावरण सभा) के अध्यक्ष डॉ. अशोक रंजन सक्सेना की सूचना के अनुसार इस संस्था ने पिछले दिनों रंजीत इण्टर कॉलेज, लोहगरा, तहसील बारा के परिसर में कुछेक चिकित्सकों, कॉलेज के प्राचार्य, शिक्षकों आदि की सहायता से ग्रामवासियों में पर्यावरण के प्रति चेतना जाग्रत करने के साथ ही साथ स्वास्थ्य एवं चिकित्सा संबंधी अनेक प्रशंसनीय कार्य किए हैं।

सूक्ष्मतम छन्नियाँ

□ *डॉ० रमेश चन्द्र कपूर*
8, रेजिडेंसी रोड, जोधपुर (राजस्थान)

मिश्रित यौगिकों को पृथक करने की प्रक्रिया से रसायनज्ञ प्रायः जूझते रहते हैं। कभी तो वायुमण्डल रंगरहित, गंधरहित गैस मिश्रण में से शुद्ध ऑक्सीजन और नाइट्रोजन प्राप्त करना होता है तो दूसरी ओर प्रकृतिक गैस से दुर्गंधित हाइड्रोजन सल्फाइड को पृथक करना आवश्यक हो जाता है। भूमि खनन द्वारा उपलब्ध अनगिनत खनिजों से तत्वों तथा यौगिकों का विलगन भी रसयनज्ञ ही करते हैं। 'समुद्र मन्थन' द्वारा सहस्रो लवण एवं अन्य पदार्थो को परिमार्जित कर उपयोगी रूप में उपस्थित करना भीं उन्हीं का दायित्व है। फफूँद जैसे अनेक पदार्थों से जीवन रक्षक ओषधियों को वे ही निर्मित करते हैं।

यौगिकों के मिश्रण में से घटकों को पृथक करने की अनेक विधियाँ हैं यथा आसवन, क्रिस्टलीकरण, क्रोमेटोग्राफी, इलेक्ट्रोफोरेसिस आदि। प्रत्येक विधि का अपना विधान होता है, साथ में जटिलताएँ भी जुड़ी रहती हैं जिनका परिष्कार भी होता है। परन्तु छनन वियोजन की एक ऐसी सरल विधि है जिसका सहसा आभास नहीं होता।

सामान्य अणुओं का आकार अत्यन्त न्यून होता है। ऐसी मान्यता है कि यह एक सेन्टीमीटर के करोड़वें भाग से भी कम। इसलिये विभिन्न आकार के अणुओं को छनन विधि द्वारा पृथक करने वाली छन्नी के छिद्रों का आकार भी इन्हीं आकारों के आस पास होना आवश्यक है। ऐसी अवस्था में ही छोटे आकार के अणु उसके मध्य से निकल सकेंगे और अपेक्षाकृत बड़े अणु उस में अटक जायेंगे। इतने सूक्ष्मतम् आकार की छन्नी बनाना कठिन कार्य होना चाहिये, परन्तु रसायनज्ञों ने इसे सम्भव कर दिखाया है।

सन् 1756 में **बैरन एक्सल फ्रेड्रिक क्रॉस्टेट** नामक स्वीडन-वासी खनिजज्ञ ने विशिष्ट पहाड़ी खनिज के क्रिस्टलों को एक मूषा में तप्त किया। मूषा के गरम होने पर क्रिस्टलों से वाष्प निकलनी आरम्भ हो गयी, परन्तु उसका रूप अपरिवर्तित रहा। उत्कंठा के फलस्वरूप उसने कुछ क्रिस्टलों को सीधे ज्वाला पर रखा। क्रिस्टल पिघले और उसमें उबाल आया, तत्पश्चात् वे बुलबुले सहित काँच के रूप में संगलित हो गये। अनहोने व्यवहार के कारण क्रॉस्टेट न इन क्रिस्टलों को जियोलाइट की संज्ञा दी। यूनानी भाषा के दो शब्द जियो (उबाल) तथा लियॉस (पत्थर) को संयुक्त कर इस शब्द को गढ़ा गया था।

अग्ले सौ वर्षो तक जियोलाइट की ओर किसी और का ध्यान नहीं गया। बाद में फ्रांसीसी वैज्ञानिक डेमर ने यह स्थापित किया कि इन क्रिस्टलों को तप्त करने पर और कुछ नहीं, केवल जल-वाष्प ही निकलती है। उसने यह भी देखा कि ठंडा होने पर यही क्रिस्टल वातावरण से जल्दी से जल सोख लेते हैं। ऐसा ज्ञात होता था कि निर्जल क्रिस्टलों पर उपस्थित कोटरिकाएँ जल संग्रहण के लिये उत्कंठित रहती हैं। प्रयोगों द्वारा यह भी देखा गया कि निर्जल जियोलाइट जल के अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थों की वाष्पों को भी सोख सकता है– जैसे कि पारद, अमोनिया या आयोडीन।

1925 में दो जर्मन वैज्ञानिकों **वीगल** तथा **स्टाइनहॉफ** ने जियोलाइटों में कुछ अन्य विचित्रता देखी। चेवेजाइट नामक खनिज न केवल जल वरन् मेथिल व एथिल एल्कोहॉल को भी सोख लेता था। अचम्भे की बात यह थी कि ऐसीटोन तथा बेंज़ीन की वाष्पें निषिद्ध थीं। यह स्पष्ट हो गया कि इन खनिजों की कोटरिकाएँ कुछ अणुओं को ग्रहण कर सकती थीं और कुछ को नहीं।

1930 के दशक में अमेरिका सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक **लाइनस पालिंग** ने **टेलर** के साथ एक्स-रे क्रिस्टलिकी द्वारा अनेक जियोलाइटों की क्रिस्टली बनावट का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया। उन्होंने ऐसा पाया कि एनसाइट तथा नट्रोलाइट खनिज छिद्रित पदार्थ थे और सूक्ष्म कोटरिकाओं से भरे थे। यह कोटरिकाएँ नन्हें गलियारों द्वारा एक दूसरे से मिली रहती दिखाई दीं। इससे यह स्वतः स्पष्ट हो गया कि कुछ वाष्पों के अणु इन गलियारों द्वारा कोटरिकाओं में पहुँच सकते हैं, परन्तु बड़े आकार के अणु

ऐसा करने में असमर्थ थे। इन्हीं गुणों को आधार बना कर अमेरिकी रसायनज्ञ **मेकबेन** ने ऐसे पदार्थों का विशेष नामकरण अणुक छन्नी (Molecular sieve) किया। बाद में **डॉ. मेकबेन** ने भारत की पुणे स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला के प्रथम निदेशक पद को सुशोभित किया।

1948 में अणुक छन्नी द्वारा वायुमण्डल से ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, आर्गन तथा अन्य विरल गैसों के पृथककरण प्रयोगों का श्रीगणेश हुआ। प्राकृतिक उपलब्ध छन्नियों के साथ यह कठिनाई है कि वे जटिल मिश्रण रूप में पायी जाती हैं।

उनकी कोटरिकाओं के आकार असमान होते हैं और विभिन्न स्रोतों द्वारा प्राप्त नमूनों के गुण तथा बनावट भिन्न-भिन्न होती हैं। इन्हीं कारणों से वैज्ञानिकों ने समान गुण-बनावट वाले कृत्रिम जियोलाइट के निर्माण का बीड़ा उठाया।

उस समय तक यह ज्ञात हो चुका था कि सिलिकॉन, ऑक्सीजन, ऐल्यूमिनियम तथा अन्य धातु, जैसे सोडियम, पोटैशियम अथवा कैल्सियम ही प्राकृतिक जियोलाइट के मुख्य घटक थे। इन्हीं तत्वों की रासायनिक क्रियाओं द्वारा वैज्ञानिक, 1953 तक, तीस से अधिक जियोलाइटों के निर्माण में सफल हो गये थे। हर जियोलाइट की अपनी बनावट और अपने अपने गुण थे। मोटे तौर पर जल विलेय सोडियम सिलिकेट को ऐल्युमिनियम ट्राइहाइड्रेट और कास्टिक सोडा (या अन्य क्षार) के साथ गरम किया गया। कुछ समय पश्चात् इस ज़ल मिश्रण का नियंत्रित रूप से क्रिस्टलीकरण कर, प्राप्त क्रिस्टलों को सुखाया गया तत्पश्चात् बन्धक से मिश्रित कर उन्हें सूक्ष्म गोलियों का रूप देकर उपयोग में लाया गया।

सूक्ष्म आकार होने के बावजूद जियोलाइट के एक क्रिस्टल में करोड़ों घन (Cubes) विद्यमान होते हैं। प्रत्येक घन में सिलिकॉन अथवा ऐल्युमिनियम आयन (ion) चार ऋण ऑक्सीजन आयनों से घिरा रहता है। घन के हर फलक पर उपस्थित रन्ध्र बड़े कोटरों से गलियारों द्वारा जुड़े रहते हैं। इन कोटरों का व्यास 10^{-7} सेमी. के लगभग होता होगा। रन्ध्र इसमें एक तिहाई आकार के होते हैं। क्रिस्टलों को सोडियम क्लोराइड विलयन से व्यावित करने पर सोडियम आयन का स्थान कैल्सियम ले लेते हैं। ऐसा करने से गलियारों का आकार बड़ा हो जाता है।

पेट्रो-प्राप्त हाइड्रोकार्बन यौगिकों को पृथक करने के लिये कैल्सियम जियोलाइट का उपयोग होता है। अनुभव द्वारा ज्ञात हुआ है कि शाखित श्रृंखला वाले हाइड्रोकार्बन मोटरवाहनों के लिये उत्तम ईधन होते हैं। इसके विपरीत ऋजु श्रृंखलित हाइड्रोकार्बन (जिसमें कार्बन परमाणु सीधी रेखा से जुड़े हों) मोटर के सिलिंडरों को सामान्य लय से काम नहीं करने देते। इनके उपयोग करने से मोटर इंजन में तीव्र झनझनहट पैदा होती है। फलस्वरूप ईधन तो बरबाद होता है ही, परन्तु साथ में इंजन को भी गम्भीर हानि पहुँचती है। शाखित तथा ऋजु श्रृंखलित हाइड्रोकार्बन के क्वथनांक लगभग समान पाये गये हैं। अन्य भौतिक गुण भी एक समान मिलते हैं। अतएव इनको मिश्रण में से अलग करना कठिन जान पड़ता था क्योंकि पृथक करने की सामान्य विधियाँ यहाँ पर असफल हो जाती थीं। ऐसी परिस्थिति में इनके अणुओं में आकार के अन्तर का लाभ उठाया गया। निर्मित छन्नियों द्वारा गुजरने पर ऋजु श्रृंखलित अणु तो गलियारों द्वारा सरलता से पार हो सकते हैं परन्तु शाखित श्रृंखला वाले अणु अपने मोटे आकारवश फंस जायेंगे।

कृत्रिम छन्नियाँ एक भयंकर परिस्थिति से छुटकारा पाने में उपयोगी सिद्ध हुईं। लम्बी तथा ऊँची उड़ान भरने वाले वायुयानों में ईधन बड़ी मात्रा में भरा जाता है। एक उड़ान के लिये 50 हज़ार लीटर मात्रा तो सामान्य बात होती है। ऐसे ईधन में यदि तनिक मात्रा में भी जल मिला रह जाय तो उड़नकाल में ऊँचाई के न्यून ताप पर वह जम जायेगा। ऐसे में इंजन की ओर ईधन पहुँचाने वाली पतली नली अवरूद्ध हो सकती है। फलस्वरूप ईधन रहने पर भी वह इंजन तक न पहुँच पायेगा। ऐसी परिस्थिति में इंजन का दम घुटने पर यान का दुर्घटनाग्रस्त होना स्वाभावित है।

यान में उपयुक्त ईधन को पूर्णतया नमी रहित बनाने के लिए पारम्परिक क्रियाएँ असफल सिद्ध हुईं। इन विधियों द्वारा परिशुद्धित करने पर भी ईधन में इतना जल बच जाता था कि वह उच्च वातावरण की ठंड (लगभग $50^{\circ}C$) में यान की उड़ान रोकने के लिये काफी था। इसके विपरीत विशेष निर्मित जियोलाइट द्वारा छाने जाने पर ईधन पूर्णतया निर्जल हो जाता है। ऐसी आणविक छन्नियों का प्राकृतिक गैस, रेफ्रिजिरेशन गैसों तथा पेट्रोलियम रसायनों को परिमार्जित करने में उपयोग हुआ है।

आणविक छन्नियों के कुछ चमत्कारिक उपयोग भी है। विषालु और संक्षारक पदार्थों को बन्द डिब्बे में रखना या भेजना खतरे से खाली नहीं होता। इसके विपरीत यदि उन्हें आणविक छन्नियों में निलम्बित रखा जाय तो वे सुरक्षित अवस्था में रह सकते हैं। काम पड़ने पर उन्हें सरलता से मुक्त कर सकते हैं। रेडियोऐक्टिव अपशिष्टों के लिये भी ऐसे उपाय अपनाये गये हैं।

इस संदर्भ में एक और जानकारी रोचक लगेगी। बहुलक सिलिकॉन की तनु परत उच्च ताप पर भी स्थिर रहती है और उसके खिंचाव में कमी नहीं आती। उसका एक विशेष गुण यह है कि उसके आणविक तंत्र के मध्य से विभिन्न गैसें प्रवाहित हो सकती हैं। परन्तु विभिन्न गैसों की प्रवाह गति अलग-अलग होगी। नइट्रोजन की अपेक्षा ऑक्सीजन दूनी गति से प्रवाहित होती है। वायुमण्डल की गैसों को पृथक करने में वैज्ञानिकों ने इस तथ्य से लाभ उठाया है। पृथ्वी के वायुमण्डल में ऑक्सीजन 21 प्रतिशत मात्रा में वर्तमान है। सामान्य वायु को सिलिकॉन परत द्वारा एक बार प्रवाहित करने पर ऑक्सीजन की मात्रा बढ़कर 37 प्रतिशत हो जाती है और दूसरी बार प्रवाहित होने पर 50 प्रतिशत तक पहुँच जाती है। किसी स्थान विशेष जैसे कि अस्पताल में रोगी के कक्ष में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ाने की यह एक सरल तथा सुरक्षित विधि सिद्ध हुई है। इस विधि द्वारा हृदय-शल्य चिकित्सा में उपयुक्त हृदय-फुफ्फुस (Heart-Lung) मशीन में सुलभ रूप से उच्च मात्रा में ऑक्सीजन पहुँचाई जाती है। प्राय: ऐसी आवश्यकताओं के लिये ऑक्सीजन सिलिंडर उपयुक्त होते हैं जो संकट या विपत्ति के कारण बन सकते हैं। उसके स्थान पर सिलिकॉन-परत के मध्य प्रवाह द्वारा उपलब्ध बड़ी मात्रा में ऑक्सीजन सब प्रकार से सुरक्षित रहती है। समुद्र में ऑक्सीजन का अथाह भण्डार है। परत द्वारा उसे प्रवाहित करने पर उच्च मात्रा की ऑक्सीजन समुद्र के अंदर ही लोगों को उपलब्ध हो सकती है। साथी ही साथ उत्पन्न कार्बन डाइऑक्साइड समुद्र में ही प्रविष्ट हो जायगी।

तीस वर्ष पूर्व यह ज्ञात हो चुका था कि न्यून स्तर पर वातावरण में उपस्थित यूरेनियम यदा-कदा स्वत: विखण्डित हो कर चट्टानों तथा खनिजों के बीच प्रस्फोट के रूप में अपनी पहचान छोड़ जाता है। इनके द्वारा वैज्ञानिक चट्टानों आदि की आयु का अनुमान लगाते हैं। प्रयोगों के लिये इन प्रस्फोट चिन्हों को रासायनिक अभिकर्मकों द्वारा पदार्थ से निक्षालित करते हैं। इन परिणामों द्वारा उत्साहित वैज्ञानिकों ने निर्मित पदार्थों जैसे काँच, प्लास्टिक आदि पर यूरेनियम विखण्डन के माध्यम से छिद्र उत्पन्न किये। उन्होंने पाया कि प्लास्टिक की महीन परत पर यूरेनियम विखण्डन से उत्पन्न प्रस्फोटों द्वारा 10^3 सेमी. या उससे छोटे आकार के छिद्र उत्पन्न हो सके। इस विधि से उपयोगी छिद्रित झिल्लियाँ निर्मित की जा सकी हैं। छिद्रों का आकार यूरेनियम परमाणुओं के प्रभाव काल पर निर्भर करता है। अधिक काल तक प्रभावित झिल्लियों में बड़े आकार के छिद्र उत्पन्न होंगे। चिकित्सकों का कहना है कि उपयुक्त आकार की छिद्रित झिल्ली के माध्यम से कैंसर कोशिकाओं को सामान्य कोशिकाओं से पृथक करना संभव है क्योंकि कैंसर कोशिकाओं का आकार सामान्य से कहीं बड़ा होता है।

यह भी संभव है कि इस विधि द्वारा कैंसर की शुरुआत या आरम्भिक अवस्था में आभास हो सके, जिससे उसका कारगर विधि से उपचार संभव हो सकेगा। ऐसी आशा है कि इन प्रयोगों द्वारा कैंसर उपचार के सूत्र प्राप्त हो सकेंगे।

■■■

कितनी विषैली है गाजर घास?
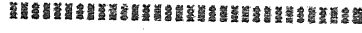
□ सुशील कुमार राय
एवं
□ डॉ. [illegible] शर्मा
सम्प्रति शस्य विज्ञान विभाग,
श्री दुर्गा जी स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
चण्डेश्वर, आजमगढ़ (उ.प्र.)

पौधों से मानव का परिचय उतना ही प्राचीन है, जितना कि कृषि का विकास। प्रकृति में उपयोगी पौधों के अतिरिक्त कुछ ऐसे अवांछनीय पौधे भी हैं, जो कि मानव, पालतू-पशुओं के साथ-साथ सम्पूर्ण पर्यावरण के लिए अभिशाप साबित हो रहे हैं। विश्व के इन्हीं सात सर्वाधिक हानिप्रद पौधों में से एक नाम है "गाजर घास"। इसे कांग्रेस घास, चटक चांदनी, सफेद टोपी, पंधारी फूल आदि नामों से भी जाना जाता है। कम्पोज़िटी (Compositae या Asteraceae) कुल के इस जंगली खर पतवार का वानस्पतिक नाम **पार्थेनियम हिस्ट्रोफोरस (Parthenium histrophorus)** है।

वेस्टडंडीज़ और मध्य व उत्तरी अमेरिका मूल के इस घास के बीज 1950 में अमेरिकी मैक्सिकन गेहूँ "पी एल 480" के आयात के साथ ही भारत आए। इसे सर्वप्रथम 1956 में पूना के आस-पास सूखे खेतों में देखा गया। कालांतर में यही बीज वायु द्वारा उड़कर देश के विभिन्न क्षेत्रों में दूर-दूर तक फैल गये और शीघ्र ही अंकुरित होकर घनी झाड़ियों के रूप में विकसित हो गये। एक रिपोर्ट के अनुसार अब तक देश के 5 मिलियन हेक्टेयर से अधिक भूमि पर इसके पाँव पसर चुके हैं।

गाजर घास एक वार्षिक पौधा है, जो बीज से उगता है तथा वर्ष में चार बार अपना जीवन-चक्र पूरा कर सकता है। यह लगभग एक मीटर ऊँचाई तक शाखायुक्त बढ़ता है। इसका तना धारदार तथा पत्तियाँ कटावदार, आकार में बड़ी तथा गहरे हरे रंग की गाजर की पत्तियों से मिलती-जुलती हैं। इसकी प्रजनन-क्षमता लगभग 20,000 बीज प्रति पौधा प्रति वर्ष है। इस पर फूल जल्दी आ जाते हैं, तथा 6-8 माह तक रहते हैं। इसके फूल सफ़ेद रंग के तथा छोटे होते हैं, जिनके अन्दर काले रंग के और वज़न में हल्के बीज होते हैं, जो अपनी दो स्पंजी गद्दियों की सहायता से सुगमतापूर्वक वायु, जल तथा पशु-पक्षियों द्वारा फैलते रहते हैं।

इस घास के पौधे कम प्रकाश सुग्राही, वर्ष के सभी मौसमों में, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी एवं कहीं पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी जड़ें बहुत अधिक गहराई तक जाती हैं, तथा इसमें सुखा सहन करने की अधिक शक्ति होती है। जब यह घास एक स्थान पर जम जाती है, तो अपने आस-पास किसी अन्य पौधे को नहीं जमने देती है। इनकी पत्तियों से वृद्धि अवरोधक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिससे अनेक महत्वपूर्ण वनस्पतियों एवं चरागाहों के नष्ट हो जाने की सम्भावना है। निःसंदेह यह घास वनस्पति जगत् में एक शोषक के रूप में उभरी है। इस प्रक्रिया को "एलिलोपैथी" कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसके परागकण वायु को प्रदूषित करते हैं, तथा जड़ों से स्रावित रसायनिक पदार्थ "इक्यूडेर" मृदा को प्रदूषित करता है।

गाजर घास की पत्तियों के काले छोटे-छोटे रोमों में पाया जाने वाला रासायनिक पर्दाथ "पार्थिनम" मनुष्यों में एलर्जी का मुख्य कारण है। अपने विषैले प्रभाव से यह मानव शरीर में त्वचा रोगों (खाज, खुजली, एग्ज़ीमा इत्यादि), दमा, खाँसी, बुखार इत्यादि को जन्म देती है। इसके परागकण स्वांस की गम्भीर, कष्टप्रद बीमारियों का भी कारण बनते हैं। इसके सीधे सम्पर्क में आने पर प्रथमतः त्वचा में सूजन या लाली आ जाती है, तथा जलन होती है, जिससे कि बाद में पानी निकलना शुरू हो जाता है और फिर कुछ समय बाद प्रभावित भाग में सफ़ेद, लाल धब्बे

"चकत्तों" के रूप में उभर आते हैं, जिनमें निरन्तर खुजली होती है। पशुओं के लिए भी यह घास अत्यन्त घातक सिद्ध हो रही है। इसके प्रभाव से पशुओं में हे फीवर, राइनिटिस तथा स्वांस सम्बन्धी बीमारियाँ होती हैं। यदि पशु इस घास को खा लेते हैं तो उनका दूध कड़वा एवं कम हो जाता है।

यह चिन्ता का विषय है कि इस विषैले खरपतवार का उन्मूलन तो दूर, नियंत्रण भी सही रूप में सम्भव नहीं हो पाया है। फलस्वरूप यह निरन्तर वृद्धिकी ओर अग्रसर है। यदि इसे जड़ से उखाड़कर आग द्वारा जला दिया जाय, तो काफी हद तक इससे मुक्ति मिल सकती है। परन्तु, इसे हाथ से न छूआ जाय। इसके रसायनिक नियंत्रण के लिए ग्लाइफोसेट; 2,4-डी; एम.एस.एम.ए.+ 2,4-डी; एम.एस.एम.ए.+ पैराक्वेट और 2, 4-डी + पैराक्वेट के छिड़काव की संस्तुति की गई है। एक शोध के अनुसार इसके जैविक नियंत्रण के लिए **कैसिया सीरेसिया** नामक पौधे के बीजों को गाजर घास से प्रभावित स्थानों पर बोने पर इसमें 93% तक कमी हो जाती है।

यदि समय रहते गाजर घास की विभीषिका पर नियंत्रण न पाया गया और इसे समाप्त न किया गया, तो यह विषैली घास अपनी विचित्र गंध से पर्यावरण को दमघोटू बनाकर, मनुष्यों एवं पशुओं में अनेक गम्भीर एवं कष्टदायक बीमारियों में बढ़ोत्तरी करके हम सभी को त्रासदी का शिकार बना देगी। और तो और सन् 2,000 तक "सबके लिए स्वास्थ्य" की हमारी कल्पना पर प्रश्न-चिन्ह लग जायेगा। अतः आज आवश्यकता यह है कि देश के विभिन्न संस्थाओं के वैज्ञानिक निष्ठा एवं लगन से शोध करके कोई ऐसी उपयुक्त विधि निकालें जो आर्थिक दृष्टिकोण से अनुकूल हो और इस घास के लिए 'रामबाण' साबित हो सके।

■■■

गणित में रंगीन अभिव्यक्ति

□ *योगेन्द्र बहादुर सिंह*
प्रवक्ता, के.एन.आई.
सुल्तानपुर–228118 (उ. प्र.)

गणित को लोग भले ही 'ब्लैक एण्ड व्हाइट' साइंस का नाम दें लेकिन गणित के रंगों में शोखी भी है, शरारत भी। इसका अहसास तो तभी होता है, जब हम आत्मा के धरातल पर गणित से जुड़ पायें। दरअसल, गणित की दुनिया ही दो होती है। एक व्यक्त है तथा दूसरी अव्यक्त। अव्यक्त राशियों की वर्णमाला के अक्षरों से द्योतित करने की परम्परा के जनक थे भास्कर द्वितीय। इनके पूर्व अव्यक्त राशियों के लिए रंगीन गुलिकायें प्रयुक्त होती थीं। आर्यभट्ट और भाष्कर द्वितीय के मध्यकाल में अव्यक्त राशियों को कालक, नीलक, पीतक, हरीतक आदि वर्णवाची शब्दों से बोधित किया गया, किन्तु बाद में अज्ञात राशियों के अधिक होने के कारण जब रंगों के नामों से काम नहीं चला तो भास्कर ने द्योतन की नयी बुनियाद रखी।

मानव शरीर में रंगों का ताना-बाना

□ *योगेन्द्र बहादुर सिंह*
प्रवक्ता, के. एन. आई सुल्तानपुर-228118 (उ. प्र.)

दार्शनिक **जॉन लॉक** ने रंग को 'गौण-गुणों' के अन्तर्गत रखा है। ये गुण ज्ञाता के ऊपर निर्भर होते हैं, जैसे– आँख के बिना रंग नहीं हो सकता। आँखें स्वयं में रंगों को छुपाये रहती हैं, जिन्हें देखने के लिए प्रिय की दो आँखें चाहिए। नीली-नीली झील-सी आँखें, काले बादल-सी गहरी आँखें, मस्त-मस्त भूरी आँखें किसे नहीं आकर्षित करतीं। बेचारा कुत्ता रंगों में फर्क नहीं कर सकता। उसे तो सारी दुनिया घूसर ही दिखाई पड़ती है। ये तो मनुष्य हैं, जिसे रंगों की नेमत मिली हुई है। मनुष्य की आँखें 17 हज़ार रंगों की पहिचान कर सकती हैं।

पक्षियों का खून लाल नहीं होता। लाल ख़ून केवल स्तनपाइयों की विशेषता है। स्तनपाइयों में मनुष्य सर्वोपरि है। ख़ून में लाल तथा सफेद रक्त कणिकायें होती हैं। एक बूँद ख़ून में लाल कणों की संख्या लाखों में होती है। लाल कणों में हीमोग्लोविन नामक पदार्थ होता है जिसका यौगिक हीमाटिन ख़ून का लाल रंग है। खुशी व भय या दुःख में चेहरे की रंगत बदलने के पीछे समीप की रक्त वाहिकाओं में रक्त संचार की गति है। इस गति को संचालित करता है अंतः स्रावणी ग्रंथि एड्रीनिल से निकलने वाला हार्मोन एड्रीनेलीन। इस हारमोन की अधिक मात्रा ख़ून के बहाव को कम करके चेहरे को पीला बना देती है। साधारण अवस्था में रक्त कणों का विनाश और सृजन साथ-साथ होता रहता है। विनाश की क्रिया में हीमोग्लोबिन 'हीम' तथा 'ग्लोबिन' अवयवों में टूट जाता है। इनमें दूसरा पदार्थ पित्त (जो हरे रंग का एक रासायनिक पदार्थ है) के बनाने में काम आता है। पित्त (कोलिबिलीसबिन) को अंत में कीटाणु एक अन्य पदार्थ, यूरोबिलीसबिन, में बदल देते हैं। यह भूरे लाल रंग का पदार्थ है। यकृत के रोगों और लाल रक्तकणिकाओं की बहुत अधिक मात्रा में नष्ट हो जाने पर यह रंग बहुत अधिक मात्रा में बनने लगता है। इसकी अधिक मात्रा ख़ून में मिल जाने पर त्वचा पीली पड़ जाती है और मनुष्य को पीलिया हो जाता है।

मनुष्य की त्वचा में दो प्रकार के रंजक कण 'मेलैनिन' पाये जाते हैं– एक तो भूरे काले रंग के **यूमिलेनिन**, जिनका निर्माण एक प्रकार के पदार्थ टायरोसिन से होता है और दूसरे **फियोमिलेनिन** (इसका रंग पीला-लाल होता है)। मानव शरीर में इनके अतिरिक्त दो अन्य रंजक कण हीमाग्लोबिन (जिसके कारण खून कर रंग लाल होता है) तथा कैरोटिन (जिसके कारण त्वचा का रंग पीला होता है) भी पाये जाते हैं। ये सभी रंजक मिलकर त्वचा का रंग प्रदान करते हैं, परन्तु मनुष्य का काला या गोरा होना मेलैनिन पर ही निर्भर करता है। इसका निर्माण एड्रीनल, कार्टिकल और पिट्यूटरी ग्रंथियों से स्रवित होने वाले हारमोनों से उत्प्रेरित होता हे और यह त्वचा, केश और ऑखों की पुतलियों में पाया जाता है। मेलैनिन का उत्पादन एक प्रकार की विशिष्ट कोशिकाओं 'मेलैनोसाइट' में होता है। मेलैनोसाइट में मेलैनिन एक विशेष संरचना 'मेलैनोसोम' में संचित होता है। यद्यपि मेलैनोसाइट की संख्या काले तथा गोरे लोगों में समान होती है, लेकिन उसमें उपस्थित मेलैनोसोम का आकार तथा मेलैनिन की मात्रा भिन्न होती है। काली त्वचा में मिलैनोसोम बड़े तथा मेलैनोसाइट कोशिकायें समान रूप से फैली होतीं हैं जबकि गोरी त्वचा में मेलैनोसोम छोटे तथा मेलैनोसाइट कोशिकाएँ लघु समूहों में जमा रहती हैं। त्वचा में मेलैनिन की मात्रा प्राप्त प्रकाश-मात्रा के समानुपाती होती है। गर्म प्रदेशों के लोगों की त्वचा में मेलैनिन अधिक होने से इनका रंग अधिक काला होता है। कुदरत का करिश्मा देखिये कि यह काला रंग हमें विकिरण से सुरक्षा प्रदान करता है। बालों का काला रंग भी मेलैनिन रंजक के कारण ही होता है। यह बालों के निचले सिरे पर फॉलिकिल में होता है। बाल दूसरे अन्य रंगों के नहीं होते। अन्य रंजक (जैसे हरे, नीले आदि) मानव शरीर में होते ही नहीं। 'पूर्ण सूरजमुखी' रंग (रल्बेनिज़्म) जनकों से विरासत में मिलने वाला एक गुण है, जिसमें मेलैनिन त्वचा, केश और आँखों से पूर्णतः गायब हो जाता है, इसलिए शरीर पूर्णतः सफेद पड़ जाता है। जले और घाव वाले स्थान पर भी मेलैनिन नष्ट हो जाता है, इसलिए वे भाग सफेद लाल हो जाते हैं। स्तनपायी जीवों में मनुष्य एवं बन्दर के अलावा सभी जीव रंगान्ध होते हैं।

■■■

रंग जो सेहत को रंगहीन बनाते हैं

□ आर. निर्मला
संप्रेषण, डी-707, सरस्वती विहार
दिल्ली–110034

हम अपने नियमित भोजन में जाने-अनजाने कई तरह के रंगों को अपने भोजन के साथ खाते हैं। रंग आदमी की कमज़ोरी है। चटकीले एवं चमकदार रंग किसी भी वस्तु को देखने वाले की नज़रों में आकर्षक बना देत हैं। शायद इसलिए खाद्य उत्पादक यह जानते हुए भी कि रंग स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं, खाद्य सामग्री में रंग मिला देते हैं। लेकिन हर स्वाद के साथ ये रंग हमारी सेहत को रंगहीन बनाते हैं।

भारतीय खाद्य पदार्थों में, यहाँ तक कि ही सब्ज़ियों में कृत्रिम रंगों का मिलाया जाना एक आम बात है। सब्ज़ियों को हरी और ताज़ी दिखने के लिए, भिण्डी, बैंगन, हरी मिर्च इत्यादि को बाज़ार मे लाने से पहले रंग दिया जाता है। शीतल पेय बेचने वाले लोग, ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए सभी तरह के रंगों का प्रयोग करते हैं।

इसका अंदाज़ा लगाना कठिन है कि एक औसत आदमी अपने भोजन के साथ कितना रंग खाता है। इस धारणा का खंडन बहुत पहले ही हो चुका है कि रंगीन भोजन ज़्यादा पौष्टिक होते हैं। सामान्यतया खाद्य की कमियों को छुपाने के लिए, सान्द्र अवस्था में रंगों को प्रयोग में लाया जाता है। चूँकि ये रंग ज़हरीले रसायन होते हैं इसलिए जब हम इन्हें खाते हैं तो निश्चित रूप से हम अपनी जान के साथ खिलवाड़ कर रहे होते हैं।

बहुत सारे देशों में रंगों को भोजन में प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। इस सदी के आरंभ में, भारत में किसी भी रंग को भोजन में प्रयोग किया जा सकता था। इसलिए कपड़ों में प्रयुक्त होने वाले रंगों को भी भोजन में पाया जाता था। उपभोक्ताओं की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए 1954 में 'प्रिवेन्शन ऑव फूड एडल्टरेशन एक्ट' लागू किया गया, जिसके तहत केवल 93 रंगों को भोजन में प्रयोग करने की छूट दी गयी। 1968 में इन 93 में से 5 को हटा दिया गया और अभी हाल में इस सूची में तीन रंगों को जोड़ा गया है, जिससे कि रंगों की कुल संख्या 91 हो गई है।

शरीर में रंगों के जमा होने से अनेक तरह से नुकसान पहुँचता है। इनमें से अपचन, शरीर में खून की कमी, पेट की गड़बड़ियों के कारण दिमाग, किडनी, लीवर, ट्यूमर, कैंसर, लकवा आदि समस्या संभावित है। गर्भवती महिलाओं के बच्चे, इन रंगों के प्रभाव के कारण आँख, हड्डी, त्वचा, फेफड़े आदि की शिकायत वाले हो सकते हैं। माता-पिता के जीन्स में स्थायी परिवर्तन के कारण मानसिक रूप से विक्षिप्त बच्चे पैदा हो सकते हैं।

उत्तर भारत के अधिकांश घरों में सरसों के तेल का प्रयोग खाने में किया जाता है जिसमें मिलावट बहुत आसान है। सामान्यतया तेल बनाने के लिए ज़हरीली और निम्नस्तरीय सरसों का इस्तेमाल किया जाता है और डॉक्टरों के अनुसार, इससे लकवा मार सकता है। स्वास्थ्य मंत्रालय के अधिकारी इस प्रकार के खाद्य को ज़हर से भी बदतर मानते हैं।

व्यापारियों के बीच पीतल के रंग का पीला रंग काफी लोकप्रिय है। यह रंग कोलतार से बनता है और पानी में घुलनशील है साथ ही यह आसानी से उपलब्ध है। सभी चमकीली और पॉलिश कि गई दाल, हलवा, हल्दी, हींग, केसर, खाने वाला तंबाकू और सुपारी में इस रंग का प्रयोग किया जाता है।

प्रयोगों से यह मालूम पड़ा कि पीतल की तरह के पीले रंग से पुरुषों में वीर्य बनने की क्रिया धीमी पड़ जाती है साथ ही इससे लीवर में खराबी भी हो सकती है और पुरुषों में नपुंसकता भी संभावित है।

मीठी गोलियों में खासतौर पर सस्ते रसायनों की मात्रा अत्यधिक होती है। मिलाई जाने वाली चीज़ों में लाह भी है जिससे उसे पॉलिश किया जाता है ताकि वह चमकदार दिखे।

सड़ने के बचाने के लिए, गाजर, संतरा, सेब, नीबू, पर पैराफिन' का मोम चढ़ाया जाता है, जो कि कोलतार से बनता है और जिससे कैंसर की अत्यधिक संभावना होती है।

सूर्यास्त के रंग जैसा पीला, एक ऐसा रंग है जिसका प्रयोग काफी उदारता से खाद्यों में बर्फियों में, टाफियों में, 'डेजर्ट पाउडर' में और मक्खन साहित अन्य दूध के उत्पादनों में किया जाता है। इसकी वजह से आँखों की रोशनी कम होती है और कभी-कभी तो यह पूरी तरह अंधेपन के लिए ज़िम्मेदार होता है।

जस्ते से बना क्रोमेट (लेड क्रोमेट), दो अत्यंत ज़हरीले लेड साल्ट्स' में से एक है। वैसे तो प्राकृतिक रूप से लेड बहुत सारे खाद्यों में रहता है लेकिन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर खाद्यों में इसे प्रयुक्त किया जाता है, जिसका परिणाम काफी घातक हो सकता है। कोलतार से बना रंग या चटकीले लेड क्रोमेट को सामान्यतया हल्दी के रंग को तेज़ करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इससे होने वाली शारीरिक क्षति का अंदाज़ा लगाना मुश्किल है, क्योंकि इसका असर तत्काल नहीं होता है।

परंपरागत तरीके से खाद्यों को सुरक्षित करने की विधियों का स्थान, नयी विधियों नेले लिया है। बहुत सी ऐसी चीज़ों का प्रयोग धड़ल्ले से किया जा रहा है जिससे कि खाद्यों को ज़्यादा दिन तक सुरक्षित रखा जा सकता है। वैज्ञानिकों की इस चेतावनी के बाद भी इनका प्रयोग किया जाना ख़तरे से खाली नहीं, किसी के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। दिसंबर 1966 में 'फूड प्रोटेक्शन कमीटी' को संबोधित करते हुए अमेरिका के भूतपूर्व खाद्य एवं औषधि प्रशासन आयुक्य डॉ. जेम्स एल. गाडार्ड ने इस बात की घोषणा की है कि खाद्यों में इस प्रकार के मिलावट से निर्माता को थोड़ा आर्थिक लाभ होता है, लेकिन खाने वाले पर इसका बहुत बुरा असर होता है।

(सम्प्रेषण)

■■■

दूरियाँ सिमटाइए

□ *श्याम सरन अग्रवाल*
68 असिस्टेण्ट लाइन
बिरला नगर, ग्वालियर–474004 (म. प्र.)

सगाई सैटलाइट की टेलीफोन से_ 'घुमक्कड़ सफरी रूप में_' यह है नया अंदाज़ सम्पर्क तंत्र का, नव-निर्मित यंत्र का, जिसमें सेटलाइट से जुड़ा टेलीफोन अनंत दूरियाँ समेट कर हथेली पर रख देता है। तेज़ कदम आधुनिकता का एक तकाज़ा यह भी है कि हम दुनिया के किसी भी छोर पर हो; हवाई यात्रा में हों या सागर यात्रायें अथवा दूरदराज़ एकाकी जंगल अथवा रेगिस्तान बीच केम्पिंग तम्बू में हों, घर-दफ्तर से सम्पर्क हमारी प्रमुख आकांक्षा रहती है।

विश्व के वृहत्तम सम्पर्क-संस्थानों में प्रतिष्ठित ब्रिटिश टेलीकॉम द्वारा नवविष्कृत यह संयंत्र इसी प्रश्न का सशक्त समाधान है। एक ब्रीफकेस में ले जाने योग्य यह यंत्र, सैटलाइट-सम्पर्क हेतु एन्टिना केस के कवर में फिट रहता है। बी. टी; एम-सेट नामक इस यंत्र के लिये सैटलाइट की सहायता से फिलहाल परीक्षण के दौर में उत्तरी-दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, योरप तथा मध्य पूर्व देशों तक कोई दूरी, दूरी नहीं।

आकस्मिक सहायता पर निकला सुरक्षा दल हो, पत्रकार दल हो अथवा व्यापारी दल हो, फैक्स की भी सुविधायुक्त यह संयंत्र अपनी विलक्षण उपयोगिता स्थापित करता है। अधिक विवरण-प्राप्ति हेतु लिखें–स्पेक्ट्रम–मार्च–अप्रैल 1994 : ब्रिटिश हाइकमीशन : चाणक्यपुरी, नयी दिल्ली–110021.

(सौजन्य–स्पेक्ट्रम)

नाडेप खाद : बस सिर्फ़ कूड़ा, गोबर और पानी..

नाडेप कम्पोस्ट के उपयोग से न सिर्फ आप पैदावार बढ़ा सकते हैं बल्कि खाद बेचकर धन भी कमा सकते हैं

□ प्रकाश मधुकर

ऊर्जा पर्यावरण समूह द्वारा संपादित एवं संचालित

ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12,
ओल्ड डबल स्टोरी, लाजपत नगर-4
नई दिल्ली–110024

कम से कम गोबर का प्रयोग हो और अधिक से अधिक खाद प्राप्त हो, इसी ध्येय से श्री पाढरीपांडे ने एक पद्धति विकसित की जिसके माध्यम से एक गाय के वर्षिक गोबर से 80 से 100 टन खाद प्राप्त की जा सकती है। यदि व्यवसायिक स्तर पर भी इसे अपनाया जाये तो लाभकारी साबित होगा। इसमें खेती के लिए आवश्यक नाइट्रोजन, फॉस्फोरस एवं पोटेशियम की मात्रा क्रमशः 0.5 से 1.5, 0.5 से 0.9 तथा 1.2 से 1.4 प्रतिशत होती है।

जिस स्थान पर आपको नाडेप कम्पोस्ट गड्ढा बनाना है, उसे नियत परिमाप से अंकित कर लें। योग्य नींव भरकर 9 इंच चौड़ी दीवार की चिनाई करें। गड्ढे के आंतरिक भाग का माप 10 फीट लम्बा, 6 फीट चौड़ा और 3 फीट ऊँचा होना चाहिए। कुल गड्ढे का आयतन 180 घन फीट होना चाहिए। आप चिनाई मिट्टी से कर सकते हैं। किंतु आप अंतिम रद्दा सीमेंट से चिनें ताकि दीवार गिरने का ख़तरा न रहे। दीवार की चिनाई करते समय ध्यान रखें कि बीच में यथावत छेद छोड़े जायें, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

यह छिद्र इसलिए छोड़े जाते हैं कि खाद सामग्री को पकने के लिए कुछ मात्रा में हवा की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए चारों ओर दीवार खड़ी करते समय छेद छोड़े जाने चाहिए। ईंटों
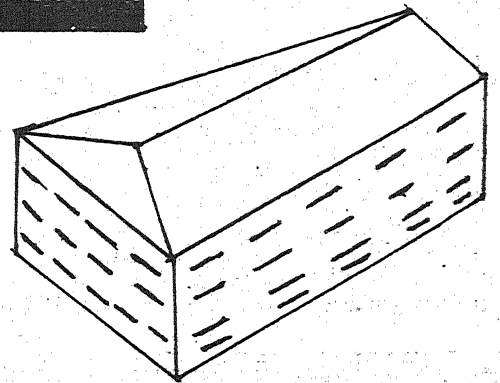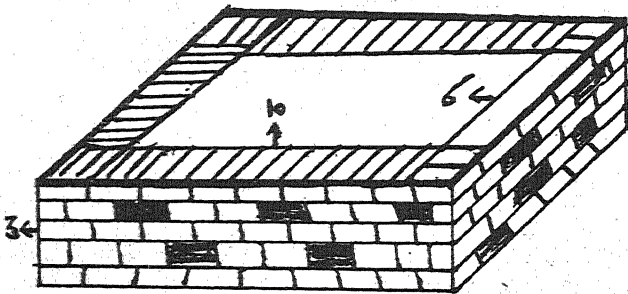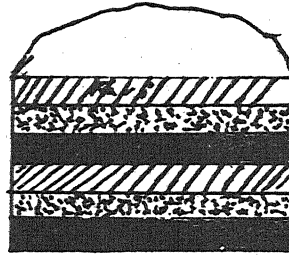
के हर दो रद्दों की जुड़ाई के बाद तीसरे रद्दे की जुड़ाई करते समय 7 इंच का छेद छोड़कर जुड़ाई (चिनाई) करें। इस प्रकार गड्ढ़े के चारों ओर की दीवार में छेद बनेंगे। 3 फीट ऊँची दीवार में पहले, तीसरे, छठे और नवें रद्दे में छेद बनेंगे। दीवार के भीतरी व बाहरी हिस्से को गोबर से लीप दें। अब इस तैयार हौदी या गड्ढे को सूखने दें।

नाडेप कम्पोस्ट मुख्यतः चार चीज़ों के मिश्रण से तैयार होती है–1. व्यर्थ पदार्थ, 2. गोबर, 3. सूखी छनी मिट्टी और 4. पानी।

व्यर्थ पदार्थ में आता है खेती या अन्य वनस्पतिक व्यर्थ जैसे-सूखे पत्ते, छिलके, डंठल, जड़ें, टहनियाँ, खाद्य व्यर्थ आदि। इसमें कृपया प्लास्टिक, पोली बैग, काँच, पत्थर आदि को शामिल न करें। इस व्यर्थ की 1400 से 1500 किलो ग्राम मात्र चाहिए।

गोबर चाहिए 90 से 100 किलोग्राम। आप चाहें तो गोबर गैस संयंत्र से निकले गोबर घोल का भी उपयोग कर सकते हैं। सूखी व छनी मिट्टी 1750 किलोग्राम चाहिए। खेत के नाले की मिट्टी उपयोगी रहेगी। इसे छान लें ताकि पत्थर, काँच, प्लास्टिक आदि इसमें न रह जाएँ। गोमूत्र से सनी मिट्टी तो अति उत्तम रहेगी।

रही पानी की बात तो यह मौसम पर निर्भर करता है कि कितना पानी चाहिए। वर्षा में कम, गर्मी में अधिक। साधारणतया जितनी मात्रा में आप व्यर्थ पदार्थ डालते हैं लगभग उतना ही पानी चाहिए होता है। रही कम ज़्यादा की बात सो 1500 से 2000 लीटर लगा लीजिए। पानी में गोमूत्र व पशु-मूत्र मिला लें तो कम्पोस्ट खाद की गुणवत्ता बढ़ जायेगी।

10x6x3 फीट के इस गड्ढे के लिए कम से कम 1500 ईटों कीज़रूरत पड़ेगी। वैसे हमने आपको चिनाई में मिट्टी के उपयोग की सलाह दी है सो सिर्फ ऊपरी रद्दे की चिनाई के लिए एक बोरी सीमेंट काफी होगा। पर यदि आप पूरी हौदी को ही सीमेंट से चिनना चाहें तो चार बोरी सीमेंट की खपत होगी। तदानुसार रेत भी चाहिए। खर्च में आप मिस्त्री व मज़दूर की दिहाड़ी भी जोड़ लें।

गड्ढा एक ही दिन में भरा जाना चाहिए। वरना जैसे अचार बनाने की प्रक्रिया अगर अधूरे में छोड़ दी जाये तो अचार नहीं डलता वैसे ही नाडेप कम्पोस्ट का हिसाब है। गड्ढा भरने का भी क्रम निश्चित है–पहली परत व्यर्थ पदार्थ की, दूसरी गोबर घोल की, तीसरी साफ़ सूखी छनी मिट्टी की और चौथी पानी के छिड़काव की।

पहनी परत जो कि व्यर्थ पदार्थे की होगी छः इंच की ऊँचाई तक भरी जानी है। तीस घनफुट में लगभग 100 से 110 किलोग्राम व्यर्थ पदार्थ आता है। दूसरी परत गोबर घोल की है। इसके लिए 125 से 150 लीटर पानी में 4 किलो गोबर घोलकर पहली परत पर इस प्रकार छिड़कें कि पूरा व्यर्थ पदार्थ व वनस्पति अच्छी तरह भीग जाये। हमने बताया था कि आप गोबर के स्थान पर बायोगैस प्लांट से निकला गोबर घोल भी इस्तेमाल कर सकते हैं तो जरा मात्रा में फर्क कर लीजियेगा। यदि आप बायोगैस संयंत्र से निकले गोबर घोल का उपयोग कर रहे हैं तो 2.5 गुना ज़्यादा मात्रा लें।

तीसरी परत साफ़ सूखी छनी मिट्टी की परत है। 50-60 किलो मिट्टी आप दूसरी परत के ऊपर बिछा दें। समतल कर लें। चौथी परत वस्तुतः परत नहीं पानी के छींटें हैं जो तीसरी परत के ऊपर आपको डालने हैं, जिससे मिट्टी उड़े नहीं और दूसरी भराई के लिए यह तह ठीक से बैठ जाये। गड्ढे की भराई 1.5 फुट ऊँचाई तक झोंपड़ीनुमा आकार में करें। स्पष्ट करने के लिए दर्शाया गया चित्र भी देखें।

गड्ढा भर जाने पर 400-500 किलो मिट्टी की तह उस पर जमा दें और झोपड़ीनुमा इस गड्ढे को गोबर के मिश्रण से लीप दें। जब आपको दरार पड़ती दिखाई दे, तो पुनः एक बार लिपाई कर दें।

जी हाँ, एक बार फिर आपको तीन तहों की इस प्रक्रिया से होकर गुज़रना पड़ेगा। होगा क्या कि 15-20 रोज के बाद गड्ढे में पड़ी सामग्री सड़कर थोड़ा सिकुड़ेगी और आपने मेहनत से जिस गड्ढे को भरा था वह फिर थोड़ा खाली हो जायेगा। चीजें सड़ेगी तो सिकुड़ेंगी और जब परतें एक दूसरे पर ठीक से बैठेंगी तो गड्ढे में थोड़ी रिक्तता तो आयेगी ही। एक बार फिर परतों के क्रम व मात्रा का स्मरण कर गड्ढा फिर उसी ऊँचाई और झोंपड़ीनुमा आकृति में भरकर पहले की तरह लेपकर ढँक दें।

खाद बनने की प्रक्रिया में 90 से 120 दिन लग जाते हैं। आप तब तक बेफिक्र न रहें। थोड़ा ध्यान देते रहने की ज़रूरत

है। इस पूरे समय में खाद में नमी बनी रहनी चाहिए। इसके लिए समय-समय पर पानी का छिड़काव करते रहें। आवश्यकता लगे तो हौदी या गड्ढे के चारों ओर बने छेदों से भी पानी का छिड़काव करें। दरार पड़ती नज़र आये तो उसे गोबर के लेप से बंद करना न भूलें। आस-पास या गड्ढे की जड़ों अथवा दीवारों पर घास-फूस न उगने दें। सूखी घास-फूस व चटाई से ढँक कर रखें। ढँकने से अर्थ है कि छाया में रहे नाडेप गड्ढा। कड़ी धूप नमी खत्म कर देता है।

तीन महीने बाद आप पायेंगे कि जिन दुर्गन्धयुक्त चीज़ों को आपने गड्ढे में भरा था वे गहरे भूरे रंग की सुगंधित खाद में बदल गई हैं। नाडेप गड्ढे में बनी इस खाद को ज़रूरत के अनुसार इस्तेमाल करें। खाद गड्ढे के एक सिरे से निकालनी शुरू करें ताकि बाकी खाद में हवा न लगे।

खाद को उपयोग में लाने से पूर्व एक चौथाई या एक तिहाई इंच की जाली (35 तार वाली जाली भी कहते हैं) से छान लें और छनी हुई खाद का ही उपयोग करें। छानते समय जो व्यर्थ बचेगा वह पुनः नादेप गड्ढे की भराई में उपयोग किया जा सकता है। यदि आप एक ही दिन सारी खाद नहीं निकाल रहे हो तो शेष खाद में पानी का छिड़काव कर नमी बरकरार रखें। ईईजी फीचर्स

■■■

विलुप्त होने के कगार पर पहुँचे जीवों की संख्या दस गुना बढ़ी

1952 के बाद से अब तक विलुप्त होने के कगार पर पहुँचने वाले जीव-जन्तुओं की प्रजातियों की संख्या लगभग 10 गुना बढ़ी है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय उद्यानों और अभयरण्यों की वर्तमान दशा में और अधिक सुधार लाना आवश्यक है।

उक्त उदगार विज्ञान परिषद् में 'इस धरती पर वन्य जीव संरक्षण से जुडा है मानव का अस्तित्व' विषय पर आयोजित गोष्ठी में सुनील कुमार पाण्डेय ने व्यक्त किया। वर्ष 1952 में विलुप्त हो के कगार पर पहुँची जीव-जन्तुओं की प्रजातियों की संख्या जहाँ मात्र 13 थी वहीं आज यह संख्या लगभग 125 हो गई है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय उद्यानों एवं अभयारण्यों की वर्तमान दशा में सुधार एक आवश्यकता बन गयी है। इस अवसर पर हरिओम सिंह ने वनों से अनेकानेक लाभों को बताते हुए जंगल की अवैध कटाई पर रोक लगाने और वृक्षारोपण कार्यक्रमों को गति देने की आवश्यकता पर बल दिया। विनोद कुमार पाण्डेय ने कृषि एवं पशुपालन से होने वाले लाभों को बताते हुए समस्त पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों के संरक्षण की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। गणेश प्रताप सिंह ने असंतुलित पर्यावरण से होने वाली हानियों की ओर संकेत करते हुए पर्यावरण को संतुलित रखने पर ज़ोर दिया। संगोष्ठी का संचालन कर रहे प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने बताया कि ऐसी भयावह स्थिति नहीं है कि हम हथियार डाल दें। जिन जीव-जन्तुओं को ख़तरा है उन्हें बचाना अवश्य चाहिए। संरक्षित क्षेत्रों का विस्तार हो रहा है, राष्ट्रीय पार्कों और अभयरण्यों की संख्या बढ़ाकर क्रमशः 148 और 503 कर दी गई है।

विचार गोष्ठी की अध्यक्षता कर रहे 'क्योर' संस्था के अध्यक्ष डॉ. अशोक रंजन सक्सेना ने कहा कि देश के पिछड़े और ग्रामीण क्षेत्रों में पर्यावरण के प्रति जागरूकता बढ़ाने, उनकी समस्याओं को समझने, कैम्प लगाकर रोगियों का इलाज करने पर ज़ोर देते हुए सह-अस्तित्व की भावना के संचार की आवश्यकता है।

■■■

('अमर उजाला', 9 अक्टूबर से साभार)

विज्ञान समाचार

□ प्रदीप शर्मा
वैज्ञानिक, भारत की सम्पदा,
प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय,
हिल साइड रोड, नई दिल्ली–110012

(1) काष्ठीय कम्पोजिट

स्वीडन में यूनिवर्सिटी ऑव डेल्ट्रॉयट, मर्सी के वैज्ञानिकों के एक समूह ने कम्पोजिटों में प्रयुक्त किये जाने वाले ग्लास कार्बन या एरेनिड रेशों के स्थान पर काष्ठ के प्रयोग को एक सस्ते और प्रचुरता से उपलब्ध प्रतिवस्तु के रूप में बतलाया है। टैफ्लॉन कोट चढ़े बर्तनों के समान धातु के पृष्ठ पर प्लास्टिक चिपकाने की आबंधन तकनीक लेकर वैज्ञानिकों के इस समूह ने पॉलीमर की पार्श्व श्रृंखला को काष्ठ के पृष्ठ पर चिपकाने की विधि का विकास कर ही लिया है। ऐसा करने से काष्ठ-प्लास्टिक परिसीमा एक दुर्बल अंतरापृष्ठ की तुलना में सतत आबंधित श्रेणी का रूप ले लेती है।

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत् काष्ठ को एक विलायक में छितराकर हाइड्रोजन परऑक्साइड तथा लवण डाले जाते हैं। इस प्रकार तैयार हुये क्लोरीन मूलक हाइड्रॉक्सिल ग्रुप से हाइड्रोजन लिग्निन की ओर निष्कर्षित कर लेते हैं और इस प्रकार मुक्त मूलक स्थान बन जाते हैं। अब लिग्निन को मोनोमर के साथ बहुलकित किया जा सकता है जिसे रेज़िन के लिये उपयोग में लाया जायेगा। इस सब के परिणामस्वरूप काष्ठ रेशा कोष की एक अणु के बराबर मोटी प्लास्टिक की परत चढ़ जाती है। इसके बाद रेशों को भारी मात्रा में रेज़िन के ऊपर फैलाया जाता है। इन अनुसंधानकर्ताओं के अनुसार इस तकनीक को अभी तक पॉलीस्टाइरीन तथा पॉलीमिथाइल मेथाक्राइलेट के साथ परीक्षित किया जा चुका है।

समूह के मुखिया **जॉन मीस्टर** के अनुसार पॉलीस्टाइरीन में 40 प्रतिशत काष्ठ रेशा डालने से उत्पाद की दृढ़ता में तीन गुना बढ़ोत्तरी होती जाती है तथा काष्ठ हल्का होने के कारण भार में भी कमी आ जाती है। काष्ठ रेशों का एक लाभ और भी है और वह यह कि वे कम्पोजिट को आंशिक रूप से जैव निम्नीकरणीय बनायेंगे।

इस समूह का इरादा यह है कि अब कम्पोजिटों के लिए पूर्णतः जैव निम्नीकरणीय पॉलीमरों को बनाया जाये जैसे कि जीवाणुओं द्वारा उत्पादित पॉली हाइड्रॉक्सी ब्यूटाइरेट अथवा पॉली हाइड्रॉक्सी ब्यूटाइरेट-हाइड्रॉक्सी व वैलेरेट सह-पॉलीमर होते हैं। मीस्टर का कहना है कि काष्ठ रेशों की स्टाइरीन एक्राइलोनाइट्राइल के साथ अभिक्रिया करने से वे पॉली हाइड्रॉक्सी वैलेरेट में छितराने के लिये सुसंगत हो जाते हैं। ये अनुसंधानकर्ता समझते हैं कि पेपर उद्योग में सह-उत्पादन के रूप में भारी मात्रा में उत्पन्न हुये लिग्निन को इस मुक्त मूलक प्रक्रम द्वारा बहुमूल्य उत्पादों में परिवर्तित किया जा सकता है। काष्ठ रेशा कम्पोजिटों की तरह ही भविष्य में लिग्निन सहपॉलीमर भी महत्वपूर्ण पदार्थ साबित हो सकता है।

(2) पुनः चक्रित प्लास्टिक से लकड़ी के समान पदार्थ संभव

ब्रिटेन की ग्लिनवेड इन्टरनेशनल शैल्डन नामक एक फर्म ने एक ऐसी नवीन प्रक्रिया विकसित की है जिसके द्वारा खान-पान के लिय प्रयोग में लाये जाने वाले कपों, गलेन के डिब्बों और पैकिंग के लिये प्रयोग में लायी जाने वाली सामग्री से संबंधित पॉलीस्टाइरीन वाले व्यर्थ पदार्थों को पुनः चक्रित करने के बाद प्लास्टिक टिम्बर अथवा टिम्बरोन नामक यह नवीन पदार्थ दिनो-दिन दुर्लभ होती जा रही अच्छी किस्म की लकड़ी के कम लागत वाले लेकिन कारगर प्रतिस्थापी के रूप में कार्य कर सकता है। ऐसी आशा की जाती है कि इस नवीन टिम्बर प्लास्टिक का उपयोग अनेक ऐसे उद्योगों में हो सकेगा जहाँ कहीं भी लकड़ी को उत्पादन पदार्थ के रूप में प्रयोग में

लाया जाता है। पुनः चक्रित पॉलीस्टाइरीन वाले व्यर्थ पदार्थों से लकड़ी के समान पदार्थ के उत्पादन के अतिरिक्त यू.के. की इस फर्म ने नये पॉलीस्टाइरीन का उपयोग करके एक विशिष्ट रूप से उत्कृष्ट टिम्बरोन तैयार की है जो उच्च गुणता वाले दृढ़ काष्ठ के समकक्ष है। वास्तव में वर्तमान् रूप से दृढ़ काष्ठ का उत्पादन कम हो गया है, क्योंकि विश्व में उष्णकटिबंधी वर्षा प्रचुर वन पहले ही घटते जा रहे हैं।

(3) औद्योगिक अपशिष्ट शोधन के लिए द्विध्रुवी कला का उपयोग

यूनिवर्सिटी ऑव न्यू साउथ वेल्स, केनसिंगन, आस्ट्रेलिया के **डॉ. रे साइमन्स** के अधीन जीव-भौतिकीविज्ञों की एक टीम ने एक ऐसी द्विध्रुवी आयनिक कला का विकास किया है जो औद्योगिक बहिःस्राव से विषैले पदार्थों को पृथक कर देती है। साथ ही इन अपशिष्टों को पुनः प्रयोग में लाये जाने वाले पदार्थों में भी परिवर्तित कर देती है। यह कला सख्त, दृढ़ तथा मज़बूत होती है जिस पर रासयनिक द्रव्यों का प्रभाव नहीं पड़ पाता। पनीर-उत्पादन, बॉक्साइड-परिष्करण तथा कागज़ के निर्माण से लेकर अनेक औद्योगिक प्रक्रमों में अम्लों और क्षारों का प्राकृतिक पदार्थों के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। प्रक्रिया के दौरान ये पदार्थ लवणों में परिवर्तित हो जाते हैं जिन्हें अत्यधिक क्षति पहुँचाने वाले अपशिष्टों (प्रदूषकों) के रूप में विसर्जित कर दिया जाता है।

यह द्विध्रुवी कला लवणों को पुनः अम्लों और क्षारों में परिवर्तित कर देती है। इस प्रकार पुनःचक्रण के लिए कच्चा पदार्थ तैयार हो जाता है। साधारणतः इस कला में ऋणायनिक ग्रुपों (ऋणवेशी आयन) की परत के बाद धनायनिक ग्रूपों (धनावेशी आयन) की एक परत होती है। अभी तक जल उपचार प्रक्रमों में प्रयोग में लायी जाने वाली कलाओं में धनायनी अथवा ऋणायनी ग्रुप ही हुआ करते थे, लेकिन इस विशिष्ट कला में दोनों ही ग्रुप विद्यामान होते हैं। इस प्रकार पूर्व प्रयोग में लायी जाने वाली एक आयनी कलाओं की तुलना में अपशिष्ट उपचार के लिये द्विध्रुवी कला को अधिक प्रभावशाली पाया गया है। **डॉ. साइमन्स** ने पाया कि लवण जल विलयन से प्रारंभ करके द्विध्रुवी कला के प्रत्येक वर्ग मी. से 15 टन कॉस्टिक सोडा और तुल्य मात्रा में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का उत्पादन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामान्य क्लोरएलकली प्रक्रम द्वारा कॉस्टिक सोडे के उत्पादन में होने वाली ऊर्जा की खपत की तुलना में इसमें ऊर्जा की खपत आधी ही होती है।

आजकल लुग्दी और कागज़ उद्योग में परम्परागत क्लोरीन का विरंजन कारक के रूप में प्रयोग छोड़कर क्लोरीन डाइऑक्साइड को अपना लिया गया है, जो कि कागज़ को चिट्टा सफ़ेद करने के साथ-साथ पर्यावरण पर कुप्रभाव नहीं दर्शाता। लेकिन क्लोरीन डाइऑक्साइड के अधिकाधिक प्रयोग से कच्चे पदार्थ के मूल्य में बहुत बढ़ोत्तरी हो गई है। डॉ. साइमन्स द्वारा विकसित की गई इस कला से लुग्दी और कागज़ उद्योग के लिये कॉस्टिक सोडे का उत्पादन बहुत कम मूल्य पर किया जा सकता है। इस संदर्भ में विशेष रूप से कनाडा की दो फर्म सोडियम क्लोरेट से क्लोरीन डाइऑक्साइड तथा सोडा कॉस्टिक के उत्पादन के लिए विद्युत्-अपोहन में द्विध्रुवी कलाओं के उपयोग पर अनुसंधान कर रही हैं।

■■■

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जावें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्नस्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं:

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० डी० डी० नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	शाकुन्तल मुद्रणालय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री	सहायक सम्पादक	34, बलरामपुर हाउस	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद्, प्रयाग	डॉ. दिनेशमणि	इलाहाबाद-211002	इलाहाबाद- 211002

ISSN 0373-1200

दिसम्बर 94—जनवरी 1995

विज्ञान

(कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च,
नई दिल्ली के आंशिक आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित)
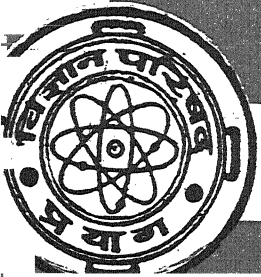
विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915

दिसम्बर 1994—जनवरी 1995; वर्ष 80, अंक 9—10

प्रकाशक

डॉ० देवेन्द्र दत्त नौटियाल
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

■

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

■

सहायक सम्पादक
डॉ. दिनेशमणि

■

मुद्रक
शाकुन्तल मुद्रणालय
34, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद-211002

■

सम्पर्क
विज्ञान परिषद् , महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002
फोन नं: 608498

मूल्य

आजीवन : 200 रु. व्यक्तिगत; 500 रु. संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु.
वार्षिक : 25 रु.
एक प्रति : 3.50 रु.

विज्ञान विस्तार

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

आपके हाथों में दिसम्बर 1994 अंक फिर विलम्ब से पहुँच रहा है। इस बीच परिषद् को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रयाग में अर्धकुम्भ के दौरान गंगा का कितना पानी प्रदूषित हो गया, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। और तो और, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी महाराज के 18 जनवरी, 1995 को अमेठी में निधन से तो विज्ञान परिषद् पर जैसे विपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ा।

पूज्य स्वामी जी पर हम लोग कितना निर्भर करते थे, यह तो वे लोग ही जानते हैं जो उनके निकट सम्पर्क में रह रहे थे। उनकी छत्रछाया मे हमने अपने आपको सदैव सुरक्षित महसूस किया। स्वामी जी विज्ञान परिषद् के प्राण थे। मुझ पर स्वामी जी की विशेष कृपा रही है। विज्ञान परिषद् में जो लोग प्रायः आते हैं वे मुझे 'सम्पादक जी' कहकर बुलाते हैं। यह नाम श्रद्धेय स्वामी जी का ही दिया हुआ है। स्वामी जी जब परिषद् परिसर में अपने शिष्यों द्वारा बनवाई कुटिया 'ऋतम्भरा' में रहने लगे तो उनसे प्रायः प्रतिदिन भेंट होती रहती थी। यदि कभी किसी कार्य में व्यस्त होने के कारण उनके पास पहुँचने में देर हो जाती तो किसी सेवक को आदेश देते– "सम्पादक जी को बुला दो। कहो स्वामी जी याद कर रहे हैं।"

अनेक घटनायें हैं, अनेक स्मृतियाँ हैं, जो रह-रहकर चलचित्र की भाँति आँखों के सामने घूमती रहती हैं। मन यह मानने को तैयार नहीं होता कि स्वामी जी नहीं रहे।

यह सच है कि स्वामी जी का पार्थिव शरीर नहीं रहा, किन्तु अपने कार्यों में वे अमर हो गए हैं। स्वामी जी पहले ही मान-सम्मान, पुरस्कार-पारितोषिक, श्रद्धांजलि-स्तुति से बहुत ऊपर उठ चुके थे। दुःख-सुख, हानि-लाभ, यश-अपयश, जीवन-मरण को बड़े ही सहज रूप में स्वीकार करते थे। स्वामी जी के वीतरागी मन ने अपनी पत्नी और छोटे पुत्र के निधन को भी हँसकर झेला। बातचीत के दौरान स्वामी जी कभी इस बात का आभास भी नहीं होने देते थे कि आप किसी विद्वान से बात कर रहे हैं। किन्तु बातें सदैव प्रेरणाप्रद होती थीं। स्वामी जी विनोद प्रिय थे और उनकी हँसी बच्चों जैसी थी। उनके सम्पर्क में जो भी आया, उसे 'सत्य' और 'प्रकाश' प्रसाद रूप में मिले।

24 अगस्त 1905 को जन्मे 90 वर्षीय स्वामी जी अपने जीवन के अंतिम समय तक एक युवा की भाँति सक्रिय थे। वैसे अंतिम समय में आँखों से कम दिखता था, कानों से कम सुनाई पड़ता था, शरीर कमजोर हो गया था, किन्तु चारों वेदों के अंग्रेजी अनुवाद को पूरा कर लेने की इच्छा बलवती थी।

स्वामी जी के निधन के बाद आर्य समाज और विज्ञान की ढेरों संस्थाओं द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित करने का क्रम अभी भी जारी है। सन्यासी होने के कारण उनका परिवार बहुत बड़ा है। किन्तु उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी उनके अधूरे काम को पूरा करना, उनके सपनों को साकार करना।

स्वामी जी की कीर्ति अक्षुण है। अपने कार्यों में वे अमर हैं। फिर भी 'विज्ञान' पत्रिका का सम्पादक होने के नाते इच्छा है कि स्वामी जी के व्यक्तित्व के अनुरूप विज्ञान का "स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती स्मृति विशेषांक" प्रकाशित हो।

इस संबंध में स्वामी जी के निकट सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे अपने-अपने संस्मरण लेखनीबद्ध करके परिषद् में भेजने का अनुग्रह करें। स्वामी जी के दुर्लभ चित्र और पत्रादि हों तो उसकी मूल प्रति अथवा फोटो कापी भेजने की कृपा करें। यह सभी सामग्री 15 मार्च 1995 तक अवश्य भेज दें।

मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि सदैव की भाँति इस पुनीत कार्य में मुझे आप सभी का हर तरह से सहयोग प्राप्त होगा।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

बहुउपयोगी वृक्ष नीम
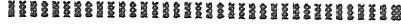
□ *डॉ० आजम शाह खान*
प्रवक्ता, प्राणिशास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय, टोंक, राजस्थान

भारतीय एवं यूनानी चिकित्सा-पद्धित के अनुसार हर पेड़ में किसी न किसी बीमारी के लिए कुछ विशेष प्रकार के रसायन पाए जाते हैं। इस दृष्टि से नीम के पेड़ का विशेष महत्व है। आज की वैज्ञानिक शोधों ने भी नीम के पेड़ के करीब-करीब हर भाग में पाए जाने वाले ओषधि-तत्वों की जाँच-परख व शोध के पश्चात् इसकी महत्ता को बहुत हद तक समझ लिया है और इसका क्रम जारी है। इसी संबंध में पिछले दिनों बेंगलूर में एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन भी किया गया था।

अंग्रेज़ी में नीम को "मारगोसा ट्री" के नाम जाना जाता है। फ़ारसी में इसको "आज़ाद दरख्त" कहते हैं। इसका वैज्ञानिक नाम **अजेडीरैक्टा** है। इसके कुल का नाम "मेलिएसी" है। खादी ग्रामोद्योग कमीशन के एक आकलन के अनुसार भारत में नीम के वृक्षों की संख्या 140-180 लाख है। भारतीय उपमहाद्वीप के अलावा अफ्रीका, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में **भी** नीम पाया जाता है।

यह साधारणतया एक मझोले आकार का पेड़ है। परन्तु कभी-कभी इसकी ऊँचाई 25 मीटर तक पहुँच जाती है। पेड़ के तने व डालियों पर छाल पाई जाती है जो गहरे भूरे रंग की होती है तथा खुरदुरी होती है। पत्तियाँ डालियों पर झुण्ड के रूप में पाई जाती जिसे आम भाषा में झौरा कहते हैं। प्रत्येक पत्ती गहरे हरे रंग की पाँच से छः इंच लम्बी होती है तथा 12 से 17 छोटी पत्तियों में बँटी हुई होती है। प्रत्येक छोटी पत्ती किनारों पर आरी की आकृति में कटी हुई होती है। प्रत्येक वर्ष मार्च से मई के मध्य डालियों पर पत्तियों के साथ-साथ छोटे-छोटे असंख्य फूल खिलते हैं, जिन में भीनी-भीनी सुगन्ध होती है। इन फुलों में 1.5 सेन्टीमीटर लम्बे अंडे की आकृति के फल बनते हैं जिन्हें "नीमकोली" या "नीमकौड़ी" कहा जाता है। नीमकोली कच्ची अवस्था में हरी होती है, परन्तु पकने पर रसदार व पीली होजाती है। इसके भीतर एक गुठली पाई जाती है। इस गुठली के अन्दर एक नरम बीज पाया जाता है। इस बीज को "करनल" कहा जाता है। यह बीज ऐसे स्थान पर आसानी से उग जाता है जहां का तापमान 120 डिग्री फारेनहाइट है और पानी की कमी हो। इसी कारण से नीम बंजर स्थानों पर पेड़ लगाने या नए जंगल लगाने के लिए बहुत उपयुक्त है। काली मिट्टी में यह अच्छा नहीं पनपता। इसी प्रकार "पाले" का प्रकोप भी इसको बहुत अधिक हानि पहुँचाता है। यही कारण है कि पंजाब व हिमालय के तराई वाले क्षेत्रों में नीम के वृक्ष बहुत कम देखने को मिलते हैं।

भारत में प्राचीन काल से ही नीम का उपयोग कई प्रकार से किया जाता रहा है। नीम की पत्तियों को सुखा कर कपड़ों, पुस्तकों व अनाज में रखा जाता है ताकि उनमें कीड़े न लगें। बंगाल, मध्य प्रदेश और राजस्थान के ग्रामीण इलाकों में नीम की कोंपलों को कच्चा या सब्ज़ी बनाकर खाया जाता है ताकि मधुमेह से छुटकारा पाया जा सके। सूखी पत्तियों को जलाकर घरों में धुँआ किया जाता है ताकि रोगाणुओं, मच्छरों, मक्खियों, तिलचट्टों से छुटकारा पाया जा सके। क्षय-रोगियों के कमरों में पत्तियों को उबालकर उनका भपारा दिया जाता है ताकि क्षय रोग के जीवाणुओं को मारा जा सके। भारतीय संस्कृति में नीम के वृक्ष के प्रति श्रद्धा का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि "चेचक" हो जाने पर 'देवी माता' के चरणों में नीम की पत्तियों को चढ़ाया जाता है ताकि रुष्ट 'देवी माता' को प्रसन्न किया जा सके। इसी प्रकार दक्षिण भारत के ग्रामीण अंचलों के मन्दिरों में नीम व पीपल के वृक्षों का एक दूसरे से विवाह किया जाता है जो उन लोगों की इन वृक्षों में श्रद्धा का प्रतीक है। खसरा व चेचक के मरीजों पर नीम की पत्तियों से हवा की जाती है, इस विश्वास के साथ कि रोगी शीघ्र स्वस्थ हो जाएगा।

आज की वैज्ञानिक खोजों ने भी नीम की महत्ता पर अपनी मोहर (मुहर) लगा दी है। इसके प्रत्येक भाग पर शोध करके

उसकी विशेषताओं का भरपूर आकलन किया जा चुका है। आइए, इस पर एक दृष्टि डालें।

नीम की छाल

नीम की छाल को स्वास्थ्य के लिए एक अच्छा टानिक माना जाता है। इसको एक बेहतरीन एस्ट्रीन्जेन्ट भी माना जाता है, क्योंकि इसमें पाए जाने वाले ओषधि-तत्व दाँतों को हिलने नहीं देते तथा मसूड़ों को दाँतों के चारों ओर कसे रहते हैं। छाल से टिंचर भी बनाया जाता है जो फोड़ों-फुंसियों को बहुत जल्दी ठीक कर देता है। इसी प्रकार 'मलेरिया' बुखार में भी नीम की छाल काफ़ी लाभकारी सिद्ध हुई है।

नीम की पत्तियाँ

इनका स्वाद कड़वा होता है, तथा इनमें से एक विशेष प्रकार की कड़वी सुगन्ध आती है। इनको सुखाकर कपड़ों, किताबों व अनाज में रखा जाता है ताकि उनमें कीड़े न लगें। दाद पर भी इन पत्तियों को पीस कर लेप लगाया जाता है। गाँवों में नीम की पत्तियों में पेट के कीड़ों को निकालने की विशेषता का आम विश्वास पाया जाता है, जो सही नहीं है। नीम की पत्तियों की खाद बहुत अच्छी बनती है, क्योंकि पेड़-पौधों को अच्छे पोषक तत्व प्रदान करने के साथ-साथ यह ज़मीन में उपस्थित दीमक का खात्मा भी कर देती है। इसी प्रकार कुछ फ़सल को नुकसान पहुँचाने वाले कीट जैसे श्वेत सूंढी, सैनिक शलभ आदि नीम की पत्तियों को बहुत चाव से खाते हैं, परन्तु इन को खाने के पश्चात् वे मर जाते हैं।

नीम का तेल

नीमकोली के बीज में लगभग 45 प्रतिशत तेल पाया जाता है। इस तेल की गंध कड़वी होती है। इस तेल में एक विशेष प्रकार का रसायन पाया जाता है जिसे "निम्बीडीन" कहते हैं। यह निम्बीडीन नाम का रसायनिक यौगिक कई प्रकार के वसीय अम्लों, फॉस्फोलिपिड्स व गंधक से मिलकर बना हुआ होता है।

प्रमुख वसीय अम्ल जो निम्बीडीन में पाए जाते हैं, इस प्रकार हैं—

पामीटिकक एसिड	19.4 प्रतिशत
स्टीरिक एसिड	18.3 प्रतिशत
ओलिक एसिड	45.7 प्रतिशत
लिनोलिक एसिड	14.4 प्रतिशत
अरेकीडोनिक एसिड	1.4 प्रतिशत

विभिन्न प्रकार की फॉस्फोलिपिड्स जो निम्बीडीन में पाई जाती हैं वे इस प्रकार हैं—

फॉस्फोटिडिल कोलीन	13.9 प्रतिशत
फॉस्फोटिडिल इथेनोलअमीन्स	39.3 प्रतिशत
कोर्डियोलिपिन	10.3 प्रतिशत
फॉस्फोटिडिल आइनेसिटोल	36.4 प्रतिशत

इस तेल की विशेषता यह है कि यह कई प्रकार के रोगाणुओं को मार डालने में सक्षम है। विशेषतौर पर घावों, फोड़े-फुंसियों के विरुद्ध यह बहुत लाभकारी है। आग से जले हुए भागों को भी यह बहुत जल्दी भर देता है। पायोरिया व मसूड़ों से खून आने के इलाज के लिए भी बहुत प्रभावी है। मारगो सोप व अन्य नीम के साबुन आदि इसी तेल द्वारा तैयार किए जाते हैं। मच्छर, मक्खी तथा अन्य कीटों को मारने की क्षमता भी इस तेल में पाई जाती है। गाँवों में इस तेल को दियों में जलाकर रोशनी की जाती है।

नीम की खली (नीम केक)

बीज से तेल निकालने के पश्चात् बची खली भी उपयोगी होती है। इसमें 5 प्रतिशत नाइट्रोजन, 2 प्रतिशत फॉस्फोरस और 10 प्रतिशत पोटेशियम पाया जाता है। इन तत्वों के अलावा एक विशेष रसायन "लिम्नोइड्स" भी इस में पाया जाता है। इस खली का बेहतरीन उपयोग खाद के रूप में किया जाता है। एक ओर तो यह पौधों को बढ़िया प्रकार की खुराक प्रदान करता है, दूसरी ओर इसमें पाए जाने वाले विशेष रसायन मिट्टी में उपस्थित दीमक को प्रभावी तौर पर मार डालने में सक्षम हैं। न केवल दीमक बल्कि फ़सल को नुकसान पहुँचाने वाले अन्य कई प्रकार के कीट भी इसके प्रभाव से मर जाते हैं। खली में पाए जाने वाले लिम्नोइड्स की एक विशेषता यह भी होती है कि वह मिट्टी में उपस्थित "नाइट्रीफाइंग बैक्टीरिया" को खाद में उपस्थित नाइट्रेट्स को तोड़कर नाइट्रोजन में परिवर्तित करने से रोकते रहते हैं। गोदरेज कम्पनी ने नीम की खली से "निम्बिन" नाम की एक ओषधि तैयार की है जिसको यूरिया में मिलाकर खेतों में दिया जाता है ताकि नाइट्रीफाइंग बैक्टीरिया खाद में उपस्थित नाइट्रेट्स को न तोड़ सकें, तथा खाद अपनी भरपूर विशेषता को पेड़-पौधों की बढ़त के लिए उपयोग में ला सके। इस खली को मुर्गियों को भी

खिलाया जाता है ताकि वे अंडे अधिक दें। दूधारू जानवरों को खिलाने पर वे दूध ज़्यादा देते हैं।

नीम का गोंद

हल्के पीले रंग का चिपचिपा पदार्थ होता है, तने से निकलता है, बहुत गाढ़ा होता है तथा हवा लगने पर सूख जाता है। इसकी रसायनिक संरचना में जल के अतिरिक्त गेलेक्टीन 12 प्रतिशत, पेन्टोसन्स 26 प्रतिशत तथा अन्य प्रकार के एलब्यूमिन्स तथा ऑक्साइड्स की भी थोड़ी मात्रा पाई जाती है। आयुर्वेद व यूनानी चिकित्सा-पद्धति में इसका विशेष महत्व है।

नीम टोड़ी

कभी-कभी किसी नीम के वृक्ष से एक मीठा तरल निकलता है, जिसमें नीम की कड़वाहट के साथ एक विशेष प्रकार की गंध होती है। इसके रसायनिक संगठन में जल के अतिरिक्त 7 प्रतिशत शर्करा तथा 7 प्रतिशत अलब्यूमिन्स तथा कुछ अन्य पदार्थ पाए जाते हैं। 'आयुर्वेद' में इसका ओषधि के रूप में विशेष स्थान है।

नीम की लकड़ी

नीम की लकड़ी अन्य प्रकार की कुछ लकड़ियों से भारी होती है। इसमें कठोरता मध्यम श्रेणी की होती है। तने को काटने पर गोलाई में वार्षिक वृद्धि के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देते हैं। इन गोलाई लिए हुए चिन्हों को गिनकर वृक्ष की उम्र का पता लगाया जा सकता है। इस लकड़ी पर दीमक का असर नहीं होता। यह नक्काशी के काम के लिए बहुत उपयुक्त लकड़ी मानी जाती है, परन्तु इस पर पालिश अच्छा नहीं चढ़ता। साधारणतया इस लकड़ी से बैल-गाड़ियाँ दरवाज़े, मकान, खिलौने और हल बनाए जाते हैं।

नीम की अन्य विशेषताएँ

नीम के विभिन्न भागों में जो मुख्य रसायनिक योगिकों का समूह पाया जाता है उसको लिम्नोइड्स या ट्राईटरपिन्स कहा जाता है। कुछ मुख्य लिम्नोइड्स जो नीम में प्रचुरता से पाए जाते हैं, वे इस प्रकार हैं–मेलियोम ट्रायोल, अजैडीरैक्टीन, 3-डीएसेटाइलसेलेनिन तथा सेलेनोल।

उपरोक्त विभिन्न प्रकार के लिम्नोइड्स विशेषतौर से बीजों, छाल तथा पत्तियों में पाए जाते हैं। इनका विशेष महत्व यह है कि फ़सल को नुकसान पहुँचाने वाले करीब दो सौ प्रकार के जीवों जैसे कीड़े-मकोड़ों, (इन्सेक्ट्स) व लटों (निमेटोड्स) पर ये बहुत ही प्रभावशाली ढंग से अपना असर डालते हैं, क्योंकि इनके प्रभाव से न केवल पूर्णविकसित जीव बल्कि उनके अंडे, लारवा व प्यूपा अवस्थाएँ भी मर जाती हैं। इनके प्रभाव से ये जीव खाना-पीना बन्द कर देते हैं तथा उनके शरीर की उपापचयी क्रियाएँ इस प्रकार प्रभावित होती है कि अन्ततः इनकी मृत्यु हो जाती है। नवीन शोधों से एक विशेष तथ्य जो उभर कर सामने आया है वह यह है कि मनुष्य व अन्य जीवों पर इनका कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता, दूसरे अन्य कीटनाशकों के प्रति, फ़सल को नुकसान पहुँचाने वाले इन कीटों में प्रतिरोधक क्षमता पनप गई है। किन्तु नीम के लिमनोइड्स के प्रति अभी प्रतिरोधक क्षमता विकसित नहीं हो पाई है।

यदि इन लिमनोइड्स के घोल में बोरियों को भिगोकर सुखा लिया जाए तो उनमें भरे खाद्यान्नों पर इल्लियों (ट्राइबोलियम) व घुन (राइजोपर्थी व साइटोफाइलस) आक्रमण नहीं कर पाते। इसी प्रकार यदि इन रसायनों के घोल में कुछ समय बीजों को रखकर उसके बाद उगाया जाए तो इन बीजों से पनपे पौधों पर काफी समय तक कवक, कीटों व अन्य रोगाणुओं का प्रभाव नहीं पड़ता है।

आज न सिर्फ भारतवर्ष में बल्कि अमेरिका, इंगलैंड, जापान व जर्मनी में भी नीम के पेड़ की विशेषताओं के अध्ययन हेतु बड़े पैमाने पर शोध कर्य चल रहे हैं तथा नीम की अनेक विशेषताएँ सामने आ रही हैं। अमेरिका के एक रिसर्च सेन्टर ने अपनी यह रिपोर्ट पेश की है कि नीम का रस जिगर (यकृत) में होने वाले रोग के विषाणुआ (हिपेटिक-बीटा-वाइरस) को काफी प्रभावी ढंग से मार डालने में सक्षम है। इसी प्रकार जर्मनी व इंगलैंड के वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नीम का रस "एड्स" (AIDS) के विषाणुओं को मार डालने में सक्षम है तथा 'कैंसर' को भी ठीक कर सकता है। इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर शोध-कार्य जारी है।

वैसे नीम की उपयोगिता को देखते हुए हमारे देश में इस पर जितना कार्य होना चाहिए, अभी नहीं हो पा रहा है। केवल कुछेक स्थानों पर ही इस पर सीमित कार्य होने की सूचनाएँ उपलब्ध हैं। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव इम्मयोलॉजी के वैज्ञानिकों

ने नीम के तेल से एक पदार्थ "पेरानीम" निकाला है, जो परिवार नियोजन के क्षेत्र में काफी सहायक सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार इण्डियन स्कूल ऑव साइंस के वैज्ञानिकों ने नीम के रस की इस विशेषता का पता लगाया है कि इस का लेप अगर लोहे पर कर दिया जाएँ तो उस पर जंग नहीं लगता। पूना के प्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक **डॉ० सी.एम. काटकर** के अनुसार एक हेक्टेयर पर लगी, फ़सलों को पूर्णत: सुरक्षित रखने के लिए दो या तीन नीम के पेड़ काफी हो सकते हैं।

इस प्रकार आज जिस पैमाने पर संसार भर में नीम के वृक्ष की विशेषताओं की खोजबीन का क्रम जारी है, उसके परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि नीम में विशेषताओं का 'ख. जाना' भरा पड़ा है, जो कि न केवल फ़सलों के अधिक उत्पादन में हमारी सहायता कर सकता है, वरन् आज का चिकित्सा विज्ञान जिन बीमारियों के उपचार नहीं खोज सका है, उन को भी इस 'खज़ाने' से बहुत कुछ मिलने की आशाएँ हैं। पर्यावरण को स्वस्थ करने हेतु भी नीम अत्यून्त उपयोगी है। नीम पर और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। डॉ. काटकर सत्य कि कितने निकट हैं, जब वे कहते हैं कि एक दिन संसार भर में नीम ही कृषकों का सच्चा मित्र सिद्ध होगा।

■■■

विज्ञान के बढ़ते चरण
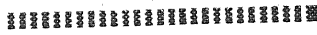
□ *कु० किरन द्विवेदी*

5 ई/3 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद-2

(1) कैट स्केनर का आविष्कार

विज्ञान का नवीनतम स्वास्थ्य एवं चिकित्सा संबंधी आविष्कार है 'कैट स्केनर'। आमतौर से हड्डी टूटने या शरीर के किसी भाग में लगातार असहनीय पीड़ा होने पर डॉक्टर एक्स-रे लेते हैं, पर कई बार रोग एक्स-रे की पकड़ में नहीं आता और परीक्षण के दौरान असहनीय पीड़ा भी होती है। इसलिए विश्व के अनेक देशों के वैज्ञानिक एक ऐसे यंत्र के आविष्कार में जुटे हुए थे, जो बिना पीड़ा पहुँचाये मस्तिष्क और शरीर के दूसरे अंगों के भीतरी भागों की सही जानकारी दे सके। अंत में वैज्ञानिकों ने एक ऐसा यंत्र बना ही लिया। इस यंत्र का नाम है 'कैट स्केनर'। कैट स्केनर एक्स-रे का सुधरा रूप है। कैट स्केनर से रोग की सही जानकारी के साथ ही सही चिकित्सा हो रही है या नहीं, इसका भी पता चल जाता है।

कैट स्केनर कम्प्यूटराइज्ड एक्सियल टोमोग्राफी के पहले तीनों अक्षरों यानी कैट (सीएटी) और शरीर के भीतरी अंगों का परीक्षण या स्केनिंग करने के कारण स्केनर से मिलकर बना है।

वैज्ञानिकों को अभी तक दो तरह के कैट स्केनर बनाने में सफलता मिली है। 'हेड स्केनर' तथा 'बॉडी स्केनर'। हेड स्केनर बॉडी स्केनर की तुलना में छोटा एवं सस्ता है।

भारत में दिल्ली की भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स), डॉ. राम मनोहर लोहिया अस्पताल, सर गंगाराम अस्पताल के अतिरिक्त बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, हैदराबाद, मंगलौर, नागपुर, पूना, लखनऊ, चण्डीगढ़ के भी कई अस्पतालों में कैट स्केनर उपलब्ध हैं।

(2) मधुमेह रोगियों के लिए शुभ समाचार

अभी तक मधुमेह के रोगियों को कड़वे करैले का रस पीना पड़ता था, किन्तु जब यह कड़वा रस कड़वा नहीं रह जायेगा। इसकी कड़वाहट को दूर करने का उपाय वैज्ञानिकों ने ढूँढ़ लिया है।

जापान के दो रसायनविदों- **वाई.केत्सुरागी** एवं **कुरिहारा** ने फॉस्फेटिडिक अम्ल तथा बीटा लैक्टोग्लेब्युलिन युक्त एक ऐसा रासायनिक चूर्ण बना लिया है, जो पानी में घुल भी जाता है और किसी भी तिक्त पेय से उसकी कड़वाहट भी हटा देता है। यानी करैले की कड़वाहट दूर करने के साथ ही इसमें कॉफी, खसखस, नीमतेल व नीम की निबोली की तिक्तता दूर करने की भी क्षमता विद्यमान है।

शब्द और अर्थ के बीच 'गणित' और 'दशमलव' की यात्रा-कथा
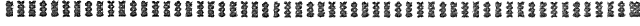
□ *योगेन्द्र बहादुर सिंह*
प्रवक्ता, के.एन.आई., सुल्तानपुर, पिन–228118, उ.प्र.

संख्याओं का ज्ञान भारत में यद्यपि वैदिक काल से ही है, लेकिन 'गणित' शब्द अपने मूल रूप में वैदिक साहित्य में नहीं उपलब्ध है। गणित के सव्युत्पत्तिक शब्दों–गणक, गण और गण्या का प्रयोग 'ऋग्वेद' में देखने को मिलता है। 'गणक' का अर्थ गणना करने वाला यानी कि ज्योतिषी से था। उस काल में गणित ज्योतिष के अधीन था। परन्तु उपनिषदकाल में गणित, अंकगणित के रूप में (जिसे उस समय राशिविद्या का नाम प्राप्त था) ज्योतिष (नक्षत्र-विद्या) से अलग होने की प्रक्रिया में आ सका। गणक की ज्योतिषी वाली परिभाषा बदलते-बदलते सातवीं शताब्दी तक बिल्कुल ही अलग हो गयी। अब गणितज्ञ को ज्योतिष का ज्ञान होना आवश्यक नहीं रह गया। 'ब्रहमस्फुट सिद्धान्त' में ब्रह्मगुप्त (629 ई.) ने कहा है कि गणक वही जो संकलित आदि गणित की 20 क्रियाओं तथा 8 व्यवहारों को जानता हो। वैसे 'गणित' और 'ज्योतिष' के विलगाव की धारा 'वक्षाली पाण्डुलिपि' तथा 'आर्यभट्टीय के गणित' में भी देखने को मिलती है। वक्षाली काल से कुछ पहले अर्थात् लगभग पहली शताब्दी से गणित, ज्योतिष से अलग होकर स्वतंत्र विषय हो गया था। गणित पर फिर आर्यभट्ट (499 ई.), ब्रह्मगुप्त, श्रीपति (1039 ई.) आदि ने अपने ज्योतिष ग्रंथों में अलग से अध्याय लिखे।

'गणित' शब्द गण धातु में क्त प्रत्यय लगाकर बना है। गण् धातु का अर्थ 'गिनना' है। 'गणित' का प्रथम प्रयोग वेदांग 'ज्योतिष' (800 ई. पू.) के निम्न श्लोक में मिलता है–

यथाशिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां गणितं गूर्धिनं स्थितम्॥

अर्थात् जिस प्रकार मोरों की शिखायें तथा नागों की मणियाँ मस्तक में स्थित होती हैं, उसी प्रकार वेदांग शास्त्रों में 'गणित' शीर्ष पर विराजमान है। वेदांग ज्योतिष के परवर्ती संस्कृत साहित्य में गणित शब्द का प्रयोग 'महाभारत', 'भागवत् पुराण', 'मृच्छकटिकम्', 'आर्यभट्टीय', 'वक्षाली पाण्डुलिपि' आदि में मिलता है। 'स्थानांगसूत्र' (350 ई. पू.) के 726वें सूत्र में गणित को अति सूक्षम विषय बताया गया है। टीकाकार ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि गणित वज्र के समान अत्यन्त कठिन होता है। गणित को जैन और बौद्ध मुनियों ने सर्वोपरि माना। जैन गणितज्ञ महावीराचार्य (850 ई.) के अनुसार–"अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? सचराचर त्रैलोक्य में जो कुछ भी वस्तु है उसका अस्तित्व गणित के बिना सम्भव नहीं हो सकता।"

'दशमलव' शब्द अंग्रेजी के 'डेसीमल' का हिन्दी अनुवाद है। शब्द के साथ-साथ इसका आविष्कार भी अ-भारतीय है। यद्यपि कि भारतवर्ष में इसका आविष्कार नहीं हुआ है, फिर भी इसके आविष्कार के लिए पृष्ठभूमि भारत में ही बनी है। दशमलव-पद्धति भिन्नों (Fractions) का ही परिष्कृत रूप है। जहाँ तक भिन्नों की बात है, ये हमारे प्राचीनम् ग्रंथों तक में देखने को मिलते हैं। वैदिक काल में भाग का अर्थ हिस्सा था। इसी 'हिस्सा' से 'दसवें हिस्से' की बुनियाद पड़ी और फिर भारतीय मूल के भिन्नों के ज्ञान को विदेशी गणितज्ञों ने दशमलव-पद्धति का विस्तार दिया। वैसे दसवें भाग के लिए दशमलव शब्द भास्कर प्रथम (626 ई.) ने भी प्रयुक्त किया था। लेकिन यह शब्द सिर्फ शब्द बनकर रह गया और दसवें हिस्से के अर्थ से अधिक भारत में विस्तार नहीं पा सका। दशमलव-पद्धति के लिए भारत ने 'भिन्नों' के अतिरिक्त जो दूसरा आधार दिया था, वो था–दाशमिक अंक पद्धति। दशमलव पद्धति, दाशमिक पद्धति का कलांतर ही तो है। दोनों का मिला-जुला ताना-बाना देखिये–634 में 6 का स्थानमान $6x10^2$ है जबकि 0.634 में 6 का स्थानमान $6x10^{-1}$ है।

[शेष पृष्ठ 15 पर]

राकेट प्रोपेलेन्ट
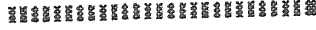
□ डॉ० जयप्रकाश अग्रवाल
संयुक्त निदेशक, विस्फोटक अनुसंधान तथा
विकास प्रयोगशाला, सुतारवाडी, पुणे–411 021

भारत एक शान्तिप्रिय देश है तथा प्राचीन काल से ही ऋषियों एवं मुनियों का तपोवन रहा है। लेकिन प्राचीन इतिहास का अवलोकन करने से मालूम चलता है कि भारतीय ऋषियों, मुनियों, राजाओं तथा महाराजाओं को अग्निकुन्दकों तथा अग्नि-वाणों का ज्ञान था, जो किसी भी तरह से राकेटों तथा आधुनिक मिसाइलों से कम नहीं थे।

राकेट का इतिहास काफी प्राचीन है तथा इसका जन्म युद्ध-शस्त्रों के रूप में हुआ। यह आश्चर्यजनक बात है कि राकेट का आविष्कार यूरोप या अमेरिका में न होकर चीन में हुआ। चीनियों को दसवीं शताब्दी से ही राकेट का ज्ञान था तथा वहाँ से यह ज्ञान अरब देशों तथा यूरोप को गया। भारतीयों ने 1799 में सेरिगंपट्टम् में घेराव के समय, अंग्रेज़ों की सेनाओं के विरुद्ध, राकेटों का प्रयोग किया था, जिससे प्ररित होकर अंग्रेज़ों तथा दूसरे यूरोपियनों ने राकेट अनुसंधान की आवश्यकता को समझा और प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों ने राकेट अनुसंधान को तीव्र गति दी। द्वितीय विश्वयुद्ध में निर्देशित मिसाइलों का भी विकास हुआ।

साधारणतया सभी उड़ती हुई वस्तुओं को राकेट की संज्ञा दी जाती है तथा दहनकक्ष जिसमें रासायनिक ऊर्जा, गतिज ऊर्जा में परिवर्तित होती है उसे राकेट मोटर (दहन कक्ष) कहते हैं। राकेट एक जेट इंजिन के समान है तथा न्यूटन के गति के तृतीय नियम के आधार पर कार्य करता है। जब नोदक (प्रोपेलेन्ट) के जलने से पैदा हुई गैसे, नोज़िल से तीव्र गति से निकलती है तो राकेट उसके विपरीत दिशा में गतिमान होता है। राकेट को चित्र-1 में दर्शाया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि राकेट में कई पद्धदियाँ होती हैं। मुख्य पद्धतियाँ इस प्रकार हैं–

1. युद्धशीर्ष पद्धति (वारहेड सिस्टम)
2. नोदन पद्धति (प्रोपल्सन सिस्टम)

"राकेट नोदक" (राकेट प्रोपेलेन्ट) को राकेट का मुख्य अंग माना जाता है तथा इसके दहन से राकेट गतिमान होता है। नोजिलमय दहन कक्ष (राकेट मोटर) तथा नोदक मिलकर नोदन प्रणाली बनाते हैं। राकेट मोटर नोदक को रखने तथा बाद में उसके दहनकक्ष का काम करता है। राकेट मोटर माइल्ड स्टील, हल्के एल्युमिनियम् एलोय या संयुक्त पदार्थो (कम्पोज़िट मेटीरियलस जैसे ग्लास या कार्बन या केवलार रेशों से पुष्ट किया हुआ इपोक्सी या पोलीएस्टर या क्लोरोपोलीएस्टर रेज़िन) से बना हो़ता है, राकेट मोटर में उच्च ताप तथा दबाव को सहन करने की क्षमता होती है।

नोदन चार प्रकार के होते हैं –

1. द्रव नोदक
2. ठोस नोदक
3. संकर नोदक (हाइब्रिड नोदक)
4. थिक्सोट्रोप या जेल नोदक

अधिकतर राकेटों में ठोस तथ द्रव नोदक ही प्रयोग में लाये जाते हैं। द्रव नोदक दो प्रकार के होते हैं:–

(अ) मोनोोपेलेन्ट

(ब) बाइप्रोपेलेन्ट

ऐसे द्रव (नाइट्रोमीथेन, मिथाइल नाइट्रेट आदि) जिनका अपघटन (डिक्म्पोजिशन) ऊष्मापेक्षी (एक्सोथर्मिक) होता है तथा जिसे नियंत्रित भी किया जा सकता है, मोनोप्रोपेलेन्ट कहलाते हैं। बाइप्रोपेलेन्ट दो द्रवों से मिलकर बनते हैं। एक को ईंधन (फ्यूल) तथा दूसरे को ऑक्सीकारक (ऑक्सीडाइज़र) कहते हैं। ईंधन तथा ऑक्सीकारक अलग-अलग टैंक में होते हैं तथा इन्हें अलग-अलग दहनकक्ष में भेजा जाता है, जिनकी अभिक्रिया से ऊर्जा उत्पन्न होती है। हाइड्राजीन (फ्यूल)-रेड फ्यूमिंग नाइट्रिक

चित्र. 1 : राकेट (ठोस नोदक)
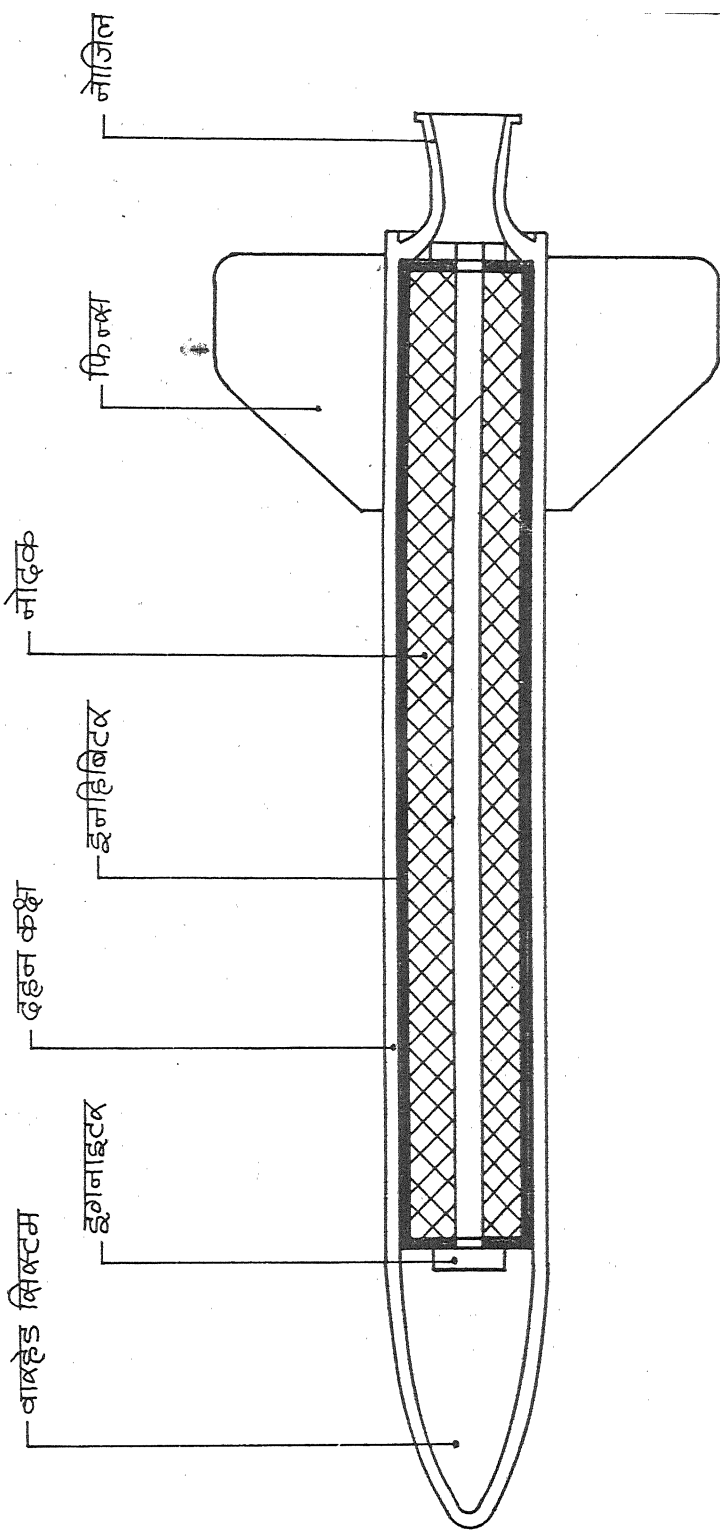
एसिड (आर.एफ.एन.ए. ऑक्सीकारक) सिस्टम बाइप्रोपेलेन्ट का सबसे अच्छा उदाहरण है। लेकिन दुर्भाग्यवश हाइड्राजीन का हिमांक (फ्रीजींग प्वाइन्ट) ज़्यादा कम नहीं है। इस कमी को दूर करने के लिए अनसिमेट्रिकल डाइमिथाइल हाइड्राजीन (यू.डी.एम.एम.) प्रयोग में लाते हैं। दूर्भाग्यवश इसकी कार्यक्षमता हाइड्राजीन से कम होती है इसलिए आजकल हाइड्राजीन तथा यू.डी.एम.एन. के मिश्रण को आर.एम.एन.ए. के साथ प्रयोग में लाते हैं।

द्रव नोदकों के विशिष्ट संघात (इस्पेसिफिक इम्पल्स) तथा दहन अन्तराल (कम्बस्चन ड्यूरेशन) अधिक होते हैं लेकिन इनके कुछ मुख्य अवगुण हैं राकेट मोटरों का जटिल डिज़ाइन, भण्डारण एवं इनका रख रखाव। ठोस नोदकों की सरलता तथा विश्वसनीयता के कारण इन नोदकों को प्राथमिकता दी जाती है। इनका दहन, उद्दीपक (इगनाइटर) की सहायता से प्रारम्भ किया जाता है तथा नोदक की जिस बाहरी या आतरिंक सतह को जलने से रोकना होता है उसे इनर्ट पोलीमरिक पदार्थ से ढक दिया जाता है। इस इनर्ट पोलिमरिक पदार्थ को इनहिबिटर कहते हैं। ठोस राकेट नोदक मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं:-

1. द्विआधार नोदक (डबल बेस प्रोपेलेन्ट)
2. संयुक्त नोदक (कम्पोज़िट प्रोपेलेन्ट)
3. संयुक्त रूपान्तरित द्विआधार नोदक (सी.एम.डी.बी.)

द्विआधार नोदकों का विशिष्ट संघात 200-210 सेकन्ड होता है तथा इसकी विशेषताएँ हैं—नोदक की दीर्घायु एवं उच्च यान्त्रिकीय गुण (नोदक की आयु 10-15 वर्ष एवं टी.एस. (140 किग्रा. /सेमी)^2। द्विआधार नोदकों के मुख्य अवयव नाइट्रो-सेलुलोज (एन.सी) तथा नाइट्रोग्लिसरीन (एन.जी.) है। इनके साथ-साथ कुछ लघु अवयव जैसे प्लास्टिसाइज़र, इस्टेबिलाइजर तथा दहन गति परिवर्तक आदि भी प्रयोग में लाये जाते हैं जो सुरक्षा, नोदक की दीर्घायु एवं दहन गति में वृद्धि के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होते हैं। इन नोदकों की शक्ति एवं भौतिकबंध एन.सी. एवं एन.जी. पर निर्भर करती है। ये लघु तथा बड़े आकारों में भी बनाये जाते हैं। छोटे आकार के नोदक उप्सारण विधि (एक्सट्रूजन) से बनाये जाते हैं जबकि बड़े आकार वाले नोदकों को ढालन तकनीक (कास्टिंग टेक्निक) से बनाया जाता है। इनकों बनाने के लिए नाइट्रोसेलुलोज, एन.जी. तथा अन्य अवयवों को मिलाकर साँचे में डालकर संसाधित किया जाता है। इसके बाद, इन नोदकों की आन्तरिक या बाहरी सतहों का दहन रोकने के लिए, दहन विरोधी पदार्थ एथिल सेलुलोज, पोलीएस्टर तथा क्लोरोपोलिएस्टर आदि का प्रयोग करके उन सतहों को ढक दिया जाता है। हमारी प्रयोगशाला ने इस क्षेत्र में असाधारण अनुसंधान तथा विकास कार्य किया है। ये नोदक भारतीय आयुध निर्माणी द्वारा बनाये जाते हैं तथा हमारी सेनाओं द्वारा विभिन्न राकेटों में प्रयोग किये जाते हैं। पुणे की विस्फोटक अनुसंधान तथा विकास प्रयोगशाला ने थल सेना के लिए ग्रेड राकेट, वायुसेना के लिए ऐरो राकेट तथा नौसेना के लिए ऐन्टी सबमेरीन राकेट नोदकों का विकास किया है।

द्विआधार नोदकों की तुलना में जिन राकेटों का परास या पेलोड बढ़ाना होता है, संयुक्त नोदकों का प्रयोग किया जाता है। इन नोदकों का विशिष्ट संघात 235-240 सेकेन्ड होता है लेकिन इनके यान्त्रिकीय गुण, द्विआधार नोदकों की तुलना में कम होते है। इनके मुख्य अवयव हैं-ईंधन बंधक-(फ्यूल बाइन्डर), धात्विक ईंधन तथा ऑक्सीकारक। ईंधन बंधक विभिन्न प्रकार के होते हैं जैसे-पोलीएस्टर, पोलीयूरीथीन (पी.यू.) तथा पोलीसल्फ़ाइड आदि।

आधुनिक राकेटों तथा मिसाइलों में एच.टी.पी.बी., सी.टी.पी.बी. तथा दूसरे ब्यूटाडाइन आधारित कोपॉलीमर या टरपॉलीमर आबंधक की तरह प्रयोग में लाये जाते हैं। इन आबंधकों की विशेषता है कि इनमें 85-90% ठोस पदार्थ (धात्विक ईंधन एवं ऑक्सीकारक) प्रयोग में लाये जा सकते हैं तथा फिर भी इनके यान्त्रिकीय गुण अच्छे रहते हैं। अमेरिका, यूरोपीय देशों, जापान तथा भारत में आजकल गैप (जी.ए.पी.) आबंधक पर आधारित संयुक्त नोदक विकसित किये जा रहे हैं, जो दूसरे आबंधकों पर आधारित नोदकों से काफी अच्छे हैं। संयुक्त नोदकों के अन्य मुख्य अवयव हैं अमोनियम परक्लोरेट (ऑक्सीकारक) तथा एल्युमिनियम पावडर (धात्विक ईंधन)। इन नोदकों को उप्सारण (एक्सट्रूजन) तथा ढालन (कास्टिंग) विधियों से बनाया जा सकता है। इन नोदकों में आन्तरिक या बाहरी सतहों के दहन को रोकने के लिए नोवोलेक इपोक्सी रेज़िन या रबर आदि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रयोगशाला में इस

श्य के लिए "फिलामेन्ट वाइन्डिंग तकनीक" तथा "इन्हिबिटर ाव तकनीक" विकसित की गयी हैं जिससे इन्हिबिटेड नोदक समान डाइमेन्सन्स रखते हुए, नोदक का वज़न बढ़ जाता है, सके परिणाम स्वरूप परास या पेलोड बढ़ जाते हैं और राकेट दा वज़न के युद्धशीर्ष (वारहेड) को उसी दूरी तक या उसी न के वारहेड को अधिक दूरी तक ले जा सकता हैं।

इस प्रयोगशाला में विकसित संयुक्त नोदक एस.एस.-45 बी.आर.एस., परास 45 किमी) तथा त्रिशूल मिसाइल में ग में लाये जाते हैं। भारतीय एस.एल.वी-3 में भी संयुक्त कों का प्रयोग किया गया था।

जिन राकेटों तथा मिसाइलों की द्विआधार तथा संयुक्त कों की तुलना में और अधिक शक्ति की आवश्यकता होती वहाँ संयुक्त रूपान्तरित द्विआधार नोदकों को प्रयोग किया ता है। इनका विशिष्ट संघात 260-270 सेकेन्ड होता है। इन कों के मुख्य अवयव हैं—एन.सी., एन.जी., अमोनियम क्लोरेट, एल्युमिनियम पाउडर इत्यादि। जब इन नोदकों के न से उत्पन्न होने वाले धुएँ को कम करना होता है, जिससे नन को मिसाइलों के छोड़े जाने वाले स्थान का पता न चल , तो इनमें नाइट्रामीन जैसे आर.डी.एक्स या एच.एम.एक्स. भी प्रयोग किया जाता है। इन नोदकों को एडवान्स कास्टिंग डर (ए.सी.पी.) या स्लरी कास्टिंग तकनीकों से बनाया जाता ए.सी.पी. विधि में ऑक्सीकारक तथा धात्विक ईंधन को आधारित कास्टिंग पावडर में मिलाया जाता है, जिससे नोदक शक्ति बढ़ जाती है। स्लरी कास्टिंग तकनीक में अधिक त्व वाला एन.सी. प्रयोग में लाते हैं तथा अन्य प्रक्रिया ए.सी.पी. धि की तरह होती है। आजकल सी.एम.डी.बी. नोदकों में, एन.सी. टी.डी.आई. आदि से क्रासलिंक करके भी प्रयोग मे लाते हैं, ससे यान्त्रिकीय गुण में और वृद्धि हो जाती है। इन नोदकों आन्तरिक तथा बाहरी सतहों को दहन से बचाने के लिए विशेष पेलीएस्टर इस प्रयोगशाला में विकसित किये गये हैं। इस प्रकार के नोदक, 'नाग' तथा 'आकाश' जैसी आधुनिक मिसाइलों में प्रयोग में लाये जाते हैं।

आधुनिक मिसाइलों में, जो रैमजेट राकेट के सिद्धांत पर काम करती हैं, फ्यूल रिच नोदक का प्रयोग किया जाता है। इन नोदकों में फ्यूल अधिक तथा ऑक्सीकारक कम होता है। उड़ान के समय फ्यूल का दहन वातावरण से ली गई ऑक्सीजन की सहायता से होता है, जिसके फलस्वरूप इसका विशिस्ट संघात बढ़ जाता है। भारतीय मिसाइल "आकाश" के सस्टेनर फेज में इसी तरह के नोदक का प्रयोग किया गया है।

अधिकतर राकेटों का प्रयोग युद्ध के समय ही किया जाता है जिनका मुख्य काम है युद्धशीर्ष को दूर स्थित निशाने पर ले जाना, जिससे उसके विस्फोटन से दुश्मन को क्षति पहुँचे। लेकिन अब इन्हें शांतिपूर्ण कार्यों तथा देश की समृद्धि के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है जैसे उपग्रहों को राकेटों द्वारा अंतरिक्ष में ले जाना। संचार उपग्रहों को अन्तरिक्ष कक्षा में पहुँचाने के लिए शक्तिशाली बहुपदी राकेटों को एक ही बार प्रयोग में लाया जा सकता है जबकि स्पेस शटलों को कई बार प्रयोग में लाया जाता है, जिससे उपग्रह प्रमोत्वन का मूल्य काफी कम हो जाता है।

भारत ने भी तरह-तरह के उपग्रहों को राकेटों द्वारा विभिन्न उपयोगों के लिए छोड़ा है। भारत ने अपने प्रथम उपग्रह 'आर्यभट्ट' को अंतरिक्ष खोज तथा 'भास्कर' को भू-देख-रेख के लिए छोड़ा था। उसके बाद इन्सेट 1ए, 1-बी तथा 1-सी छोड़े थे उसमें दूर संचार, दूरदर्शन विषयक एवं मौसम विज्ञान सम्बन्धी अनेक लाभकारी प्रावधान किये गये हैं, जो भारत की इन क्षेत्रों में उन्नति के लिए बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

■■■

ज्योतिष और उसका विज्ञान
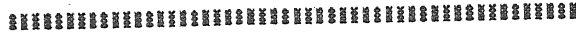
डॉ० बालगोविन्द जायसवाल
94/16, ईदगाह हिल्स, भोपाल (म. प्र.)

ज्योतिष वह विद्या या विज्ञान है, जिसमें सब कुछ वास्तविक है। कल्पना, अटकलबाज़ी तनिक भी नहीं है। इस लेख में, तकनीकी क्लिष्ठता से अलग रहते हुए, सरल शब्दों में ज्योतिष का विज्ञान एवं मानव जीवन में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। ज्योतिष की इमारत निम्नलिखित चार आधारों पर खड़ी है–

1. राशि-चक्र (The Zodiac),
2. ग्रह (Planets),
3. गणित (Mathematical Calculations), और
4. फलित–वे प्रेक्षित नियम जो ग्रहों की चाल को, होने वाली घटनाओं से संबद्ध करते हैं।

"ज्योतिष तंत्र" की तुलना "घड़ी तंत्र" से की जा सकती है। वास्तव में उसे "विश्व की घड़ी" कहना बहुत उपयुक्त होगा। घड़ी में एक गोलाकार पट्ट डायल होता है। इस पर बारह अंक एक दूसरे से बराबर दूरी (30 अंश की) पर अंकित रहते हैं। इसी प्रकार विश्व के खुले आकाश में स्थित स्थिर "राशि चक्र" एक गोलाकार डायल है। इस पर तीस-तीस अंश तक फैले हुए बारह "तारा समूह" या "राशियाँ हैं। भाग्यवश ये प्रत्येक किसी पशु या मनुष्य के आकार से समानता रखती हैं। अतः सुविधा की दृष्टि से इन राशियों का नामकरण उन्हीं आकारों के नाम पर किया गया है। उदाहरणार्थ जिस तारा समूह का आकार "सिंह" सदृश्य है, उसे "सिंह राशि" कहते हैं, जिसका आकार बिच्छू सदृश्य है, उसे "वृश्चिक राशि" तथा जिसका आकार "कन्या" सदृश है उसे "कन्या राशि" कहते हैं। इसी प्रकार अन्य राशियों के भी नाम हैं।

सामान्य घड़ियों में तीन काँटे होते हैं। सबसे मंद घंटे का काँटा, उससे तेज़ मिनिट का और सबसे तेज़ सेकंड का काँटा। इन तीनों के सिरे बारह अंकों पर घूमते रहते हैं। विश्व की घड़ी वास्तव में बहुत बड़े आकार प्रकार के घटना-क्रमों को इंगित करती है। इस हेतु स्वाभाविक है कि उसमें अधिक काँटे हों। उसमें वास्तव में कम से कम सात काँटे हैं। ये काँटें हैं वो सात ग्रह (सौर मंडल के) जो कि विश्व घड़ी के विशाल डायल अर्थात् "राशि चक्र" पर अपनी-अपनी न्यूनाधिक चालों से सतत् घूमते आ रहे हैं। ये हैं–1. सूर्य, 2. चंद्रमा, 3. मंगल, 4. बुद्ध, 5. बृहस्पति, 6. शुक्र और 7. शनि।

इनमें से चंद्रमा सबसे शीघ्रगामी है। वह राशिचक्र की परिक्रमा एक चांद्र मास (27 दिवसों) में ही पूर्ण कर लेता है। किसी भी दिनांक तथा समय (रात्रि) में, पंचांग से चंद्र स्थिति पढ़ कर हम हर राशि के स्वरूप को भी रात्रि में आकाश में देख व समझ सकते हैं। वास्तव में तारों भरी रात में पंचांग की सहायता से राशियों एवं नक्षत्रों के आकार देखना व पहचानना बहुत ही आनन्ददायक है। ज्ञान-वर्धक होने के साथ-साथ सूर्य प्रत्येक मास एक राशि की तथा एक सौर वर्ष (365.25 दिनों) में राशि चक्र (अर्थात् 12 राशियों) की परिक्रमा पूर्ण करता है। सबसे मंदगामी ग्रह शनि है जो राशिचक्र की परिक्रमा में तीस वर्ष लगाता है।

अब एक आधारभूत प्रश्न यह उठता है कि आकाश में घूमते हुए ये ग्रह किस भाँति प्राणियों की रुचियों, स्वभाव व कार्यों पर इतनी दूरी से प्रभाव डालते हैं ? इस संबंध में विभिन्न प्रचलित सिद्धांतों की बारीकियों में जाए बिना इतना कहना ही पर्याप्त है कि हममें से प्रत्येक, दो ग्रहों-सूर्य व चंद्र-के प्रभावों से भली-भांति परिचित हैं। इनका प्रभाव पृथ्वी, उसकी उपज एवं उसके निवासियों की आदतों, स्वभावों, कार्य प्रकारों पर पड़ता है। विषुवत् प्रदेश की फ़सल तथा निवासी यूरोपीय फ़सल तथा निवासियों से एकदम भिन्न होते हैं। इसी तरह अन्य आकाशीय ग्रह भी, विभिन्न राशियों में उनकी स्थिति के अनुसार, मनुष्यों के चरित्र, स्वभाव तथा कार्यों पर एक विशेष प्रकार से प्रभाव डालते हैं। यह तथ्य विभिन्न कालों में असंख्य व्यक्तियों के संबंध में देखा तथा सही पाया गया है। भूतपूर्व विश्वविख्यात अंगरेज़ ज्योतिषी कीरो (Cheiro) ने इस प्रश्न का उत्तर इन

शब्दों में दिया है–"इस काल में सूर्य एक नई राशि में प्रवेश करता है, इसलिए ग्रहों एवं राशियों की विद्युतीय ज्योतियों (Electric Radiation) में अंतर हो जाता है जिस कारण वर्ष के विभिन्न महीनों में पैदा हुए व्यक्तियों के चरित्र, स्वभाव व कर्मों आदि में भी अंतर रहता है।

भारतीय ज्योतिषियों ने दूसरे सभी ग्रहों के प्रभावों को तो ध्यान में रखा ही है, परन्तु चंद्र के प्रभाव को अधिक महत्व दिया है। तर्क यह है कि मनुष्यों के कार्य व पराक्रम उनकी भावनाओं से ही परिचालित होते हैं और चंद्र ही मानव मन या भावनाओं पर सर्वाधिक प्रभाव डालता है। अतः जब चंद्र कोई राशि विशेष से संक्रमण कर रहा है, उस कालावधि में जन्में सभी मानवों के चरित्र, स्वभाव, कर्म, भाग्य आदि में समानता होगी। हाँ, अंतर इस कारण होगा कि चंद्रमा (भले ही उसी राशि में) अलग-अलग समयों में अलग-अलग अंशों पर होगा। इसके अतिरिक्त अन्य छः ग्रहों की स्थितियों में अंतर से भी अंतर पड़ेगा।

संसार में, किसी देश में अथवा व्यक्ति के जीवन में आने वाली विशेष घटनाओं का विवरण व सही समय, ज्योतिष की गहराई व बारीक़ी में जाकर पहले से बतलाया जा सकता है। परन्तु है यह टेढ़ी खीर **कीरो** जैसे वास्तविक विद्वान का ही कार्य। इस संबंध में पुस्तक 'कीरोज वर्ल्ड प्रीडिक्शन' (Cheiro's world Predictions) द्रष्टव्य है।

भारत में प्राचीन काल में भी अनेक प्रसिद्ध ज्योतिषी हो गए हैं। आजकल भी हैं। भारतीय ज्योतिष की चर्मोन्नति सन् 501 ई. से सन् 1000 ईस्वी तक के काल में हो चुकी थी। इसके पश्चात् विदेशी आक्रमाणों तथा विदेशी शासन द्वारा उसका पतन ही हुआ क्योंकि उनके द्वारा उत्तम पुस्तकें नष्ट कर दी गई तथा प्रयोगिक कार्यों की भी सुविधा नहीं रही।

यहाँ भारत के प्रथम प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य **बराह मिहिर** का उल्लेख सर्वथा उपयुक्त है। उन्होंने ज्ञान की इस शाखा को संगठित किया एवं उसमें अपना अमूल्य साहित्य जोड़ा। उनका जन्म सन् 505 ई. में कालपी में हुआ था। ज्योतिष शिक्षा उन्होंने अपने पिता से ही ली थी। फिर वे उज्जैन आकर बस गए थे। वे उज्जैनयिनी के राजा **विक्रमादित्य** की सभा के नव-रत्नों में भी थे। उन्होंने अपनी पुस्तक **पंचसिद्धान्तिका** में पूर्व प्रचलित ज्योतिष के सिद्धान्तों का विवेचन भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने **बृहत्संहिता, बृहज्जापतक, लघुजातक, विवाह पटल, साम यात्रा** व **समाल यात्रा** नामक पुस्तकें भी लिखीं हैं। उनका साहित्य व्यापक, गंभीर एवं तर्कपूर्ण है। उन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है। **बृहज्जातक** उज्जैयिनी में ही लिखी गई थी। भारतीय ज्योतिष साहित्य में कई संहिताएँ उपलब्ध हैं। परन्तु बराह मिहिर की **बृहदसंहिता** अद्वितीय है। **डॉ. केर्न** (Dr. Kern) ने इसकी बहुत प्रशंसा की है।

सच्चाई तो यह है कि आचार्य बराह मिहिर जैसा उत्तम भविष्यवक्ता बाद में काई हुआ ही नहीं। उनकी भविष्य वाणियाँ बहुत गंभीर एवं रहस्यमयी होती थीं। यहाँ मात्र एक घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा। एक बार उनके प्रतिद्वंदी बड़ी संख्या में उनका पीछा इस उद्देश्य से कर रहे थे कि उनका बध कर सबसे बड़े काँटे से मुक्ति पा लें। अतः बराह मिहिर को भागना पड़ा। प्रतिद्वंदियों ने गणित के सहारे उस छोटे से गाँव का पता लगा लिया ज़हाँ बराह मिहिर छिपे थे। उन्होंने उसे घेर लिया। अब वे उस घर विशेष की पहचान के लिए गणना करने लगे जिससे उन्हें पकड़ा जा सके। उधर बराह मिहिर ने उन्हें भ्रमित करने हेतु अपनी बुद्धि दौड़ाई। वह घर में पड़ी बड़ी हाथ-चक्की पर चढ़ कर बैठ गऐ व उसके पाट में अपने चारों ओर पानी भर लिया। प्रतिद्वंदियों की गणित में आया कि वह चारों ओर पानी से घिरा है। अतः उन्होंने नतीजा निकाला कि बराह मिहिर इसी बीच भाग कर पास के द्वीप में चले गये। वे उधर दौड़े। तब बराह मिहिर वास्तव में किसी सुरक्षित स्थानं पहुँच सके। इस प्रकार बराह मिहिर ने ज्योतिष के ज्ञान तथा उसके उपयोग में अपनी उच्चता सिद्ध कर दी।

किसी व्यक्ति का सही भविष्य कहने के लिए उसका सही जन्म समय ज्ञात होना चाहिये। यदि समय ग़लत होगा तो भविष्य कथन ग़लत हो जायेगा। इस विशाल एवं अंतहीन संसार में प्रत्येक व्यक्ति "एक थोड़े समय का मेहमान" है, जिसने संसार में 'जन्म के समय" में प्रवेश किया है। जिस भाँति हम अपने मेहमान की आवभगत, समय के हिसाब से ही करते हैं और नाश्ते के समय आने पर नाश्ता देते हैं, भोजन के समय भोजन देते हैं तथा देर रात आने पर बिना नाम पूछे दरवाज़ा भी नहीं खोलते, ठीक वैसा ही व्यवहार अपने "थोड़े समय के मेहमान"

[शेष पृष्ठ 19 पर]

पार्किंसन बीमारी पर नए शोधों से नई आशा

□ सीमा
डी-707, सरस्वती विहार, दिल्ली-110 034

वास्तव में पार्किसन बीमारी से पीड़ित व्यक्ति चलने, बात करने में असमर्थ तथा अन्य कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर होता है। वैज्ञानिक इस बीमारी के लिए दिन-रात एक किए हैं। नए शोधों से कुछ आशा भी जगी है। हाल ही में न्यू इग्लैड जर्नल ऑव मेडिसिन में छपे तीन शोधपत्र तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन नए शोधों की एक जानकारी। बीमारी से पीड़ित व्यक्ति में नाइग्ता कोशिकाएँ धीरे-धीरे मरने लगती हैं। फलतः पीड़ित व्यक्ति उत्तरोत्तर रूप से मांसपेशियों पर से अपना नियंत्रण खोने लगता है और अन्ततः लकवे का शिकार हो जाता है। अभी तक इस रोग के उपचार के लिए "लेवाडोपा" नामक ओषधि का प्रयोग किया जाता रहा है।

लेवाडोपा डोपेमाइन द्रव के उत्पादन को बढ़ाकर रोग के प्रभावों को दूर करने की कोशिश करती है। लेकिन इस ओषधि के प्रयोग से व्यक्ति "मनोविकृति" से पीड़ित हो जाता है, जो स्वयं पार्किसन रोग जितनी घातक है। इस ओषधि के प्रयोग के बाद भी डोपेमाइन उत्पादक कोशिकाओं का मरना जारी रहता है फलतः कुछ वर्षों में यह ओषधि अनुपयोगी हो जाती है।

लेकिन मृत कोशिका से प्राप्त ऊतकों की मस्तिष्क प्रत्यारोपण विधि पार्किसन प्रकाशित रिर्पोट में 13 मृत कोशिका प्रत्यारोपणों का वर्णन है। तीन अलग-अलग शोध टीमों ने अलग-अलग विधियों का उपयोग कर अलग-अलग मात्रा में सफलता प्राप्त की है। 13 में से 10 रोगियों के इलाज के बाद उनमें सुधार के लक्षण नज़र आये हैं। रोगियों के मस्तिष्क की जाँच से स्पष्ट हुआ है कि इस सुधार का पूरा श्रेय प्रत्यारोपित कोशिकाओं को है।

"येल स्कूल ऑव मेडिसिन" के शोधार्थियों ने चार मरीज़ों का इलाज किया। रोगियों के दिमाग़ के एक भाग में कोशिकाओं को आरोपित किया गया। चार में से एक सबसे कमज़ोर रोगी की कुछ माह बाद मृत्यु हो गयी। शेष तीन रोगियों में व्यापक सुधार नज़र आये। उनको दी जा रही दवाइयों में आठ प्रतिशत कम कर देने के बाद भी सुधार जारी रहे।

कोलेरेडो स्वास्त्य विज्ञान केन्द्र, स्वीडन के लुण्द अस्पताल में कार्यरत शोधार्थियों की टीम ने एक महिला और पुरुष के इलाज में और भी प्रभावशाली परिणाम प्राप्त किये। हेराइन के नशेड़ी इस जोड़े में नशे की सूई लगाने के बाद इस बीमारी के स्थायी लक्षण प्रकट हो गये थे। इन्हें मृत कोशिकाओं से प्राप्त ऊतकों के इंजेक्शन लगाये गये, इसके प्रभावों के फलस्वरूप उनके पूरे जीवन का काया पलट हो गया। 40 वर्षीय **जुनीता लोपेज** शस्य चिकित्सा से पूर्व अपने हाथों खाना नहीं खा सकता था, दो वर्ष बाद उसे दी जा रही दवाइयों में 70 प्रतिशत की कमी कर देने के बाद किसी तरह का कार्य करने में सक्षम है। उसकी मांसपेशियों का कड़ापन धीरे-धीरे कम हो रहा है। कोलम्बिया विश्वविद्यालय के पार्किसन रोग विशेषज्ञ **डॉ. स्तेनली काहन** का कहना है कि पार्किसन रोग क्यों होता है? अभी कोई नहीं जानता। चार से लेकर दस लाख तक अमेरिकी नागरिक इसके अशक्त बना देने वाले प्रभावों से पीड़ित हैं, जबकि पूरी दुनिया में तो करोड़ों व्यक्ति इस लाइलाज बीमारी से ग्रस्त हैं। वास्तव में जब मस्तिष्क अपनी सामान्य अवस्था में कार्य करता है तो एक क्षेत्र विशेष संदेश वाहक रसायनिक द्रव डोपेमाइन छोड़कर अपने सक्रिय होने की बीमारी के मूल पर प्रहार करती है। इसमें इलाज का लक्ष्य मरती काशिकाओं के स्थान पर नयी काशिकाओं से उनका प्रतिस्थापन होता है। चिकित्सकों के पास इसके बेहतर प्रमाण हैं कि यदि वे एक मृतकोशिका से प्राप्त नाइग्ता ऊतकों को एकत्र कर, अनुकूल प्रक्रिया के माध्यम से उन्हें पार्किंसन पीड़ित व्यक्ति के मस्तिष्क में आरोपित कर सकें तो ऊतक शीघ्र ही अपनी जड़ें जमाकर डोपेमाइन का उत्पादन करने लगते हैं।

अनुसंधानों में जानवरों पर किये गये प्रयोग सफल रहे हैं तथा अध्ययन इस बात को भी जाहिर कर रहे हैं कि इससे मनुष्य के ऊपर भी सफलता मिलेगी। इस विश्वविद्यालय डेनवर के कोलोराडो स्वास्थ्य विज्ञान सेवा केन्द्र के चिकित्सकों ने सात मरीज़ों के इलाज में और भी बेहतर उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त करने का दावा किया है। इन सातों मरीज़ों के मस्तिष्क के दोनों भागों में कोशिका प्रत्यारोपण किया गया था। जाँच के दौरान सात में से पाँच मरीज़ों के मस्तिष्क की क्रियाशीलता में उल्लेखनीय सुधार नज़र आये। 64 वर्षीया महिला, जो चलने के दौरान में कई बार लड़खड़ा कर गिर जाती थीं, अब एक आध बार ही उसको इस अनुभव से गुजरना पड़ता है। एक अन्य 54 वर्षीय व्यक्ति, जो न तो ठीक से बोलने और न ही कार चलाने में सक्षम था, अब दोनों कार्य आसानी से करने लगे। ऐसी उपलब्धीयां बीमारी के इलाज खोजने की दिशा में एक बड़ा क़दम है। इस दिशा में दूसरा क़दम, शोधों द्वारा यह निर्धारित करना है कि कोशिका प्रत्यारोपण की कौन-सी विधि सबसे कारगर है। इस तरह के अध्ययनों को सरकार की बिना सहायता के जारी रखना असंभव है। चिकित्सा विज्ञान में नित्य नए शोध हो रहे हैं, नई-नई दवाएं खोजी जा रही हैं, कई असाहय रोगों का इलाज वैज्ञानिकों ने खोज लिया है। उम्मीद करना चाहिए कि शीघ्र ही वैज्ञानिक इस लाइलाज बीमारी को इलाज के दायरे में ला देंगे।

(सम्प्रेषण)

■■■

[पृष्ठ 7 का शेषांश]

अध्ययनों से पता चलता है कि इटली (नीस के मूल निवासी) के **फ्रान्सेस्को पेलोस** ने टूरीन में 1492 ई. में व्यापारिक गणित की एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें संख्या के दसवें भाग के लिए दशमलव बिन्दु का प्रयोग किया गया था। वैसे तो **अलर्वट** ने सन् 1629 ई. में दशमलव बिन्दु का प्रयोग किया था, लेकिन दशमलव पद्धति में बिन्दु-चिह्न सन् 1775 ई. में व्यापक प्रयोग में आ सका।

संख्याओं के आधुनिक गणित में वास्तविक संख्याओं को दो भागों में विभाजित किया गय है– **परिमेय** तथा **अपरिमेय** संख्यायें। दशमलव-पद्धति ने इन संख्याओं की अति स्पष्ट व्यख्या की है। 'टर्मिनेटिंग' तथा 'नान टर्मिनेटिंग-आवर्ती' संख्यायें परिमेय तथा 'नान टर्मिनेटिंग-अनावर्ती' संख्यायें अपरिमेय होती हैं। अपरिमेय संख्याओं में e तथा π दो ऐसी संख्यायें हैं, जिनके दशमलव मान काफी विवादास्पद हैं। गणनाओं का परम सहयोगी 'लघुगणक' का सिद्धान्त दशमलव-पद्धति के ईर्द-गिर्द ही रचा-बुना गया है। लघुगणक और दशमलव की युगलबन्दी का एक मोहक रूप देखिये–

6172=3.7904, 617.2=2.7904, 61.72=1.7904, 6.172=0.7904 आदि।

तो यह रहा दशमलव की यात्रा-कथा की मुख्य धारा का एक तेवर। प्रवाह जब भारत की ओर मुड़ा तो उस समय गणितीय आत्मा की चेतना पुनः अपनी पहचान तलाशने और व्यक्तित्व गढ़ने के लिए सिर उठा रही थी। वह काल गणितीय इतिहास को चालने, पछोरने का काल था। एक ओर कुछ लोग देश की माटी में गणित की अस्मिता खोज रहे थे, दूसरी ओर कुछ लोग अनुवाद और नव लेखन के झुनझुने बजा रहे थे। ऐसे में, सन् 1900 के आस-पास **मोहन लाल, वंशीधर** तथा **कुंज बिहारी** अंग्रेज़ी शब्द 'डेसीमल' का 'दशमलव' अनुवाद करके धन्य हो गये क्योंकि 'लव' का अर्थ 'भाग' तथा 'अंश' होने से दशमलव का अर्थ 'दशमांश' हुआ जो कि अनुवाद की दृष्टि से सार्थक, सरल तथा अंग्रेज़ी शब्द का समध्वनिक है।

■■■

रामबांस : रेशों की जादूगरी से भरा रामबाण

रामबांस बेकार नहीं है, इसका रेशा ही इतने काम का है कि इससे बेहतरीन चीजें बनाई जा सकती हैं

□ *डॉ० राकेश कुमार*
ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12, ओल्ड डबल स्टोरी,
लाजपत नगर–4, नई दिल्ली–110 024

ज़मीन हो पर अनुपजाऊ हो भला उसका क्या फ़ायदा। उसमें रामबांस ही उग जाए तो गनीमत समझिए। रामबांस यूं तो किसी काम की नहीं होती। मुसीबत ही समझी जाती है। पर कुछ ऐसी खूबियां भी हैं इस पौधे में जो थोडें से प्रयास के बाद निखर कर ऐसे रूप में सामने आती हैं कि आप अंदाज़ा नहीं लगा सकते कि अमुक वस्तु रामबांस से बनी है।

बढ़ते हुए वैज्ञानिक युग में अगर किसी के पास ज़मीन हो जो कि किसी भी कार्य में न आती हो, या अन्य शब्दों में बंजर पड़ी हुई हो अथवा कम उपजाऊ हो तथा उससे उसे किसी भी प्रकार की कोई भी आमदनी न होती हो तो ऐसे में निराश होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि रामबांस का पौधा उसे न केवल हरा भरा करेगा वरन् आय भी उपलब्ध
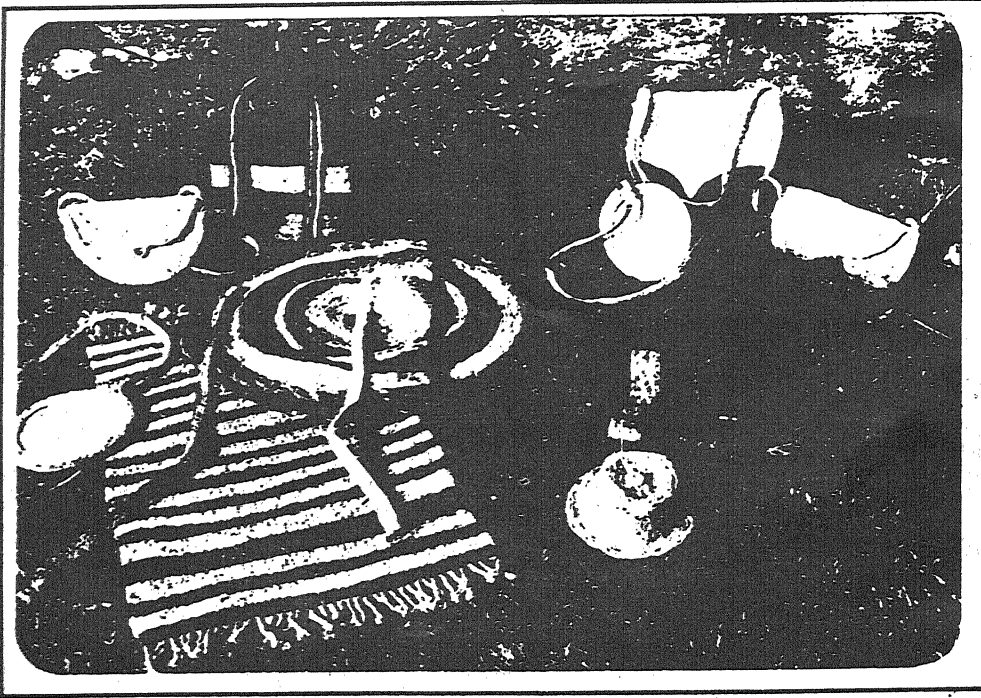
रामबांस से बनी आकर्षक वस्तुएँ

ग़रीबों। रामबांस, कंवड़ा बांसकेवड़ा इत्यादि कई नामों से जाना जाने वाला यह अगावेसी कुल का पौधा एक लाभकारी गृहउद्योग चलाने के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

इस झाड़ी को ऊंचे पहाड़ी इलाकों से लेकर मैदानी क्षेत्रों तक में सहज रूप से उगाया जा सकता है। यों तो यह कंटीला पौधा अक्सर यहां-वहां उगता हुआ देखा जा सकता है। कड़ी, सूखी ज़मीन का यह पौधा मिट्टी को कटने से बचाता है और पर्यावरण संरक्षण का कार्य करता है। एक सुदृढ दुर्ग की भूमिका निभाने के अलावा रामबांस के रेशे से रस्सी तथा टोकरी बुनी जाती है, इसकी लुगदी की उत्तम खाद बनती है, साथ ही इसका प्रयोग कपड़ा धोने के साबुन के रूप में भी होता है। अतः, सारांश में, लाख मर्जो की एक दवा है रामबांस।

रामबांस की पत्तियों से सफ़ेद रंग का रेशा प्राप्त होता है जो कि कई प्रकार की आकर्षक वस्तुओं का निर्माण करने के काम में आता है। रस्सियां, कार्पेट, पायदान, महिलाओं के बैग इत्यादि कई प्रकार की आकर्षक वस्तएं इससे तैयार की जाती हैं, जिनका बाज़ार में अच्छा मूल्य प्राप्त होता है। **हेस्को संस्था** ने तो इसके रेशे से पर्स, बेल्ट वाली जैकेट, टोकरियां इत्यादि बनाकर बाज़ार में उनकी अच्छी कीमत ही हासिल नहीं की बल्कि इसको गृहउद्योग के रूप में विकसित भी किया। रेशे बनाने के लिए रामबांस के पत्तों को या तो हाथ से खरोंचा जाता है अथवा गन्ना पिराने की मशीन या उसी प्रकार की रेशा मशीन में दबाकर खींचा जाता है। आमतौर पर रामबांस के एक पत्ते का वज़न 700 से 900 ग्राम तक होता है और करीब 100 पत्ते 1 से 15 किलो रेशा देते-हैं।

पारंपरिक तौर पर गांव की औरतें 2-3 रामबांस पत्तों को पिचकाकर उन्हें पानी भरी बाल्टी में डुबो देती हैं और उस लुगदी से सर्फ़ की तरह कपड़े धोती हैं। ग़रीबों के लिए यह धुलाई का अच्छा साधन है।

लुगदी निकालने के पश्चात् शेष रामबांस गड्ढे में डालकर ढँक दिया जाता है। यह पदार्थ 15-30 दिन तक सड़कर एक उत्तम खाद प्रदान करता है।

इसके अतिरिक्त यह पौधा भूमि संरक्षण, जंगली जानवरों से फ़सल की रक्षा के लिए बाड़ के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है।

रामबांस को उगाने के लिए न तो अधिक धन की आवश्यकता ही और न ही अधिक श्रम तथा देखभाल की। यह समुद्री तल से 5,000 फुट तक की ऊंचाई तक आसानी से उगाया जा सकता है। 5 से 50 डिग्री तक तापमान व कम वर्षा वाले क्षेत्र में भी लग सकता है। रामबांस लगाने के चार वर्ष पश्चात् से ही इससे रेशा प्राप्त किया जा सकता है। इससे लगभग 7,000 रु. प्रतिवर्ष की शुद्ध आय प्राप्त हो सकती है।

रेशा निकालने के लिए एक मशीन जिसे 'डिकोर्टिकेटर' कहते हैं, काम में लाई जाती है। यह मशीन हाथ से, इंजन से या मिट्टी के तेल या विद्युत् से चलायी जा सकती है। इसका मूल्य इसके रेशा लगने की क्षमता के अनुसार 950 से 18,000 रु. तक है।

रामबांस को लगाने की विधि, इसके अन्य उपयोगों तथा इससे सम्बन्धित अधिक तथा विस्तृत जानकारी के लिए आप 'हेस्को' नाम की स्वयं सेवी संस्था से सम्पर्क कर सकते हैं, जिनका पता है– हिमालयन पर्यावरण अध्ययन एवं संरक्षण संगठन (हेस्को), 'विज्ञान प्रस्थ, ग्राम डवाड़ चौकी, डाकखाना धोलतीर, ज़िला चमोली (गढ़वाल), पिन–246438

(ईईजी फीचर्स)

■■■

विज्ञान समाचार

डॉ० विनोद कुमार ललोरिया
रीडर, वनस्पति विभाग,
सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

(1) दिल्ली देश का सर्वाधिक वायु प्रदूषित नगर

यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि राजधानी दिल्ली देश का सबसे ज़्यादा वायु प्रदूषित नगर है। 'केन्द्रीय प्रदूषण बोर्ड' के नवीनतम् अध्ययन से इस बात की जानकारी मिली कि दिल्ली में वायु प्रदूषण का स्तर पूरे देश में सबसे अधिक है।

वायुप्रदूषण का प्रमुख कारण है वाहनों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या। पेट्रोल और डीज़ल से चलने वाले वाहन भारी मात्रा में ज़हरीली गैसें निकालते हैं। ये ज़हरीली गैसें दिन-रात हवा में मिलती रहती हैं। दिल्ली में प्रतिदिन 871.92 टन प्रदूषक छोड़े जाते हैं। वायु प्रदूषण का दूसरा कारण छोटी-बड़ी औद्योगिक इकाइयों द्वारा छोड़ा गया प्रदूषक तत्व है। दिल्ली में तीन बड़े विद्युत् ताप घर प्रतिदिन लगभग 8 टन प्रदूषक छोड़ते हैं। वैसे इन तीनों बिजली घरों में इलेक्ट्रोस्टेटिक प्रेसीपिटेटर लग जाने के कारण वायु प्रदूषण पर कुछ हद तक काबू पाया जा सका है, अन्यथा यह बीजली घर वातावरण में प्रतिदिन 2,700 टन प्रदूषक छोड़ते थे। राजधानी के 107 स्टोन क्रैशर एवं 22 पोटेरीज़ भी वायु प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं, जिनसे वातावरण में धूल के कणों का प्रदूषण होता है। इसी प्रकार से औद्योगिक इकाइयों से भी बहुत मात्रा में ज़हरीली गैसें निकल कर हवा में प्रदूषण बढ़ा रही हैं।

वायु प्रदूषण से राजधानी की हवा में कार्बन-मोनो-ऑक्साइड की मात्रा काफ़ी बढ़ रही है और यही कारण है कि यहाँ का हर दूसरा आदमी सांसों की बीमारी का शिकार है। हवा में मौजूद सल्फर डाइऑक्साइड की वजह से यहाँ दिल के मरीज़ों की संख्या भी निरन्तर बढ़ रही है। इसी तरह हवा में उपस्थित नाइट्रोजन ऑक्साइड से आँखों की बीमारियाँ हो रही हैं। हानिकारण गैसों के कारण फेफड़े और त्वचा की बीमारियाँ भी बढ़ रही हैं।

वायु प्रदूषण का पौधों पर भी हानिकारक प्रभाव पड़ रहा है। पौधों की पत्तियों पर धूल की परत जमी रहती है, पत्तियाँ असमय मुरझाने लगती हैं, तथा पौधों की वृद्धि अवरुद्ध होने लगी है। फल और सब्ज़ियाँ भी वायु प्रदूषण के कारण दूषित हो रही हैं।

केन्द्रीय प्रदूषण बोर्ड, दिल्ली को प्रदूषण-मुक्त करने के लिए निरन्तर प्रयलशील है, किन्तु सरकारी प्रयासों से ही सारा काम नहीं होगा। सामाजिक और स्वैच्छिक संस्थानों को भी आगे आना होगा। आम जनता को भी इसके प्रति सजग होना होगा तथा प्रदूषण रोकने का हर सम्भव प्रयास करना होगा। प्रदूषण सम्बंधी नियमों का सख़्ती से पालन अति आवश्यक है, अन्यथा वायु प्रदूषण के परिणाम अत्यंत गम्भीर होंगे।

(2) धूमकेतु द्वारा अंतरिक्ष में आतिशबाज़ी

माह जुलाई व अगस्त में अंतरिक्ष में धूमकेतुओं द्वारा अभूतपूर्व प्राकृतिक आतिशबाजी की घटनायें हुईं।

जुलाई माह के मध्य में हमारे सौरमण्डल के सर्वाधिक आकार वाले ग्रह वृहस्पति से शू-मेकर-लेवी-9 नामक धूमकेतु के कुछ टुकड़े टूट कर लगातार पाँच दिन तक टकराते रहे। वृहस्पति ग्रह की उच्च गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण शू-मेकर-लेवी-9 का विखण्डन हुआ और इसका नाभिक अनेक टुकड़ों में टूट गया। वैसे जो इसका प्रभाव वृहस्पति ग्रह पर एक पटाखे से अधिक नहीं था। इस दृश्य का अवलोकन हालाँकि मुख्य रूप से खगोलशास्त्री ही अपनी दूरबीनों के द्वारा कर सके और वे इसके अध्ययन में जुट गये ताकि भविष्य में यदि कोई धूमकेतु का उल्का पिण्ड उससे अलग हो कर पृथ्वी की ओर बढ़े तो उसके परिणाम का आकलन अभी से ही कर लिया जाये।

इसी प्रकार से अगस्त् माह के मध्य में अंतरिक्ष एक बार पुनः उस समय कौतूहल का विषय बन गया जब स्विफ्ट-टटल नामक धूमकेतु के पुच्छल भाग से अलग होने वाली छोटी-छोटी

उल्काओं के पृथ्वी पर गिरने के बीच जल उठने के कारण अंतरिक्ष में पाँच दिन तक आतिशबाज़ी देखी गई। यह 11 अगस्त से शुरू होकर 15 अगस्त तक चली। यह उल्का वृष्टि पृथ्वी के उत्तरीय गोलार्ध से देखी गई। अमेरिका में अनेक स्थानों पर लोगों ने इसका दृश्य देखा। हमारे देश में इसका अवलोकन बादलों के कारण ठीक से नहीं हो सका हालाँकि बेंगलूर तथा कुछ अन्य नगरों में इसे देखा गया।

इस उल्का वृष्टि को परसीड उल्का वृष्टि कहा गया, क्योंकि वैज्ञानिकों के अनुसार अल्कायें परसीड तारामण्डल से निकलती प्रतीत हुयीं। उल्का वृष्टि के दौरान करीब 500 से अधिक उल्कायें पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश कर गईं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यह धूमकेतु स्विफ्ट-टटल सन् 2126 में पृथ्वी के पास से गुजरेगा और कुछ वैज्ञानिकों का तो यहाँ तक कहना है कि यह धूमकेतु उस समय पृथ्वी से टकरा भी सकता है।

नई दिल्ली में स्थित राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला (एन.पी.एल.) के वैज्ञानिक **डॉ. बी.एम. रेड्डी** के अनुसार धूमकेतु में एक मुख्य प्रकाशवान नाभिक होता है, जिसके पीछे सैकड़ों छोटे-बड़े पिण्डों की एक पूंछ सी लगी रहती है। पूंछ के कारण इसे पुच्छल तारा भी कहते हैं और अंग्रेज़ी में यह कामेट कहलाता है। यह सूर्य के प्रकाश की किरणों से टकरा कर चमकता है। जैसे-जैसे यह सूर्य के पास आता है, इसकी चमक में वृद्धि होती जाती है तथा जब यह उससे दूर हो जाता है तो इसकी चमक में कमी होती जाती है। और एक समय आता है जब यह आँखें से ओझल हो जाता है।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के भौतिकी विज्ञान के विख्यात वैज्ञानिक **प्रो. स्टेफेन हॉकिंग** के अनुसार भविष्य में कोई नया धूमकेतु यदि पृथ्वी से टकराया तो पृथ्वी का विनाश भी हो सकता है।

■■■

[पृष्ठ 13 का शेषांश]

के प्रति संसार करता है। विश्वघड़ी अर्थात् ज्योतिष द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि उसके "जीवन काल" का कितना-कितना समय अच्छा व कितना बुरा है। यहाँ 'जन्मकुडली' से ज्ञात होता है, जिसमें जन्म के समय विभिन्न राशियों एवं ग्रहों की स्थिति दी रहती है। यदि समय अशुभ हुआ तो वह प्राणी जीवन भर दुःखी रहेगा। हाँ मेहनत करके वह अपने दुःख कम अवश्य कर सकता है। यदि वह शुभ समय पैदा हुआ है तो (संभव है बिना प्रयत्न के भी) जीवन में सफल रहेगा।

ज्योतिष-विज्ञान आज भी जीवित है तथा भारत एवं पश्चिमी देशों में उसमें आज भी शोध हो रहे हैं। भारत की 'कृष्णमूर्ति पद्धति' से सभी परिचित हैं। पश्चिमी देशों में जर्मनी में हैम्वर्ग नगर की 'केपलर सर्किल' (Kepler Circle) नामक संस्था के प्रधान **ब्रेंडलर प्राट** (Brandler Pracht) तथा उनके साथी **अल्फ्रेड विटे** (Alfred Witte) द्वारा लिखे ज्योतिष के सम्पूर्ण साहित्य "ऐस्ट्रोलॉजिकल लाइब्रेरी" (Astrological Library) का उल्लेख इस संबंध में उपयुक्त है। इसमें प्रस्तुत मुख्य विषय-जन्म कुण्डली-बनाने की सौर-चाप विधि (Solar Are Method of Progression of Horoscope) है। सौर-चाप को उन्होंने वह चाप बतलाया है, जो किसी व्यक्ति के उन्नत सूर्य एवं जन्म-काल के सूर्य के देशान्तरों में बनता है। यह विधि बहुत ही अधिक कार्य क्षमता वाली है तथा त्रिकोणमिति द्वारा मौखिक दिशाओं की गणना की आवश्यकता को समाप्त कर बहुत श्रम एवं समय बचाती है तथा उत्तम परिणाम देती है।

यहाँ एक प्रसिद्ध पश्चात्य गणितज्ञ के कथन– "मानव के सब कार्य गणित तरंगों (Mathematical wave) द्वारा समझाए जा सकते हैं" का उल्लेख उपयुक्त होगा। वास्तव में यह कार्य ज्योतिष करता है। ज्योतिष किसी मनुष्य के विचारों, कार्यों, स्वभाव तथा उसके जीवन की घटनाओं का पहले से ही गणना कर लेता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

आजकल हम लोग राकेटों व स्पुटनिकों की कक्षाओं के पहले से किए गये गणित को सुनते हैं और बाद में देखते हैं कि वह महान शक्तिशाली वस्तुएँ बिल्कुल सही-सही रूप से पूर्व गणना के अनुसार कक्षा में सफलता पूर्वक पहुँच जाती हैं। ज्योतिष विज्ञान का क्षेत्र व्यापक है। इस दिशा में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है।

■■■

पत्रिका समीक्षा
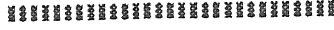
1. पत्रिका— स्वास्थ्य विशेषांक (इस्पात भाषा भारती)
   सम्पादक— शंभूशरण शुक्ल तथा डॉ. गिरीश जी. सिंघल
   प्रकाशक— राजभाषा विभाग, स्टील अथारिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, भिलाई इस्पात संयन्त्र

प्रस्तुत विशेषांक में बच्चे और सिरदर्द, ग्रीष्म ऋतु में स्वास्थ्य सुरक्षा, वर्षा ऋतु में बदलता पर्यावरण और स्वास्थ्य सुरक्षा, आंत्रशोथ में गुर्दे का रोग, बुखार का आना क्या है ? अपने आहार के बारे में इतना तो जानिये, मोटापे से छुटारा, क्षय रोग एवं आप, मधुमेह से घबराइये नहीं, पीलिया रोग, पेप्टिक अल्सर से छुटकारा कैसे पायें, हाइपरटेन्शन अथवा उच्च रक्तचाप तथा हृदय रोगों से कैसे बचें समेत 13 उत्कृष्ट लेखों का संकलन है। सभी लेख सरल तथा रोचक भाषा में लिखे गये हैं। स्थान-स्थान पर आहार, वज़न इत्यादि से सम्बन्धित महत्वपूर्ण तालिकायें भी दी गई हैं। पत्रिका में प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियाँ नाम मात्र की ही हैं। कुल मिलाकर पत्रिका का यह अंक संग्रहणीय है। सम्पादक मण्डल तथा प्रकाशक को साधुवाद।

2. पत्रिका— जिज्ञासा (अद्र्धवार्षिक पत्रिका)
   सम्पादक— प्रो. वंश बहादुर त्रिपाठी
   प्रकाशक— हिन्दी कक्ष, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली, वर्ष 1993, अंक 7

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली के हिन्दी कक्ष से प्रकाशित "जिज्ञासा" पत्रिका का प्रस्तुत अंक आज के विज्ञान युग के भीष्म पितामह स्व. प्रो. दौलत सिंह कोठारी को समर्पित किया गया है। सम्पादकीय सहित सभी लेख पठनीय हैं। विशेष रूप से प्रो. अजित राम वर्मा का लेख—"पारिभाषिक शब्दावली और अंतराष्ट्रीय प्रतीकों का हिन्दी में उपयोग" सभी हिन्दी विज्ञान लेखकों के लिए महत्वपूर्ण है। अन्य लेख, रिपोर्ट तथा लघु वार्तायें सभी उपयोगी हैं। पत्रिका की छपाई आकर्षक है तथा मुख्य पृष्ठ भी अच्छा है। प्रकाशक तथा सम्पादक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

3. पत्रिका— पर्यावरण (त्रैमासिक हिन्दी)
   सम्पादक— डॉ. एम. ए. हक
   प्रकाशक— पर्यावरण एवं वन मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली वर्ष-5, अंक 1 तथा 2, दिसम्बर 1992 एवं मार्च 1993.

भारत सरकार के पर्यावरण एवं वन मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित इस पत्रिका के प्रस्तुत अंक में पर्यावरण से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों, वनस्पतियों, (पौधे तथा वृक्षों), वन्य जीवों, जल-वायु प्रदूषण पर विभिन्न महत्वपूर्ण लेख सरल तथा रोचक भाषा में दिये गये हैं। कुछ कवितायें रोचक होने के साथ प्रेरणादायक तथा पर्यावरण के प्रति जनजेतना जागृत करने वाली हैं। विभिन्न समारोहों की रिपोर्ट भी अन्त में दी गई है। पत्रिका में प्रकाशित सभी लेख उत्कृष्ट कोटि के हैं। इनमें से कुछ लेख सिक्किम के ओषधीय पौधे, कच्छ वनस्पति, प्रमुख कहे जा सकते हैं। सम्पादक मण्डल के सभी सदस्यों को बहुत बहुत साधुवाद।

4. पत्रिका— क्षितिज
   सम्पादक— श्री आर.सी.मिश्र
   प्रकाशक— हिन्दी कक्ष, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, बम्बई, वर्ष 1993, अंक-3

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, बम्बई के हिन्दी कक्ष द्वारा प्रकाशित "क्षितिज" पत्रिका का प्रस्तुत अंक विज्ञान की वाणी हिन्दी विशेषांक के रूप में है। पत्रिका के इस अंक में प्रकाशित सामग्री ज्ञानवर्धक होने के साथ-साथ रोचक भी है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में हिन्दी का महत्व व उपयोग, तकनीकी शब्दावली: विकास के बढ़ते चरण, हिन्दी का सरलीकरण, कार्यालयीन हिन्दी

ी विशिष्टतायें भाषाः एक वैज्ञानिक दृष्टि, अनुवादः साधान है, ाध्य नहीं, देवनागरी लिपिः एक सिंहावलोकन, विज्ञान और ौद्योगिकी पर शोध-पत्रादि लेखन में हिन्दी का प्रयोगः ाभ्यासात्मक पहलू इत्यादि लेख उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। ेखों के अतिरिक्त, गोष्ठी रिपोर्ट, परिचर्चा इत्यादि सामग्री भी इस अंक में दी गई है। कहानी, काव्यांजलि, चिन्तन तथा विचार-बिन्दु के समावेशित होने से पत्रिका साहित्यिक विशेषता भी रखती है। कुल मिलाकर अंक संग्रहणीय है। इस पुनीत कार्य के लिये सम्पादक तथा प्रकाशक को ढेरों बधाई।

. पत्रिका– साइंस जागृति– (हिन्दी मासिक)
सम्पादक एवं प्रकाशक– श्री मती सविता राज, 43 गाजाबाली, मुजफ्फरनगर (उप्र)
वर्ष 1, अंक 2, अगस्त 1993, मूल्यः 5 रूपये

हिन्दी माध्यम से विज्ञान के लोकप्रियकरण की दिशा में साइंस जागृति' एक नया प्रयास है। प्रस्तुत अंक में विभिन्न वैज्ञानिक लेखों के अतिरिक्त भारतीय अन्तरिक्ष कार्यक्रम के जनक डॉ. साराभाई का जीवन वृत्त भी दिया गया है। कुछ प्राचीन तथा नवीन जानकारियों से युक्त छोटे-छोटे लेख भी प्रकाशित किये गये हैं। तीन छोटी-छोटी बाल कवितायें भी दी गयी हैं, जिससे पत्रिका बालोयोगी भी हो गयी है। पत्रिका में लेख सरल भाषा में होने के कारण सभी लोगों के लिये उपयोगी हैं। कुछ लेख जैसे उपासना के वैज्ञानिक पहलू अन्धविश्वास दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। कुल मिलाकर पत्रिका की चिरंजीवी होने की कामना के साथ-साथ सम्पादिका को इस पुनीत कार्य के लिये बहुत-बहुत बधाई।

6. पत्रिका– पर्यावरण
सम्पादक– श्री राधेश्याम शर्मा
प्रकाशक– राष्ट्रीय पर्यावरण अभियान्त्रिकी अनुसंधान संस्थान, नागपुर, वर्ष 2, अंक 2, सितम्बर 1993

राष्ट्रीय पर्यावरण अभियान्त्रिकी अनुसंधान संस्थान, नागपुर द्वारा प्रकाशित "पर्यावरण पत्रिका" का प्रस्तुत अंक 'पर्यावरण आडिट विशेषांक" है। इसमें सतत विकास हेतु पर्यावरण आडिट पर बल देते हुये पर्यावरण और तकनीकी शिक्षा, निर्धनता एवं पर्यावरण का दुष्चक्र तथा पर्यावरण संरक्षण में 'नीरी' का योगदान-शीर्षक युक्त लेखों में अन्य बिन्दुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। पत्रिका बेहद लोकप्रिय है। इस सरकारी प्रयास के लिये 'नीरी' के निदेशक, वैज्ञानिक तथा अन्य कार्यकर्ता-सभी बधाई के पात्र हैं।

7. पुस्तक– जंगल के साथी
लेखक– डॉ. रमेश दत्त शर्मा
प्रकाशक– पारस प्रकाशन, 21 दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण– अगस्त 1990, मूल्यः 12 रूपये

'जंगल के साथी' नाम से लिखित इस कथा-पुस्तक में बड़ी ही रोचक शैली में लेखक ने सृष्टि के सभी जीवों के आपसी तालमेल तथा सहयोग से बड़ी से बड़ी मुश्किल का आसानी से हल निकालने की बात कही है। वास्तव में प्रत्येक जीवधारी एक दूसरे पर निर्भर हैं। यहाँ तक कि पेड़-पौधे भी हमारे प्रति संवेदनशील होते हैं और परेशानी के क्षणों में वे अपना पूरा सहयोग करने का न केवल वायदा करते हैं अपितु निभाते भी हैं। प्रस्तुत कथा में दुलारी बुढ़िया की चोरी की समस्या का निराकरण बेल, मछली, केकड़ा, नागफनी, गोबर, कौआ तथा बाघ सभी ने मिलकर किया। पुस्तक की भाषा-शैली रोचक, सरल तथा बोधगम्य है। पुस्तक बच्चों तथा प्रौढ़ों, दोनों के लिये उपयोगी है। लेखक तथा प्रकाशक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

□ *डॉ० दिनेशमणि*
सहायक संपादक

'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद– 211002

क्यों लौटता है बार-बार मलेरिया?
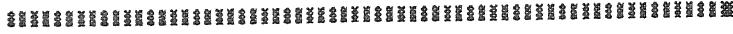
□ *विजय जी*
लेखक-पत्रकार,
घूरपुर, इलाहाबाद- 211003

इस वर्ष गुजरात में फैले **प्लेग** की विश्वव्यापी चर्चा हुई। प्लेग का आतंक इतना ज़बरदस्त था कि पूरा सूरत शहर ही खाली हो गया। यही नहीं, सूरत से जो जोग देश के अन्य हिस्सों में गये वहां भी आतंक की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अनेक विदेशी सरकारों ने तो भारत से सम्बन्धित हवाई उड़ानों को ही स्थगित कर दिया। सूरत में फैले उक्त बहुचर्चित प्लेग में मरने वालों की संख्या 50 से अधिक नहीं थी। लगभग उन्हीं दिनों राजस्थान के कुछ ज़िलों में चुपके-चुपके प्रकट हुये **मलेरिया** ने अब तक कई सौ लोगों को मौत की नींद सुला दिया है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि इस घटना पर विश्वव्यापी कौन कहे, राष्ट्र व्यापी चर्चा तक न हो सकी।

विज्ञान ने बड़ी-बड़ी महामारियों पर विजय पाई है। **चेचक** का सारी दुनिया से नामोनिशान मिट गया है। प्लेग भी दशकों बाद प्रकट हुआ, जिसे आसानी से काबू में कर लिया गया। लेकिन मलेरिया है कि बार-बार मर कर भी जी उठता है। आ़खिर ऐसा क्यों है।

'मलेरिया' शब्द इटैलियन के Mala (गन्दी) + aria (हवा) से मिलकर बना है। इसका अर्थ यह हुआ कि मलेरिया दलदली और नम स्थानों की 'गन्दी हवा' से होता है। यही धारणा 19 वीं सदी तक मानी जाती रही। अल्जीरिया में कार्यरत एक फ्रेंच वैज्ञानिक **अलफांसों लेवर्सन** ने सबसे पहले बताया कि मलेरिया का कारण **प्लाज़्मोडियम** नामक एककोशिकीय परजीवी है। लेकिन उस समय तक यह ज्ञात नहीं था कि इसको फैलाने का काम मच्छर करता है। यह जानकारी सबसे पहले **लासिन्सी** नामक वैज्ञानिक ने दी। मादा **एनाफेलीज़** मच्छर ही मलेरिया के रोगाणुओं का वाहक है, यह जानकारी सबसे पहले भारतीय सेना के **डॉ० रोनाल्ड रॉस** ने 1898 में दी। इसी अनुसंधान पर उन्हें 1902 में 'नोबेल पुरस्कार' भी मिला।

मनुष्य में **प्लाज़्मोडियम** की चार जातियाँ पाई जाती हैं- **1. प्लाज़्मोडियमम (पी) वाइवैक्स, 2. पी. फैल्सीपेरम, 3. पी. मलैरी** और **4. पी. ओवेल**। इनमें सबसे घातक मलेरिया **प्लाज़्मोडियम फैल्सीपेरम** द्वारा फैलता है। यह मलेरिया प्रमस्तिष्कीय मलेरिया (सेरीब्रल मलेरिया) कहलाता है। इसका असर मस्तिष्क पर पड़ता है। पीड़ित व्यक्ति को कंपकंपी के साथ बुखार आता है, कमज़ोरी लगती है और कुछ समय बाद मरीज़ बेहोश होने लगता है। बीकानेर और राजस्थान के अन्य ज़िलों में फैले इस मलेरिया में बेहोशी की हालत में ही चार-पाँच दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

प्लाज़्मोडियम का जीवन-चक्र काफी जटिल होता है। इसका कुछ भाग मनुष्य में तथा कुछ भाग मादा **एनाफेलीज** के शरीर में पूरा होता है। मनुष्य **प्लाज़्मोडियम** का प्राथमिक पोषक तथा मादा **एनाफेलीज़** द्वितीयक पोषक होता है। मनुष्य में **प्लाज़्मोडियम** का अलैंगिक जनन तथा मच्छर में लैंगिक जनन तथा बीजाणु-जनन होता है।

मच्छरों के विनाश के लिये सारी दुनियाभर में युद्ध स्तर पर अनेक प्रयास हुए। इसके विनाश के लिये मनुष्य के हाथ में सबसे बड़ा हथियार **डी.डी.टी.** नामक कीटनाशी था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सारी दुनिया में इस कीटनाशी का बहुत जम कर उपयोग किया गया। शुरू में कुछ सफलता भी मिली लेकिन बाद में सब कुछ वैसा का वैसा हो गया। जाँच के बाद पाया गया कि मच्छरों के शरीर में डी.डी.टी. के खिलाफ प्रतिरोधी क्षमता विकसित हो गयी, जिससे मच्छरों की अगली पीढ़ियों पर डी.डी.टी. प्रभावहीन हो गयी।

यही हाल **क्लोरोक्वीन** का हुआ। इस दवा की खोज के बाद लगा कि इससे सारी दुनिया से मलेरिया को खत्म कर दिया जायेगा। इस दवा से मलेरिया को किसी सीमा तक रोक भी दिया गया, लेकिन समाप्त नहीं किया जा सका। भारत में 1953 में 'राष्ट्रीय मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम' शुरू हुआ। जब यह कार्यक्रम

ुरू हुआ उस समय देश में प्रतिवर्ष मलेरिया पीड़ितों की संख्या ..5 करोड़ वार्षिक थी, जो 1965 आते-आते घटकर 1 लाख आ ायी। उसके पश्चात् एक बार पुनः मलेरिया ने सिर उठाना शुरू कया और 1978 आते-आते एक बार फिर मलेरिया रोगियों की ंख्या प्रतिवर्ष 65 लाख तक पहुँच गयी।

दरअसल अब **प्लाज़मोडियम** भी क्लोरोक्वीन के विरूद्ध तिरोधी क्षमता विकसित करता जा रहा है। यह तो प्रकृति का नयम है कि जीवों में विपरीत परिस्थितियों में अपने को जीवित खने के लिये कुछ क्षमताएँ विकसित हो जाती हैं। भारत में तो हीं, लेकिन कई अन्य देशों में क्लोरोक्वीन व अन्य मलेरिया ी दवाओं के विरूद्ध **प्लाज़मोडियम** में क्षमता विकसित होती खी गयी है। एक ज़माने में कम्बोडिया की सिंहानुक सरकार ने लोरोक्वीन को नमक में मिलाकर बाज़ार में बिकवाना शुरू कर दया था। लेकिन दशकों बाद देखा गया कि क्लोरोक्वीन, **लाज़मोडियम** पर पहले जैसी कारगर नहीं रह गयी। भारत में भी लोरोक्वीन अब पहले जैसी प्रभावी नहीं रह गयी है। **लाज़मोडियम** की अनेक किस्मों पर अब यह बेअसर हो गयी ।

सत्तर के दशक में मलेरिया के इलाज़ के लिये **ल्फाडाक्सिन पाइरीमेलामाइन** ईज़ाद की गयी। लेकिन जल्द ी यह दवा भी कम असरकारक हो गयी। अस्सी के दशक में **फलोक्वीन हाइड्रोक्लोराइड** और फिर **हालोफेंट्राइन** ईज़ाद की यीं। लेकिन कुछ समय बाद सभी का यही हस्र हुआ। आजकल सके लिये **क्लोरोक्वीन और टेट्रासाइक्लिन का मिश्रण** इस्तेमाल ऱ्या जाता है, जो मलेरिया के 90 प्रतिशत मामलों में ही कारगर ोता है।

राजस्थान में पिछले दिनों जो सेरीब्रल **प्रमस्तिष्कीय** लेरिया फैला, उसने सरकार के सामने कई जटिल समस्याएँ ड़ी कर दीं। सेरीब्रल मलेरिया में क्लोरोक्वीन कारगर नहीं ोती! इसके लिये मेफलोक्वीन दवा ही कारगर पाई गयी । लेकिन यह दवा हमारे देश में प्रतिबन्धित है। इसके दो ारण हैं–पहला तो यह कि भारत सरकार के राष्ट्रीय संचारी ग संस्थान ने वर्षों पूर्व सरकार को सलाह दी की कि मेफ्लोक्वीन वल सेरीब्रल मलेरिया के लिये ही कारगर होता है। लेकिन स्थान ने दावा किया था कि देश में सेरीब्रल मलेरिया का स्तित्व ही नहीं है।

चूँकि मैफ्लोक्वीन अन्य किस्म के मलेरिया में उपयोग पर घातक असर दिखा सकती है इसलिये इसके आयात को प्रतिबन्धित कर दिया गया। अब जब यह सिद्ध हो गया है कि राजस्थान का मलेरिया सेरीब्रल ही है, संस्थान का दावा झूठा साबित हो गया है। राजस्थान में हज़ारों की संख्या में जो मलेरिया के रोगी हैं, उसका कारण यही है कि देश में उक्त मलेरिया की कारगर दवा मैफ्लोक्वीन उपलब्ध ही नहीं थी। मैफ्लोक्वीन से प्रतिबन्ध हटाने को लेकर सरकार पशोपेश में है, क्योंकि खुले बाज़ार में इस दवा को भेजने का मतलब है, इसका दुरुपयोग। और बिना सेरीब्रल मलेरिया के इसका उपयोग घातक हो सकता है।

सेरीब्रल मलेरिया की रोकथाम के लिये भारत और चीन के वैज्ञानिक **आर्टिमीसिया एनुआ** नामक पौधे से दवा विकसित कर रहे हैं। इस पौधे को चीन में 'किन हाओ' के नाम से पुकारा जाता है। यह चीन का ओषधीय पौधा है, जिसकी उपयोगिता के विषय में चीनी हज़ारों साल पहले से ही परिचित हैं। चीन में मलेरिया का पारंपरिक इलाज भी इसी पौधे से होता रहा है। चीन के वैज्ञानिकों ने 1960 के दशक में इस पौधे का वैज्ञानिक अध्ययन शुरू किया।

चीनी अनुसंधानकर्ताओं ने 1972 में इस पौधे से **किन्हाओसु** नामक पदार्थ अलग किया है जो मलेरिया में असरकारक पाई गयी है। 'आस्ट्रेलियन साइंस एण्ड टेक्नॉलोजी न्यूज़लेटर' के अनुसार **डॉ. हेन्स और डॉ. वाल विलर ने किन्हाओसु** नामक पथार्थ के उत्पादन क्रम को छोटा और आसान बनाने में सफलता प्राप्त की है। चीनी मूल का यह पौधा भारत में भी लाया गया है। लखनऊ स्थित 'केन्द्रीय सगंध पौध संस्थान' (सीमैप) के फार्म में ये पौधे बड़ी संख्या में तैयार किये जा रहे हैं। 'सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टीट्यूट' (सी डी आर आई) ने इस पौधे से **आर्टियर** नामक महत्वपूर्ण ओषधि बनाई है। मलेरिया रोधी इस ओषधि पर परीक्षण जारी हैं। इसी तरह 'वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्' की प्रयोगशाला में **बैसिलस स्फैरिकर्स** नामक जीवणु से एक खास किस्म का बायोसाइड बनाया है, जो मच्छरों के लार्वों को नष्ट करने के लिये उपयोगी पाया गया है।

जहाँ भी मच्छर होंगे वहाँ मलेरिया फैलने से कोई रोक नहीं सकता। स्थिति यह है कि तथाकथित आधुनिक विकास के

कारण जहाँ मच्छर नहीं होते थे, अब वहाँ भी मच्छर होने लगे हैं फलतः मलेरिया भी वहाँ पहुँच गया है। कुछ दशक पूर्व तक राजस्थान में मलेरिया की कोई कल्पना तक नहीं करता था, क्योंकि रेगिस्तान और मच्छर का कोई सम्बन्ध ही नहीं था। मच्छर को तो फलने-फूलने के लिये यत्र-तत्र खुले गड्ढों में पानी चाहिये। लेकिन इंदिरा गाँधी नहर सिंचाई निर्माण ने अब वहाँ भी ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी हैं। जिन इलाकों में पिछले दिनों मलेरिया से मौतें हुयीं वहाँ नहर का निर्माण कार्य चल रहा है। वहाँ गड्ढों में पानी भरे होने के कारण मच्छरों की तादात बढ़ी और मलेरिया फैला।

मलेरिया उन्मूलन का सबसे आसान फार्मूला आज भी वही है 'न मच्छर रहेंगे, न मलेरिया रहेगा'। अर्थात् ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी जायें कि मच्छरों का विकास न हो सके। इसके कई आसान तरीके हैं। खुले गड्ढों में पानी का भरा होना मलेरिया की वंश-वृद्धि का सबसे अच्छा साधन होता है। मलेरिया उन्मूलन के लिये इन्हें पाटना आवश्यक होगा।

कुछ जलजन्तु और मछलियाँ मच्छरों के लार्वों को च[illegible] से खाकर नष्ट कर देती हैं अतः जल में इनकी उपस्थिति मच्छर उन्मूलन के लिये जरूरी है। एक समय में मलेरिया से भयंकर रूप से आक्रान्त देश चीन ने कुछ ऐसे ही सामान्य तराकों का इस्तेमाल करके मलेरिया पर काबू पाने का सफल प्रयास किया है। मलेरिया-नियंत्रण के लिये दवाओं से भी अधिक ऐसे ही साधनों पर जोर देना चाहिए।

■■■

हमारा क्या? हम तो 'बायोमास' हैं

□ डॉ० दिनेश मणि
सहायक सम्पादक, 'विज्ञान'

हमारा क्या ? हम तो 'बायोमास' हैं
फिर क्यों होते उदास हैं ?
हम उगाये ही इसीलिये गये कि
हम उगें, बढ़ें और फिर काटकर
मिट्टी में दफ़ना दिये जायें
ताकि मिट्टी में मिलकर
केंचुओं, जीवाणुओं, कवकों आदि का
आहार बनकर
रासायनिक क्रियाओं की क्रियाशीलता बढ़ायें।
हर तरह से मिट्टी की उर्वरता बढ़ायें।
यही हमारा पुनीत कर्म है,
विच्छेदित होना ही हमारा धर्म है।
वास्तव में हम सब कार्बनिक पदार्थ ही हैं,
आप माने या न मानें यही यथार्थ भी है।

तुमने नहीं सुना ?
इस समय कार्बनिक पदार्थों का अभाव है,
साथ ही, रासायनिक उर्वरकों का
प्रतिदिन बढ़ता भाव है,
और प्रदूषण इसका दुष्प्रभाव है।
संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि
मिट्टी की उर्वरता ख़तरे में है,
तो क्यों न हम अपना राष्ट्रधर्म निभायें।
हम, यानी 'बायोमास' मिट्टी की उर्वरता
को नष्ट होने से बचायें।
बढ़ते मुँह घटते भोजन के अन्तर को घटायें।
हमारा क्या हम तो 'बायोमास' हैं
हमारे हिस्से में है दुख मीट्रिक टनों में
और सुख का अंश शून्य प्रति दस लक्षांश है।

■■■

दिसम्बर 94—जनवरी 1995

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहें तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्नस्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पात्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी वेद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० डी० डी० नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	शाकुन्तल मुद्रणालय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री	सहायक सम्पादक	34, बलरामपुर हाउस	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद्, प्रयाग	डॉ. दिनेशमणि	इलाहाबाद–211002	इलाहाबाद- 211002